स्वातन्त्र्योत्तर

हिन्दी-उपन्यास साहित्य

की

समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि

स्वातन्त्र्योत्तर
हिन्दी-उपन्यास साहित्य की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि

(राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखिका
डा० स्वर्णलता
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
लालबहादुर शास्त्री कॉलेज, जयपुर

विवेक पब्लिशिंग हाऊस
जयपुर-३

प्रकाशक :
नरेन्द्र कुमार बाहरी
विवेक पब्लिशिंग हाऊस,
लालजी सांड का रास्ता,
जयपुर ।

मूल्य 37=50

□

संस्करण 197

□

मुद्रक :
राजेन्द्र कुमार बाहरी
राजधानी प्रिन्टर्स,
जयपुर ।

दिवंगत माँ को

जो मनोजगत पर सदैव

मरु प्रदीप सी ज्योतिर्मान रही।

विषयानुक्रमणिका

□□□

दो शब्द

भारत के इतिहास मे सन् १६४७ का अभूतपूर्व स्थान है । इसी वर्ष भारतवासी विदेशियो की दासता से मुक्त हुए, उन्होंने स्वतत्रता की सास ली और देश को यह अवसर मिला कि स्वय अपने हितों को ध्यान मे रख कर अपनी भावी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करें । अतएव स्वभाविक था कि शताब्दियो से दबे हुए उसके आक्रोश और कुंठायें मुक्त वातावरण मे अभि-व्यक्त हो । राजनीति और धर्म की समस्याओं का उत्तरदायित्व राजनीतिज्ञों और धार्मिक नेताओ के सिर पर था ही परन्तु साहित्य-कार भी अपने उत्तरदायित्व से बच नही पाया, बच भी नही सकता था ।

यह अवश्य दुर्भाग्य की बात थी कि भारत और पाकिस्तान के विभाजन के कारण अनक कटुताओ का जन्म हुआ और कुछ ऐसे जख्म पैदा हो गए जो अभी तक भी पूरी तरह से भरे नही हैं । जिन भावुक कलाकारो ने तत्कालीन असुविधाओ और जीवन तत्त्वों के परिवर्तन अपनी आंखा से देखे या सुने उनके ऊपर समस्त वातावरण का प्रभाव स्वभाविक ही था ।

सभी परिस्थितियों का प्रभाव साहित्यिक अभिव्यक्ति पर पड़ा । नई कविता ने जन्म लिया । उपन्यास और कहानियो मे भी नये बोध का समावेश हुआ । पुरातन मान्यताओं को जीर्ण शीर्ण मानकर नये मूल्याकना का दौर चला । व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और परिवार सभी की व्यवस्था और सम्बन्धों म एक विद्रोहात्मक आंधी आई । इसके कारणों मे कुछ विदेशी और कुछ देशी मनोवैज्ञानिक अनुसधानों का हाथ था ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में लेखिका ने समाजशास्त्र की मान्यनाओं के आधार पर उपन्यासो मे चित्रित स्त्री पुरुष पात्रों के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन प्रस्तुत किया है । इस अध्ययन मे गहराई है क्योंकि लेखिका ने विधिवत समाज शास्त्र का पठन-पाठन किया है । इसीलिए वह शोध प्रबन्ध के विषय पर अधिकार से लिख सकी हैं । उनकी मान्यताओं और परिणामों से कोई कहां तक सहमत है, यह तो पाठक की अपनी बात है ।

मैं तो इतना ही कहूंगा कि लेखिका का प्रयास श्लाघनीय है, उनके तर्क में बल है और उनकी भावो मे धारावाहिकता है । निस्सदेह इस कृति से जिज्ञासुओ की तृप्ति होगी और आगे के लिए प्रेरणा मिलेगी ।

सोमनाथ गुप्त

भूतपूर्व, "

प्राक्कथन

उपन्यास हिन्दी गद्य साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है, जिसमें जीवन की यथार्थता का समग्र चित्रण पाया जाता है। मानव के सम्पूर्ण सामाजिक परिवेष एवं समस्त सामाजिक परिस्थितियों को उपन्यास के चित्र-फलक पर अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

हिन्दी उपन्यासों का आविर्भाव अन्य देशों की अपेक्षा विलम्ब से हुआ। प्रारम्भ में मनोरंजनार्थ उपन्यास लिखे जाते थे, परन्तु धीरे-धीरे विकास के सोपान पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए जीवन की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं को लेकर आगे बढ़े। भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद, बंगला के माध्यम से, अंग्रेजी साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव पड़ा और भारतवासी पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आये, उनमें नवीन चेतना के उद्रेक ने जीवन को कई आयाम दिये।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में १९४७ के बाद लिखे गये उपन्यासों की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया गया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् जीवन मूल्यों में तीव्र गति से परिवर्तन हुआ है। परम्परागत विचारधाराओं में अभूतपूर्व परिवर्तन परिलक्षित होने लगा है। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन ने देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों को प्रभावित किया है, जिन्हें हम प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों में तथा प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में व्यापक रूप में देखते हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक परिस्थितियों पर विविध रूप से चिन्तन ने उपन्यासकार की दृष्टि को नये आयाम दिये। उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा, नई परिस्थितियों की नई उद्भावना से परम्परागत रूपों में परिवर्तन आये, किसी भी समस्या को समाजशास्त्रीय पीठिका पर जानने का प्रयास किया जाने लगा।

उपन्यास की किसी भी सामाजिक समस्या की धुरी, समाज ही है, फलतः उसका समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण अपेक्षित है; परन्तु इस तरह का अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नहीं हुआ, जिसमें परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों की — सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियों का समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण हो। डा० चण्डीप्रसाद जोशी का 'हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन' अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु उसकी पृष्ठभूमि में समाजशास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा राजनीतिक आधार ही अधिक परिलक्षित होता है। समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर उपन्यास का विश्लेषण प्रस्तुत प्रबन्ध का मूल उद्देश्य है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में समाज और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की भिन्नता की विवेचना है। समाज का अर्थ साधारण प्राणी की दृष्टि में तथा समाजशास्त्र के विद्यार्थी की दृष्टि में क्या है उसका विवेचन है।

स्वतन्त्रतापूर्व उपन्यास का दृष्टिकोण मनोरंजन तथा हास्य-विनोद था। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल आदि लेखकों के उपन्यास मनोरंजनार्थ तथा कौतूहल की चरम सीमा की अभिव्यक्ति हेतु लिखे गये। तदुपरान्त परम्परागत रूढ़िवादी विचारधारा तथा प्राचीन मर्यादाओं और आदर्शों को ही महत्व दिया जाता था, मानव मन की ग्रन्थियों को सुलझाने का आग्रह इनमें परिलक्षित नहीं होता।

प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों में सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया। नारी-सुधार की भावना इन उपन्यासों का मूल लक्ष्य था। प्रगतिशील होते हुए भी तदयुगीन उपन्यासकार मर्यादाओं के घेरे से आबद्ध थे, परन्तु आधुनिक उपन्यासकारों को परम्पराओं का मोह अधिक नहीं बाँधे हुए है।

दूसरे अध्याय में स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन का वर्णन है। परिवर्तित परिस्थितियों ने संयुक्त परिवार की जड़ें हिला दी हैं। शिक्षा के प्रभाव तथा व्यक्तिवादी विचारधारा के प्राबल्य ने परिवार की प्राथमिक संस्था को किस सीमा तक प्रभावित किया है तथा परिवर्तित मान-मूल्यों में परिवार की स्थिति का अध्ययन है।

तृतीय अध्याय में सामाजिक परिवर्तन की विवेचना है तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव स्वरूप सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति में सामाजिक पर्यावरण और अन्तः क्रियाओं द्वारा नव-चेतना तथा जीवनयापन के बंधनहीन स्वरूपों का अंकन है तथा ग्रामीण जीवन पर नगरीकरण के प्रभावस्वरूप आपसी सम्बन्धों की नवीन अवधारणाओं की विवेचना है।

चौथे अध्याय में यंत्रयुग का जन-मानस पर प्रभाव चित्रित है जिसमें परम्परामुक्त जीवन को निरूपित किया गया है। स्वावलम्बन की चेतना ने संकीर्ण जातीयता के घेरे से ऊपर उठ कर सोचने की प्रेरणा दी है। यंत्र-युग से खान-पान, छुआ-छूत की भावना में भी परिवर्तन आया।

पाँचवें अध्याय में नर-नारी के आपसी सम्बन्धों का वर्णन है, जिन्हें युगीन उपन्यासकारों ने पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर चित्रित किया है। नारी के परम्परागत रूपों— माँ, पत्नी, बहिन, प्रेमिका आदि — में आये युगीन सन्दर्भ में परिवर्तन की अभिव्यक्ति है, जिसमें उपन्यासकार नारी की केवल पतिपरायणा पत्नी और पुत्रवत्सला माँ में ही उसके जीवन की सार्थकता नहीं समझते, वे उसके स्व की रक्षा के प्रति भी अनुभूतिशील हैं, व्यक्ति बनाम समाज के काल्पनिक लोक में ही उसे नहीं खो जाने देते वरन् उसके व्यक्तित्व के विषय में भी सोचते हैं। आधुनिक उपन्यासों में यौन सम्बन्ध, वैवाहिक सम्बन्ध, तलाक तथा पुनर्विवाह आदि विविध रूपों के प्रति बदलते दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं।

छठे अध्याय में मूल प्रवृत्तियों पर सामाजिक नियन्त्रण की बहुविध प्रतिक्रिया का उल्लेख है। मूल प्रवृत्तियों के दमन से उत्पन्न असहजता तथा संघर्षशील अस्तित्व

की उद्‌भावना का चित्रण है। मूल प्रवृत्तियों का व्यक्तित्व के संस्कृतिकरण में महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

सातवें अध्याय में सामाजिक विघटन के कारण अपराधों की विवेचना है, जिसमें अपराध, बाल-अपराध, बेकारी, निर्धनता, द्वंद्व-व्यक्तित्व तथा कुंठाओं का अंकन है, जिनके कारण नर-नारी सम्बन्धों में विविधता पाई जाती है।

आठवें अध्याय में राष्ट्रीयता की भावना से सामाजिक आन्दोलन, स्वाधीनता प्राप्ति के लिये उग्र प्रयास, गांधीवाद, व्यष्टि से समष्टि की ओर तथा मानव परिवार की अवधारणा का अनुशीलन है।

उपसंहार में समाजशास्त्रीय पीठिका के आधार पर उपन्यासों के आविर्भाव से आज तक के रचित उपन्यासों का सिंहावलोकन है। उपन्यासों का समाजशास्त्रीय आधार पर विश्लेषण तथा विवेचन है।

इस शोध-प्रबन्ध में डा० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा का निर्देशन तथा पथ-प्रदर्शन विशेष रूप से सहायक रहा है। शर्माजी तथा डा० सोमनाथ जी के सुझाव तथा प्रेरणा के लिये आभारी हूँ। पुस्तक के प्रकाशन में श्री नरेन्द्रजी के श्रम के लिये आभारी हूँ ग्रंथ की त्रुटियाँ मेरी अल्पज्ञता का ही परिणाम हो सकती हैं।

मेरे इस कार्य के पूर्ण होने में जिन सहयोगियों तथा शुभचिन्तकों का सहयोग रहा है, मैं उन सबकी हृदय से आभारी हूँ।

स्वर्णलता

अध्याय १

हिन्दी उपन्यास साहित्य के दो दशक

उपन्यास समाज की प्रतिच्छाया है, प्रतिरूप है, जिसमे मानव जीवन का विशुद्ध चित्रण होता है। उपन्यास मुख्यतया समाज से सम्बन्धित है इसलिए इसका रूप सामाजिक होता है, चूंकि इसका विषय मनुष्य का सामाजिक जीवन है; मानव की विषमताओ, सघर्षों, आन्तरिक और वाह्य द्वन्द्वो का सूक्ष्म चित्रण उपन्यास मे ही सम्भव है। उपन्यास में मनुष्य के सामाजिक, असामाजिक कृत्यो का ईमानदारीपूर्ण चित्रण ही काम्य है। उपन्यास का कथ्य, बाह्य जगत ही नही है, मानव मन की गहराइयो की मनोवैज्ञानिक आधार पर अभिव्यक्ति भी है। उपन्यास मे मानव, मानव-समूह, वर्ग-सघर्ष, धार्मिक रूढ़िया, गतिशील तथा परिवर्तनशील समाज के नियमों आदि को उपन्यासकार अपनी विषय-वस्तु बनाता है। हिन्दी उपन्यास साहित्य का इतिहास बहुत प्राचीन नही है, इसका आविर्भाव हुए ८५ वर्ष हुए है। इतने अल्प समय मे इसने आश्चर्यजनक प्रगति की है। इसकी प्रगति-यात्रा मे गोदान (१९३६), त्याग पत्र (१९३१), शेखर : एक जीवनी (१९४०–४४), बाणभट्ट की आत्मकथा (१९४६), नदी के द्वीप (१९५१), बूंद और समुद्र (१९५६), उखड़े हुए लोग (१९५६, यह पथ बंधु था (१९६२) आदि अग्रसर होने के प्रमुख प्रकाश स्तम्भ है।

समाज का प्रादुर्भाव मनुष्य के साथ ही हुआ, क्योंकि व्यक्ति अकेले नहीं रह सकता, वह पहले समाज की महत्वपूर्ण इकाई, परिवार का सदस्य होता है और अपने विकास के साथ साथ समाज के अन्य महत्वपूर्ण समूहों संस्थाओं से अपने को सम्बन्धित करता है। प्रश्न उठता है, समाज क्या है ? व्यक्तियो के समूह अथवा झुण्ड को समाज नहीं कहा जा सकता। समाजशास्त्रीय धरातल पर समाज का अर्थ है—"वह सामाजिक सम्बन्ध जो एक दूसरे को प्रभावित करें।" जिसे मेकाईवर तथा पेज ने अपनी

यथार्थ अध्ययन करने के लिए ऐसे विज्ञान की रूपरेखा तैयार की जिसे उन्होंने समाजशास्त्र कहा। उन्होंने अपनी पुस्तक (Course De positive Philosophie) में समाजशास्त्र की रूपरेखा प्रस्तुत की है।

१. (क) सामाजिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि मे अंतर

समाज के विकास की प्रक्रिया साहित्य की समस्त विधाओं मे प्रतिबिम्बित होती रही है। समाज मे होने वाले घात-प्रतिघात उनसे उत्पन्न होने वाले सम्बन्धो तथा समस्याओ का विशद् वर्णन हमे साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा उपन्यास मे ही उपलब्ध होता है, क्योकि समाज का अर्थ सामाजिक अन्त क्रिया (Social Interaction) है। जब तक भावों का आदान-प्रदान तथा सामाजिक अन्त क्रिया न हो तब तक समाज का अस्तित्व सम्भव नही।[1] प्रत्येक सम्बन्ध सामाजिक नही होता जैसे रेल मे बैठे हुए व्यक्ति एक दूसरे से जब तक परिचित नही होते, वह तब तक व्यक्तियो का केवल समूह है, पर जैसे ही वह एक दूसरे से परिचित होते हैं, उनकी पारस्परिक प्रतीति (Awareness) से जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है उससे सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं।

मेज, टाइपराइटर आदि वस्तुओ मे भी आपसी सम्बन्ध होते हैं, परन्तु वे एक दूसरे से भिज्ञ नहीं होते इसलिए उन्हें सामाजिक सम्बन्ध नही कहा जा सकता।

व्यक्तियों के सम्बन्ध परिवार तथा परिवार से बाहर रहने वाले अनेक लोगो से होते हैं, जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित होता है। समाज इन्हीं सामाजिक सम्बन्धो का जाल है परन्तु सर्वसाधारण व्यक्ति समाज का अर्थ केवल व्यक्तियो के समूह से लगा लेता है जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि को भी समाज कहते हैं, परन्तु समाजशास्त्र की दृष्टि से इसका तात्पर्य सामाजिक अन्त क्रिया से है। ला पियरे के अनुसार "समाज मनुष्य के एक समूह के अन्त सम्बन्धो की एक जटिल व्यवस्था है।" मैक्सवेबर के अनुसार सामाजिक सम्बन्धो के अन्तर्गत केवल और पूर्ण रूप से इस सम्भावना का ही समावेश होता है कि किसी सार्थक बोधगम्य भाव में कोई सामाजिक क्रिया होगी।[2]

उपर्युक्त विद्वानो के विचारों से सिद्ध होता है कि मानव की अन्त क्रिया समाज का मेरुदण्ड है। इसके अभाव मे वह निर्जीव वस्तुओ के समूह के अनुरूप ही रह जाता है। मानव की सदैव यह लालसा रही है कि वह अपने अनुभवों को दूसरो तक पहुँचा दे और दूसरों के अनुभवों से लाभान्वित हो। इन्ही अनुभवो के आदान-प्रदान की प्रक्रिया मे कथा का विकास हुआ और उसके श्रोताओ ने उसे विभिन्न आवरणो से समय-समय पर सुसज्जित किया तथा अपने नवीन अनुभवो को, घटनाओं

1. Mac Iver and Page–Society, p. 7.
2. Maxweber : The Theory of an Economic Organisation.

पुस्तक 'सोसाइटी' में "सामाजिक सम्बन्धों का जाल" कहा है।[1] इसके लिए सामाजिक अन्तःक्रिया (Social relationship) के दो आवश्यक तत्व हैं :—

१. पारस्परिक सम्बन्ध या पारस्परिकता (Reciprocity)

२. एक दूसरे के प्रति जागरूकता (Awareness)

मेकाईवर के अनुसार "समूह से तात्पर्य है व्यक्तियों का वह संकलन जो एक दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध रखते हैं।"[2] समूह के इन्हीं सम्बन्धों ने धीरे-धीरे वृहद् समाज का रूप धारण किया।

पारस्परिक सम्बन्धों एवं क्रिया-कलापों को सदैव स्थिर रखने के लिए लोग घटनाओं तथा अनुभवों को कथा के रूप में अपनाते हैं। कथा में भी उसकी चरम सीमा के साथ जिज्ञासा का अधिक ताल-मेल रहता है। इसी कथा की प्रक्रिया को लोग अपनी वस्तु एवं आवश्यकतानुसार छोटा-बड़ा बनाते हैं। उपन्यास इसके विस्तृत प्रांगण में असीम स्वच्छन्दता से उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। सामाजिक जीवन जहाँ समाज से कदम से कदम मिला कर चलता है वहाँ अपने कुछ सिद्धान्तों को भी सामने लाता है। उसका क्षेत्र, सीमा और सामग्री सभी कुछ उसके अपने होते हैं, जिसका समाजशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है।

समाज में मनुष्यों के हर एक प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था होती है चाहे वह सामाजिक मूल्यों के अनुकूल हों, जैसे संस्थाएं, समूह आदि अथवा प्रतिकूल जैसे संघर्ष, भीड़, अपराध आदि। समाज के वैज्ञानिक अध्ययन का आरम्भ १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हो गया था। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा। समाज के विकास की गति तीव्र हो गई, जिससे प्रचलित संस्थाओं, विचारों आदि में तेजी से परिवर्तन आने लगा और नई सामाजिक समस्याएं समक्ष आईं। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विधिशास्त्र आदि ने समाज के विशिष्ट पहलुओं का अध्ययन किया। इनके द्वारा सम्पूर्ण समाज की यथार्थ जानकारी सम्भव न हो पाई और फ्रांसीसी विद्वान अगस्त कोम्त (Auguste Comte 1798–1857 A. D.) ने समाज के समग्र रूप का

1. Mac Iver R. M. and Page "Society", Macmillan Co., London 1958, p. 5. ("Society is a web of Social relationship.)
2. Mac Iver R. M. and page C. H. "Society by group we mean any collection of human beings who are brought into social relationship with one another".
p. 213. Macmillan & Co. Ltd., London

यथार्थ अध्ययन करने के लिए ऐसे विज्ञान की रूपरेखा तैयार की जिसे उन्होंने समाजशास्त्र कहा। उन्होंने अपनी पुस्तक (Course De positive Philosophie) में समाजशास्त्र की रूपरेखा प्रस्तुत की है।

१. (क) सामाजिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि मे अंतर

समाज के विकास की प्रक्रिया साहित्य की समस्त विधाओं मे प्रतिविम्बित होती रही है। समाज मे होने वाले घात-प्रतिघात उनसे उत्पन्न होने वाले सम्बन्धो तथा समस्याओ का विशद् वर्णन हमे साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा उपन्यास मे ही उपलब्ध होना है, क्योकि समाज का अर्थ सामाजिक अन्त क्रिया (Social Interaction) है। जब तक भावों का आदान प्रदान तथा सामाजिक अन्त क्रिया न हो तब तक समाज का अस्तित्व सम्भव नही।[1] प्रत्येक सम्बन्ध सामाजिक नही होता जैसे रेल मे बैठे हुए व्यक्ति एक दूसरे से जब तक परिचित नहीं होते, वह तब तक व्यक्तियो का केवल समूह है, पर जैसे ही वह एक दूसरे से परिचित होते हैं, उनकी पारस्परिक प्रतीति (Awareness) से जो क्रिया प्रतिक्रिया होती है उससे सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं।

मेज, टाइपराइटर आदि वस्तुओं मे भी आपसी सम्बन्ध होते हैं, परन्तु वे एक दूसरे से भिन्न नही होते इसलिए उन्हे सामाजिक सम्बन्ध नही कहा जा सकता।

व्यक्तियो के सम्बन्ध परिवार तथा परिवार के बाहर रहने वाले अनेक लोगो से होते हैं, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित होता है। समाज इन्ही सामाजिक सम्बन्धों का जाल है परन्तु सवसाधारण व्यक्ति समाज का अर्थ केवल व्यक्तियो के समूह से लगा लेता है जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि को भी समाज कहते हैं, परन्तु समाजशास्त्र की दृष्टि से इसका तात्पर्य सामाजिक अन्त क्रिया से है। ला पियरे के अनुसार "समाज मनुष्य के एक समूह के अन्त सम्बन्धो की एक जटिल व्यवस्था है।" मेक्सवेबर के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत केवल और पूर्ण रूप से इस समावना का ही समावेश होता है कि किसी सार्थक बोधगम्य भाव में कोई सामाजिक क्रिया होगी।[2]

उपर्युक्त विद्वानों के विचारो से सिद्ध होता है कि मानव की अन्त क्रिया समाज का मेरुदण्ड है। इसके अभाव मे वह निर्जीव वस्तुओ के समूह के अनुरूप ही रह जाता है। मानव की सदैव यह लालसा रही है कि वह अपने अनुभवो को दूसरो तक पहुँचा दे और दूसरों के अनुभवो से लाभान्वित हो। इन्ही अनुभवों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया मे कथा का विकास हुआ और उसके श्रोताओ ने उसे विभिन्न आवरणा से समय-समय पर सुसज्जित किया तथा अपने नवीन अनुभवो को, घटनाओ

1. Mac Iver and Page–Society, p. 7.
2 Maxweber : The Theory of an Economic Organisation.

को, विचारों को जोड़ा। इससे हमें समय-समय के रीति-रिवाजों, सभ्यता-संस्कृति, सामाजिक स्थिति, आदि का परिचय मिलता है। सभी जातियों के इतिहास, उनके उत्थान-पतन के चिह्न हमें कथा-साहित्य में मिलते हैं। कथा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य के प्रत्येक अंग में विद्यमान रहती है। कथा का आधुनिक रूप चाहे प्राचीन साहित्य में उपलब्ध न हो, परन्तु कथा का प्रमुख तत्त्व कथानक महाकाव्य, खण्डकाव्य, इतिहास, पुराण आदि सभी में द्रष्टव्य है। सामाजिक अंगों को लेकर कथाएँ लिखी गयीं। बाणभट्ट कृत "कादम्बरी' कथा है, परन्तु इन कथाओं में जीवन का सांगोपांग चित्रण सम्भव नहीं था।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में सामाजिकता का सम्पूर्ण चित्रण नहीं पाया जाता। श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा-गुरु' उपन्यास-शिशु का जन्म जिन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों में हुआ उसमें न तो स्वतन्त्रता की स्वर-लहरी थी और न जीवन जागरण की दुंदुभि।[१] इस उपन्यास में एक ऐसे रईस का चित्रण है जो भूठी तड़क-भडक में फँस कर ऋणग्रस्त हो जाता है और अन्त में भिखारी का-सा जीवन बिताता है। लज्जाराम मेहता के आदर्श दम्पति, हिन्दू गृहस्थ, बिगड़े का सुधार, आदर्श हिन्दू इसी काल के उपन्यास हैं, परन्तु इन उपन्यासों में सामाजिक क्रान्ति के स्वरूप अथवा आदर्श की कोई झाँकी नहीं है।[२] इन उपन्यासों में केवल उपदेशात्मकता पर ही बल दिया गया है। इन उपन्यासों में हिन्दू-संस्कृति की परम्परा की धारा तो अवश्य बहती दृष्टिगोचर होती है, किन्तु तत्कालीन मानव में उत्पीड़न और विमुक्ति के प्रयास का कोई प्रतिरूपण नहीं है। इसमें युग-चित्र सामने नहीं आता।[3]

हरिऔधजी का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' उपन्यास सामाजिक चेतना के कारण महत्त्वपूर्ण है। रूढ़िवादी समाज के विवाह तथा प्रेम लिए जो बन्धन है उनके प्रति हरिऔध जी ने विद्रोह दर्शाया है तथा वे अनमेल विवाह के दुष्परिणामों का उद्घाटन करते हैं। यह सामाजिक समस्या कई अन्य सामाजिक समस्याओं को जन्म देती है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह एक ऐसी समस्या है जिसके कारण अन्तर्जातीय विवाह की समस्या उत्पन्न होती है तथा अनमेल विवाह के कारण विधवा विवाह की समस्या सामने आती है।

प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी उपन्यास और कथा साहित्य में बड़े वेग से नवयुग का आगमन हुआ। उनका विश्व-उपन्यास-साहित्य में श्रेष्ठ स्थान है। उपन्यास

---

१. क्रान्ति वर्मा : "स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास', पृ० २.
२. वही, पृ० ३.
३ वही पृ० ३

मे यथार्थ जीवन को चित्रित करने का इन्होने प्रयास किया है। क्रास ने अपनी पुस्तक 'डवलपमेन्ट आव् इंगलिश नावेल' मे लिखा है कि "सामान्यतया उपन्यास उस गद्य-आख्यान को कहा जाता है जो यथार्थवादी दृष्टि से अध्ययन करे।"[१] उपन्यास और कहानी हिन्दी साहित्य की सुदृढ और लोकप्रिय विधायें हैं। दोनो का आधार सामाजिक पृष्ठभूमि है। एक जहां समाज का कोना-कोना झांक आने का प्रयास करता है, वहां दूसरी समाज के किसी एक विशेष अंग को ही अपने में समेट कर चलती है। "उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है, वह मनुष्य के जीवन और चरित्र की व्याख्या करता है।"[२] उपन्यास के माध्यम से मानव-मन की अनेक जटिल समस्याओं को सुलझाने का सफल प्रयास किया जाता है।

हिन्दी उपन्यास को कुछ लोग पश्चिम की देन मानते हैं, कुछ बगला साहित्य की देन मानते हैं। डॉ० श्रीकृष्ण लाल के अनुसार उपन्यास पाश्चात्य जगत् की देन हैं जो बगला के माध्यम से आया है।[३]

हिन्दी उपन्यास का श्रीगणेश श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२) से माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'परीक्षा गुरु' को शिक्षाप्रद प्रथम मौलिक हिन्दी उपन्यास मानते हैं।[४]

हिन्दी उपन्यास का बहाव विभिन्न रूपा नदी की तरह बदलता रहा। प्रारम्भिक उपन्यास उपदेशात्मक थे, जैसे श्रद्धाराम फिल्लोरी का 'भाग्यवती' जिसमे सास-बहू की वार्ता है। इसके बाद श्रीनिवास दास, देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी का इस क्षेत्र मे आगमन हुआ है, जिनके उपन्यासों में चरित्रोन्नति एव समाज के वर्णन के साथ कथा का रस भी उपलब्ध हुआ।

(ख) स्वातंत्र्यपूर्व उपन्यास साहित्य पर एक विहगम दृष्टि 'आधुनिक उपन्यास मे उसका अंतर : समाजशास्त्र के संदर्भ में

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत मे कई विदेशी भाषाओ एव सस्कृतियों का समय-समय पर मिश्रण होता रहा है। हिन्दू राजाओ के पश्चात् जिस जाति, जिस धर्म का प्रवेश हुआ उसने भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में गतिरोध उत्पन्न किया। मुसलमान शासक, भारत तथा हिन्दी भाषा के प्रति कभी भी उदार नही थे। इसलिए जहाँ मनुष्य को अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा के लाले पडे हों वहाँ भाषा तथा उसके एक

---

१. Cross-The Development of English Novel, P. I
२. शान्ति वर्मा-'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास', पृ० ८, भूमिका
३. डॉ० श्रीकृष्ण लाल-'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य का विकास'
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४५२।

अंग राज की ओर वह व्यक्ति कहाँ विचार कर सकता है। अंग्रेजों से पहले पुर्तगाली, डच आदि भारत में आये, परन्तु वे अपने पाँव जमाने में सफल न हुए। अंग्रेजों का आगमन जहाँगीर के समय में हुआ, और उन्होंने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास में व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये, फिर धीरे-धीरे राजनीति में अपना दखल प्रारम्भ किया। उन्होंने अपनी कूटनीति से एक दिन सम्पूर्ण भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया। अंग्रेज यहाँ के शासक तो हुए परन्तु शताब्दियों से अपनी परम्परा में लिपटे भारतीय सदैव उनका विरोध करते रहे। १८५७ की क्रान्ति इस विरोध की चरम सीमा का परिणाम था, जिसके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि कई कारण थे। परन्तु क्रान्ति को बड़ी निर्दयता से दबा दिया गया क्योंकि भारत में एकता का अभाव था। भारतीय सैनिक शक्ति अंग्रेज सैनिक शक्ति के समक्ष दुर्बल थी, परन्तु झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई के नेतृत्व में इस आन्दोलन को अपार गरिमा मिली, जिसका सफल चित्रण वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'झाँसी की रानी' में मिलता है। रानी ने मुट्ठीभर सेना के साथ अंग्रेजों का डट कर सामना किया और लड़ते-लड़ते मातृभूमि के लिए प्राणों की आहुति दे दी। 'रानी देश का गौरव थी। वह तीरन्दाजी, नेजा चलाना, तलवार-बन्दूक का निशाना, स्त्रियों को स्वयं सिखाती थी।'[1]

जब देश में अंग्रेजों का राज्य हो गया तब प्राथमिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया। कई स्कूल-कालेज खोले गये, जिनमें कुछ तो सरकार द्वारा सचालित थे और कुछ जनता द्वारा चलाये गये। इसके फलस्वरूप लोगों में चेतना जागृत हुई। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन हुए जिनमें राजा राममोहन राय का प्रमुख स्थान था। धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों के प्रति जागरण की भावना उत्पन्न हुई। धार्मिक क्षेत्र में राजा राममोहन राय ने १८२८ में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। जिसका प्रभाव बंगाल से बढ़कर महाराष्ट्र तक पहुँचा, फलस्वरूप १८६७ में श्री केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना हुई और धर्म का एक नवीन रूप जनता के समक्ष आया।

'प्रार्थना समाज' की सफलता का सबसे बड़ा श्रेय महादेव गोविन्द रानाडे को है। उन्हीं की प्रेरणा से १८८८ ई० में भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन की स्थापना हुई।'[2] इन सामाजिक आन्दोलनों के फलस्वरूप सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि देश में राष्ट्रीय भावना की लहर दौड़ गई और भारतीय जनता स्वतन्त्र होने के लिए पूर्णरूपेण व्यग्र हो उठी। शिक्षा के प्रचार के कारण भारतीय अधिक से अधिक जन-सेवा में भाग लेने लगे, तथा १८४४ में कानून के अनुसार कम्पनी की

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा—'झाँसी की रानी', पृ० १६६ (१९४६).

२. डा० चण्डीप्रसाद जोशी—'हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन', (१९६२)

नौकरी मे रंगभेद, जाति भेद, परिवार भेद आदि का प्रश्न हटा दिया गया, परन्तु यह सब ऊपरी दिखावा मात्र था। वास्तव मे सिविल सर्विसेज मे भारतीयो की सख्या अत्यल्प थी। कुछ आश्वासनो की अपूर्ति के कारण भारतीय जनता मे रोष फैल गया और राष्ट्रीय भावना प्रबल हो उठी।

इन्ही राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक परिस्थितियो के मध्य हिन्दी गद्य का विकास प्रारम्भ हुआ। सन् १८६० म फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) हिन्दी-उर्दू अध्यापक (प्रिंसिपल) जानगिल क्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य पुस्तकें तैयार करने की योजना तैयार की"[1]—मुशी सदासुख लाल, इशा अल्लाखाँ, सदल मिश्र, लल्लू लालजी, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, राजा लक्ष्मणसिंह आदि ने अपने-अपने ढग से हिन्दी गद्य को आगे बढ़ाया। प० श्रद्धाराम फिल्लोरी ने 'भाग्यवती' नामक उपन्यास लिखा, जिसकी बडी प्रशसा हुई। सन् १८८२ मे श्रीनिवास दास ने 'परीक्षा गुरु' उपन्यास लिखा। प० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' उपन्यास लिखे। डा० जगमोहन सिंह कृत 'श्याम स्वप्न' तथा प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उपन्यास सामाजिक चेतना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी साहित्य मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आगमन (१६०७–१६४१) महत्त्वपूर्ण घटना है। भारतेन्दु के पूर्व उपन्यास साहित्य की कोई सुदीर्घ परम्परा नही थी। उस समय कई उपन्यास बगला से अनुवादित हुए। बाबू गोपालराम गहमरी बगभाषा के गार्हस्थ्य उपन्यासो के अनुवाद मे तत्पर थे। 'देवरानी जेठानी', 'दो बहनें', 'सास पतोहू' आदि का अनुवाद किया तथा उदित नारायण लाल का 'दीप निवारण' महत्त्वपूर्ण अनुदित उपन्यास है।[2] बाबू गदाधर सिंह ने 'कादम्बरी' तथा 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद किया और बाबू राधाकृष्ण दास द्वारा 'स्वर्णलता' का अनुवाद हुआ। इन अनुदित उपन्यासो के कारण एक यथोचित वातावरण तैयार कराने मे भारतेन्दुजी अवश्य सफल हुए। भारतेन्दु-युग मे अधिकतर अनुवाद ही हुए, परन्तु कुछ मौलिक उपन्यास लिखे जाने की प्रेरणा भी लेखको को अवश्य मिली।

आरम्भ मे जितने उपन्यास लिखे गये उनमे समाज का चित्रण तो अवश्य हुआ, पर शैली उपदेशात्मक थी। इसके पश्चात् देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल आदि के घटना प्रधान उपन्यास प्रकाश मे आये। डा० रामविलास शर्मा

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', (स० २०२२) पृ० ३६३

२. वही, पृ० ४७५

का विचार है "कि 'प्रेमचन्द की सुधारात्मक यथार्थवादी परम्परा का बीजारोपण इस युग के उपन्यासकारों ने ही कर दिया था।"[1]

अंग्रेजों के शासन के फलस्वरूप भारतीय जन-जीवन में अनेकों विकृतियां आ गई थीं। अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति एक घृणा की भावना उत्पन्न हो गई थी। परिवर्तित विचारधारा को सुधारवादी आन्दोलनों ने नया मोड़ दिया, जिसका प्रभाव तत्कालीन उपन्यास में दिखाई देता है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन आदि आन्दोलनों की सामाजिक पृष्ठभूमि का प्रभाव हमें लाला श्रीनिवास के 'परीक्षा गुरु', बालकृष्ण भट्ट के 'सौ सुजान एक अजान', अमृतलाल चक्रवर्ती के 'सती सुखदेवी' आदि में दिखाई देता है। प्रारम्भिक युग के लेखकों ने अधिकतर उपदेशात्मक उपन्यास लिखे, जिनमें आदर्श विद्यार्थी, हिन्दुत्व के आदर्श, पतिव्रत धर्म आदि पर जोर दिया गया तथा जुआखोरी, मद्यपान आदि कुरीतियों का वर्णन दिखाया गया। ये सामाजिक उपन्यास भले ही कहे जायें परन्तु इनमें गम्भीर समस्याओं के चित्रण का अभाव है। इसी समय अधिकतर तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों का प्रचलन रहा, क्योंकि यह प्रमुख मनोरंजन प्रधान थे। देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता सन्तति' ने सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों को फीका कर दिया। ऐयारी तथा तिलस्मी उपन्यासों के साथ जासूसी उपन्यासों की भी रचना हो रही थी। जासूसी उपन्यास पूर्णरूप से योरोप, विशेषतया इंगलैण्ड की देन हैं।[2] ऐसे उपन्यासों की बाजार में बड़ी सरगर्मी आ गई थी। 'एडगर ऐलन पो' वाईकी कौलिन, सर आर्थर कानन डायल आदि ने अपराध मनोविज्ञान का आधार लेकर बड़े कौतूहल-वर्द्धक उपन्यास लिखे।'[3] ये उपन्यास सस्ते प्रकाशन के कारण तथा सफल मनोरंजन के लिए बड़े प्रसिद्ध हुए, विशेषकर यात्रियों के लिए। इस क्षेत्र में शरलाक होम्स जैसे जासूसी और डाक्टर वाटसन आदि के लेखक सर आर्थर कानन डायल ने बड़ी ख्याति अर्जित की।

हिन्दी गद्य को परिमार्जित रूप देने का प्रयास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। उन्होंने बंगला तथा मराठी उपन्यासों का अनुवाद कराया। संस्कृत में "कादम्बरी", बंगला में दुर्गेशनन्दिनी और मराठी में चन्द्रप्रभा पूर्ण प्रकाश अनूदित हुए। यह उपन्यास हिन्दी के प्रथम अनुवाद हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्व-प्रेमचन्द युग में औपन्यासिक कृतियों में दो प्रमुख धाराएँ दिखाई देती हैं—एक का उद्देश्य प्रधानतया मनोरंजन है तथा दूसरी

---

१. डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु युग (तृतीय संस्करण १९५६), पृ० १३३.
२. शिवनारायण श्रीवास्तव—हिन्दी उपन्यास (सं० २०१६), पृ० २५,
३. वही, पृ० २६.

का नीतिपरक उपदेश। परन्तु प्रेमचन्द-युग तक आते आते उपन्यास-साहित्य मे एक और विचारधारा पनपने लगी जो उपदेशात्मक न होकर आदर्शवाद की भावना से ओत-प्रोत थी, जिसके सम्पूर्ण दर्शन हमें प्रेमचन्दजी के उपन्यास-साहित्य मे भी होते हैं। डा० देवराज उपाध्याय के अनुसार 'अंग्रेजी उपन्यास साहित्य म जो काय जैन आस्टेन और टामस हार्डी न किया वही काम हिन्दी के लिए प्रेमचन्द ने किया।'[1] रूस के प्रसिद्ध लेखक गोर्की प्रेमचन्दजी के समकालीन थे। गोर्की अक्टूबर (१९१७) से पहले ही पाश्चात्य जगत मे ख्याति प्राप्त कर चुके थे। सन् १९३० के लगभग या इससे पहले ही भारतीय भाषाओ मे भी उनकी कृतियो के अनुवाद होने लगे थे।[2] इससे सिद्ध होता है कि प्रेमचन्दजी ने गोर्की के उपन्यासो को अवश्य पढ़ा होगा और उनके उपन्यासो मे चित्रित संघर्ष से वे प्रभावित हुए होगे। प्रेमचन्द टालस्टाय से भी बहुत प्रभावित थे।[3]

प्रेमचन्दजी अंग्रेजो से भी प्रभावित थे। उन्हे इस बात का खेद था कि भारतीय, अंग्रेजों की नकल तो करते हैं पर वह भी अधूरी। उनका मत है 'खराबियों की नकल तो ये (भारतीय) झटपट कर लेते हैं, अच्छाइयो की ओर झांकते तक नहीं। उनमे (अंग्रजो मे) निरी बुराइयां ही हों यह बात नही है। जो अंग्रज गर्मी मे पखे के नीचे दिन काट देता है वही उस समय भी जब कि बाहर आग बरसती रहती है मीलों उत्साह मे दौड जाता है। खतरे से खतरे उसके लिए आरामदेह हैं। यह उनके राष्ट्र के लिए बहुत ही जरूरी चीज है। उनसे तो हम कोसो भागत जा रहे है।[4] प्रेमचन्दजी का विचार था कि जो देश परतन्त्र है उसे विलासिता से सम्बन्ध नही रखना चाहिये। 'विलासिता आजादी की दुश्मन है।'[5] प्रेमचन्दजी अंग्रेजो की कार्यक्षमता से भी प्रभावित थे। 'वे (अंग्रेज) आजाद होने के बाद सुख भोग रहे हैं। आजाद और सुखी होने के पहले तो वे पशु से भी ज्यादा काम करते थे। वे जानते तक नही थे। कि थकावट आराम और विलासिता क्या कोई चीज होती है ?'[6] इससे स्पष्ट है प्रेमचन्दजी अंग्रेजो की कर्त्तव्यपरायणता से अत्यधिक प्रभावित थे।

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा, ड्यूमा और स्काट से प्रभावित जान पडते हैं। 'चित्रलेखा' के लेखक भगवतीचरण वर्मा अनातोले फ्रांस की छाया से प्रभावित जान पडते हैं।[7]

---

१. डा० देवराज उपाध्याय–कथा के तत्त्व (१९५७), पृ० १६७
२. शिवदानसिंह चौहान–प्रेमचन्द और गोर्की (स० २०१६), पृ० ५७७.
३. वही, पृ० ५८२–८३.
४ शिवरानी देवी प्रेमचन्द–प्रेमचन्द घर में, पृ० १६५ (१९५६)
५. शिवरानी देवी प्रेमचन्द–प्रेमचन्द घर मे (१९५६), पृ० १६६.
६. वही, पृ० १६६
७ नन्ददुलारे वाजपेयी–नया साहित्य नये प्रश्न (१९५६), पृ० १६०.

इस प्रकार प्रतीत होता है कि अंग्रेजी उपन्यास साहित्य का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा तथा अंग्रेजी के उपन्यासकार हिन्दी के उपन्यासकारों को अपनी विचारधाराओं से समय-समय पर प्रभावित करते रहे हैं। प्रेमचन्द-युग से ही हिन्दी के उपन्यासकार अंग्रेजी के उपन्यासकारों से, उनकी विचारधाराओं तथा शैली से प्रेरणा लेते रहे। प्रेमचन्दोत्तर-युग में फ्रायडवादी और मार्क्सवादी विचार-धारा से हिन्दी के उपन्यासकार अप्रभावित नहीं हैं। फ्रायड ने मनोविश्लेषण को महत्व दिया और मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी फ्रायड से प्रभावित हैं। हिन्दी साहित्य में पूर्व दीप्ति (Flash back) की पद्धति भी पाश्चात्य उपन्यास की देन है, जिसके दर्शन अज्ञेय की 'शेखर एक जीवनी' में होते हैं। अज्ञेय के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' में अस्तित्ववाद (Existentialism) के दर्शन भी होते हैं। यशपाल मार्क्सवादी लेखक हैं। राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' में दास्तोवास्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'क्राईम एण्ड पनिश्मेन्ट' के अनुरूप सात दिन की क्रियाओं का चित्रण है और दास्तोवास्की ने नौ दिन की घटनाओं का वर्णन किया है। 'प्रेमचन्द से पूर्व तथा प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों पर भारतीय भाषाओं के अनुदित उपन्यासों का प्रभाव पड़ा। नारी के चरित्र-चित्रण में बंगला के उपन्यासकार शरत्, रवीन्द्रनाथ टैगोर, बंकिम आदि ने हिन्दी उपन्यासकारों को बहुत प्रभावित किया। आधुनिक काल में शंकर, बन्दोपाध्याय, विमल मित्र ताराशंकर बन्दोपाध्याय, मनोज बसु आदि बंगला उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यासकारों को प्रभावित किया। यशपाल के प्रसिद्ध उपन्यास 'मनुष्य के रूप' में मनोरमा तथा कामरेड भूषण के प्रेम-वर्णन में शरत् का प्रभाव लक्षित है।'[1]

हिन्दी उपन्यास के द्वितीय उत्थान काल में उपन्यासकारों ने अंग्रेजी से संबंध स्थापित कर कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। वहाँ की चेतना से उनमें एक आशा उत्पन्न हुई। उपन्यासकारों ने अपने चारों ओर के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक आन्दोलनों एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न नेताओं द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों को अपने उपन्यासों में चित्रित करने का प्रयत्न किया। कुछ कुरीतियों का वर्णन प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने भी किया जैसे वेश्यावृत्ति, जुआखोरी, मद्यपान आदि। परन्तु उनके उन्मूलन के लिए कोई ठोस रूप हमारे समक्ष नहीं आया और न ही इन कुरीतियों की पीठिका में सामाजिक पर्यावरण का ही उल्लेख किया गया। इस काल में रचे गये उपन्यासों पर तत्कालीन समाज की छाप नहीं है। इनमें सामान्य जन-चेतना की केवल झाँकियाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया जो भारतीय इतिहास के गुणगान मात्र प्रतीत होती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि १८८५ से १९२६ तक जागरूक राष्ट्रीय चेतना और विकासशील सामाजिक विचारधारा एक विशिष्ट बौद्धिक वर्ग को प्रभावित करती रही। अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवक योरोप की राष्ट्रीय भावना

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य नये प्रश्न (१९५६), पृ० २१६.

से प्रभावित थे, परन्तु शेष भारतीय जन-मानस उन विचारों के महत्त्व को नहीं समझ पाता था। धार्मिक क्षेत्र में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि ने जो क्रान्तिकारी विचार-धारा प्रस्तुत की थी, उसके प्रति भी सामूहिक तथा व्यापक दृष्टिकोण नहीं बनने पाया था। बंगला के माध्यम से तथा प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव कुछ इने गिने लोगों पर ही था। जन-मानस इन नूतन विचारधाराओं से पूर्णतया परिचित नहीं था इसलिए तत्कालीन हिन्दी उपन्यासों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि या तो वे सामान्य नैतिक स्तर के थे अथवा असामान्य कालनिक रोमांचकारी स्तर के।

इस काल के उपन्यासों की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि में सामाजिक पक्ष शिथिल है। नैतिकतावादी उपन्यासों में भी अभिजात्यवर्ग के लोगों का ही अंकन है। इनमें सामाजिकता को महत्त्व नहीं दिया गया। प्रेमचन्द-युग में पहली बार सामाजिक तत्त्व उभर कर सामने आए। डा० रामरतन भटनागर का कथन है कि "प्रेमचन्द-युग में हिन्दी उपन्यास ने पहली बार सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से अपना सम्बन्ध जोड़ा और औपन्यासिक कला में भाषा की आलंकारिकता की नई अपराजित आभा ने प्रवेश किया।"[1] प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यास भारतीय जन जीवन से सम्बन्धित दिखाई नहीं देता, परन्तु प्रेमचन्द के उपन्यासों में वही चेतना जनमुखी जाह्नवी के अनुरूप गतिमान हो उठती है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने जन-जीवन के ओर-छोर का स्पर्श किया। इन उपन्यासों की मूल प्रेरणा में सामाजिक कल्याण की भावना है। वे साहित्य को जीवन की व्याख्या मानते हैं और जीवन को समाज के सन्दर्भ में देखते हैं। वे लिखते हैं "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"[2] प्रेमचन्द का युग विभिन्न संस्थाओं के आन्दोलन का युग था। इनका जन्म सन् १८८० में तथा मृत्यु सन् १९३६ में हुई। इस अर्द्धशताब्दी में भारत में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। भारतीय राष्ट्रीय भावना अनेक अवरोधों को ठेलती हुई अबाध गति से आगे बढ़ चली। १९१९ के जलियाँवाला नृशंस हत्या काण्ड के बाद गांधीजी के १९२०–२१ के आन्दोलन ने स्वतन्त्रता संग्राम को गतिमान किया। १९२७ में साइमन कमीशन का बहिष्कार किया गया। १९३७ में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों की स्थापना हुई। भारतीय जन-जीवन में घटित होने वाली इन घटनाओं के साथ-साथ ब्रिटिश सत्ता का दमन-चक्र तथा जमींदारों, मिल मालिकों के शोषण चक्र भी चलते रहे, जिससे जनता में विरोध प्रतिकार की भावना उद्बुद्ध होने लगी। नयी पीढ़ी की आँखें खुल चुकी थीं। साथ ही अंग्रेजी शिक्षा ने हमारे ग्राम-जीवन की शांति भंग की। मध्य वर्ग

1. डा० रामरतन भटनागर प्रेमचन्द युग, आलोचना अक्टूबर १९५४.
2. प्रेमचन्द के कुछ विचार, पृ० ४७–प्रकाशक सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद १९६१

जो झूठी शान का शिकार है, वर्णन है। इस प्रकार अन्तमानस की हृदय स्पर्शी अनुभूतियों का प्रकटन करने में लेखक की कलम को कमाल हासिल है।

'प्रेमाश्रम' में राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण है। सामन्ती व्यवस्था से पीड़ित किसानों का चित्रण है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जब पानी सिर से ऊपर हो जाता है तो प्रवाह का रुख बदल जाता है। वर्षों से मूक निरीह किसान जो अपनी गरीबी को दैवी देन के रूप में अपनाये हुए थे, अपने मानवीय अधिकारों के लिये सिर उठाने लगे। 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' में राजनीतिक उहापोह का वर्णन है तथा गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव लक्षित होता है। 'गोदान' में शोषित कृषक के ऋण की समस्या है। इसमें गोबर के माध्यम से चित्रित किया गया है कि शहरी जीवन जनता को किस प्रकार प्रभावित करता है और मिलों में काम करने वाले मजदूरों के आपसी सम्बन्ध कैसे परिवर्तित हैं। उनके समक्ष शहरी जीवन के कई आयाम खुलते हैं।

उपन्यासकार कोई एक लक्ष्य लेकर चलता है। प्रेमचन्दजी में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद की अभिव्यक्ति है वे अपने पात्रों के माध्यम से भावों की आत्माभिव्यक्ति करते हैं। इनके उपन्यासों में मध्यवर्गीय पात्रों का अधिक चित्रण है। उनके पात्र व्यक्ति विशेष न होकर सम्पूर्ण वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं साथ ही प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में स्थानीय रंग (Local colour) भी मिलता है, जिसके दर्शन 'रंगभूमि', 'गोदान' आदि में होते हैं और जो हमें आधुनिक उपन्यासकार रेणु तथा नागार्जुन के उपन्यासों में आंचलिकता के रूप में दिखाई देता है। पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए उसके पर्यावरण, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक स्थितियों का वर्णन भी होना चाहिये। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में धार्मिक और सामाजिक अन्धविश्वासों, कुरीतियों, पारिवारिक और वैयक्तिक दुर्व्यवहारों, आर्थिक असमानताओं का वर्णन है। 'सेवासदन' 'प्रतिज्ञा', 'कायाकल्प', 'निर्मला' और 'गबन' आदि में इसकी परिणति है। दहेज प्रथा, घूसखोरी, अन्धविश्वास, बेमेल विवाह वेश्या समस्या आदि की व्याख्या की गयी है। इनके उपन्यासों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में राष्ट्रीय भावना जागृत करने का प्रयास किया गया है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन को गति मिली है।

मनुष्य का समाज से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। समाज के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं। मनुष्य समाज का अंग है, उसके योगदान से ही समाज बनता है और समाज में इसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। विकास के प्रथम चरण में उपन्यास चाहे राजनीतिक हो, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक अथवा पौराणिक हो, सामाजिक पृष्ठभूमि का अभाव नहीं मिलता चाहे सामाजिक चेतना का अभाव हो। इसलिए

रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' में लिखा है कि 'प्रेमचन्द की सुधारात्मक यथार्थवादी परम्परा का श्रीगणेश इस युग के उपन्यासकारों ने कर दिया था।'[1]

मध्ययुगीन उपन्यासों में नारी, साहित्य का बहुचर्चित विषय रही है। समाजशास्त्रीय आधार पर कहा जा सकता है कि इस संधिकाल में जब मध्ययुगीन अवशेष पर आधुनिक युग की नींव डाली जा रही थी, इस समय पुरुषों को जीविका उपार्जन के लिए बाहर जाना पड़ा। यह यातायात की सुविधा के कारण सम्भव हो सका, जिससे उनके रहन-सहन में परिवर्तन आया। सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार राजनीतिक, आर्थिक, तथा भौतिक परिस्थितियाँ हैं और जब भौतिक संस्कृति की अपेक्षा, अभौतिक संस्कृति स्वयं को परिवर्तित करने में असमर्थ पाती है तो 'सांस्कृतिक विलम्ब' उत्पन्न हो जाता है, जिसे 'Cultural Lag' कहा गया है। सांस्कृतिक विलम्ब की धारणा का प्रतिपादन सर्वप्रथम अमेरिकी समाजशास्त्री आगबर्न ने किया था। संस्कृति के पार्थिव एवं अपार्थिव भागों के परिवर्तन में, 'सांस्कृतिक विलम्ब' अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। विज्ञान के आविष्कारों के कारण पार्थिव संस्कृति में बहुत तीव्र गति से परिवर्तन होता है, किन्तु अपार्थिव संस्कृति सम्बन्धित विचार, सिद्धान्त, मान्यताएँ, दर्शन में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है। जिससे संस्कृति की व्यवस्था में शिथिलता आ जाती है, जिसे आगबर्न निमकाफ ने 'कल्चरल लैग' कहा है।[2] सांस्कृतिक विलम्ब के कारण सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है क्योंकि संस्कृति के कुछ तत्त्व पिछड़ जाते हैं। सामाजिक प्रगति का चक्र निरन्तर घूमता है। जो तत्त्व कमजोर होते हैं वे पिछड़ जाते हैं और खाई-सी उत्पन्न हो जाती है। अभी भी बहुत से लोग रेल, मोटर आदि द्वारा यात्रा तो करते हैं, परन्तु जब तक अपने गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँच जाते रास्ते में कुछ खाते-पीते नहीं, क्योंकि सह-यात्री विभिन्न जातियों के होते हैं, उनके स्पर्श से भोजन अपवित्र हो जाने की भावना रहती है। ऐसे लोग छुआछूत की भावना का त्याग नहीं कर पाते। इस प्रकार भौतिक प्रगतिशील तत्त्व तो आगे बढ़ जाते हैं और अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन नहीं हो पाता। इस प्रकार सामाजिक विकास की एक दिशा प्रगतिशील हो जाती है, किन्तु दूसरी स्थिर रहती है, जिससे सांस्कृतिक-विलम्ब की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भौतिक तथा अभौतिक संस्कृतियों की दूरी यदि समान होगी तो अव्यवस्था नहीं होगी। क्षेत्रीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में बाधा का कारण भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ होता है।

---

१. डा० रामविलास शर्मा–भारतेन्दु-युग (तृतीय संस्करण १९५६), पृ० १३३.

2. Ogburn and Nimkaff–'A Handbook of Sociology' (1947). Page 519.

जिस प्रकार का पर्यावरण होगा उसी प्रकार का सामाजिक ढाचा भी होगा तथा उसी के अनुरूप जन-रीतियाँ, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ आदि विकसित होंगी। मिस सैम्पिल के अनुसार जिस प्रकार का पर्यावरण होता है उसी के अनुकूल वहाँ की जनता का रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज बनते हैं।[1] जैसे राजस्थान में रहने वाला का भोजन प्रमुखतः मक्का, जौ, बाजरा है तथा मद्रास के रहने वालों का चावल। इसी प्रकार पर्वतीय प्रदेश तथा मैदानों मे रहने वालों मे पहनावे आदि का भी बहुत अन्तर होता है। जानसर बावर आदि क्षेत्रों मे अभी तक बहु-विवाह प्रथा पाई जाती है। कठिन भौगोलिक परिस्थितियों के कारण जीवन-यापन करना कठिन है, इसीलिए अकाकी परिवार बनाकर रहना प्रत्येक के लिये सम्भव नहीं होता और इसलिए वहाँ बहु-पति विवाह की प्रथा पाई जाती है, जिससे मातृसत्तात्मक (Matriarcal) प्रणाली पाई जाती है। क्षेत्रीय सभ्यता, संस्कृति को भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं। पर्वतीय प्रदेश की परिस्थितियों का प्रभाव यशपाल के उपन्यास 'मनुष्य के रूप मे', सामुद्रिक पर्यावरण का प्रभाव उदयशकर भट्ट के उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य मे, तथा बुन्देलखण्ड क्षेत्र का प्रभावशाली अकन वृन्द वनलाल वर्मा के उपन्यासो म पाया जाता है। हिन्दी के आचलिक उपन्यासो मे भौगोलिक संस्कृति, राजनीतिक स्थिति का चित्रण किया गया है। रेणु के 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' तथा नागार्जुन के 'बलचनमा' म देशज भाषा का सवादों मे प्रयोग वातावरण का सजीव बना देता है।

उपन्यास का आधारभूत तत्व है कथानक, जो उपन्यास के जन्म से ही उसके साथ है। उपन्यास की जीवन शक्ति किसी न किसी रूप मे इस पर अवलम्बित है। वे समय के परिवर्तन एव विकास के साथ अपना रूप बदलती रही हैं, चाहे वह सामाजिक ही हो। परिवर्तन की शक्ति से व्यक्ति विशेष या परिवार विशेष अथवा समाज विशेष अप्रभावित नहीं रह सकता, परन्तु परम्परागत रूढिवादी संस्कृति की शिकार नारी के माध्यम से रूढिवादी उपन्यासकार प्राचीन परम्पराओ को बनाये रखना चाहते हैं। आगे चलकर समाजवादी उपन्यासकारो ने भी नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिया, क्योंकि सकीर्ण रूढिग्रस्त नारी-पुरुष के विकास में गतिरोध उत्पन्न कर देगी, क्योंकि गृहस्थ की नारी आधारशिला है, परन्तु वही अत्यधिक पीडित रही है। सदियों से उसके साथ अमानुषिक व्यवहार होता रहा है इसलिए उसी के उद्धार का बीडा प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारो ने उठाया।

---

1. "Man is a product of earth surface"
   –Miss Ellen Churchill Sample : 'Influence of Geographic Environment'–Henry Hall Co, New York (1911). Page I

रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' में लिखा है कि 'प्रेमचन्द की सुधारात्मक यथार्थवादी परम्परा का बीजारोपण इस युग के उपन्यासकारों ने कर दिया था।'[1]

मध्ययुगीन उपन्यासों में नारी, साहित्य का बहु-चर्चित विषय रही है। समाजशास्त्रीय आधार पर कहा जा सकता है कि इस सन्धि-काल में जब मध्ययुगीन अवशेष पर आधुनिक युग की नींव डाली जा रही थी, उस समय पुरुषों को जीविका उपार्जन के लिए बाहर जाना पड़ा। यह यातायात की सुविधा के कारण सम्भव हो सका, जिससे उनके रहन-सहन में परिवर्तन आया। सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार राजनीतिक, आर्थिक, तथा भौतिक परिस्थितियाँ हैं और जब भौतिक संस्कृति की अपेक्षा, अभौतिक संस्कृति अपने को परिवर्तित करने में असमर्थ पाती है तो 'सांस्कृतिक विलम्ब' उत्पन्न हो जाता है, जिसे 'Cult ral Lag' कहा गया है। सांस्कृतिक विलम्ब की धारणा का प्रतिपादन सर्वप्रथम अमरीकी समाजशास्त्री आगबर्न ने किया था। संस्कृति के पार्थिव एवं अपार्थिव भागों के परिवर्तन में, 'सांस्कृतिक विलम्ब' अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। विज्ञान के आविष्कारों के कारण पार्थिव संस्कृति में बहुत तीव्र गति से परिवर्तन होता है, किन्तु अपार्थिव संस्कृति सम्बन्धित विचार, सिद्धान्त, मान्यताएँ, दर्शन में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है जिससे संस्कृति की व्यवस्था में शिथिलता आ जाती है, जिसे आगबर्न निमकाफ ने 'कल्चरल लैग' कहा है।[2] सांस्कृतिक विलम्ब के कारण सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है क्योंकि संस्कृति के कुछ तत्त्व पिछड़ जाते हैं। सामाजिक प्रगति का क्रमचक्र निरन्तर घूमता है। जो तत्त्व कमजोर होते हैं वे पिछड़ जाते हैं और खाई-सी उत्पन्न हो जाती है। अभी भी बहुत से लोग रेल, मोटर आदि द्वारा यात्रा तो करते हैं, परन्तु जब तक अपने गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँच जाते रास्ते में कुछ खाते-पीते नहीं, क्योंकि सहयात्री विभिन्न जातियों के होते हैं, उनके स्पर्श से भोजन अपवित्र हो जाने की भावना रहती है। ऐसे लोग छुआछूत की भावना का त्याग नहीं कर पाते। इस प्रकार भौतिक प्रगतिशील तत्त्व तो आगे बढ़ जाते हैं और अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन नहीं हो पाता। इस प्रकार सामाजिक विकास की एक दिशा प्रयत्नशील हो जाती है, किन्तु दूसरी स्थिर रहती है, जिससे सांस्कृतिक-विलम्ब की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भौतिक तथा अभौतिक संस्कृतियों की दूरी यदि समान होगी तो अव्यवस्था नहीं होगी। क्षेत्रीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में बाधा का कारण भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ होता है।

---

१. डा० रामविलास शर्मा–भारतेन्दु-युग (तृतीय संस्करण १९५६), पृ० १३३.

2. Ogburn and Nimkaff–'A Handbook of Sociology' (1947). Page 519·

जिस प्रकार का पर्यावरण होगा उसी प्रकार का सामाजिक ढाँचा भी होगा तथा उसी के अनुरूप जन-रीतियाँ, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ आदि विकसित होंगी। मिस सेम्पिल के अनुसार जिस प्रकार का पर्यावरण होता है उसी के अनुकूल वहाँ की जनता का रहन-सहन, खान-पान, रीति रिवाज बनते है।[1] जैसे राजस्थान मे रहने वालों का भोजन प्रमुखत: मक्का, जौ, बाजरा है तथा मद्रास के रहने वालो का चावल। इसी प्रकार पर्वतीय प्रदेश तथा मैदानों में रहने वालो मे पहनावे आदि का भी बहुत अन्तर होता है। जानसर बावर आदि क्षेत्रो मे अभी तक बहु-विवाह प्रथा पाई जाती है। कठिन भौगोलिक परिस्थितियो के कारण जीवन-यापन करना कठिन है, इसीलिए व्यक्तिगत परिवार बनाकर रहना प्रत्येक के लिये सम्भव नहीं होता और इसलिए वहाँ बहु-पति विवाह की प्रथा पाई जाती है, जिससे मातृसत्तात्मक (Matriarcal) प्रणाली पाई जाती है। क्षेत्रीय सभ्यता, संस्कृति को भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं। पर्वतीय प्रदेश की परिस्थितियों का प्रभाव यशपाल के उपन्यास 'मनुष्य के रूप मे', सामुद्रिक पर्यावरण का प्रभाव उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य मे, तथा बुन्देलखण्ड क्षेत्र का प्रभावशाली अकन वृन्द वनलाल वर्मा के उपन्यासो मे पाया जाता है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासो मे भौगोलिक संस्कृति, राजनीतिक स्थिति का चित्रण किया गया है। रेणु के 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' तथा नागार्जुन के 'बलचनमा' में देशज भाषा का संवादो मे प्रयोग वातावरण को सजीव बना देता है।

उपन्यास का आधारभूत तत्व है कथानक, जो उपन्यास के जन्म से ही उसके साथ है। उपन्यास की जीवन-शक्ति किसी न किसी रूप मे इस पर अवलम्बित है। वे समय के परिवर्तन एव विकास के साथ अपना रूप बदलती रही हैं, चाहे वह सामाजिक ही हों। परिवर्तन की शक्ति से व्यक्ति विशेष या परिवार विशेष अथवा समाज विशेष अप्रभावित नही रह सकता, परन्तु परम्परागत रूढ़िवादी संस्कृति की शिकार नारी के माध्यम से रूढ़िवादी उपन्यासकार प्राचीन परम्पराओं को बनाये रखना चाहते हैं। आगे चलकर समाजवादी उपन्यासकारो ने भी नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, क्योंकि संकीर्ण रूढ़िग्रस्त नारी पुरुष के विकास में गतिरोध उत्पन्न कर देगी, क्योंकि गृहस्थ की नारी आधारशिला है, परन्तु वही अत्यधिक पीड़ित रही है। सदियो से उसके साथ अमानुषिक व्यवहार होता रहा है इसलिए उसी के उद्धार का बीड़ा प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारो ने उठाया।

---

1. "Man is a product of earth surface"
   –Miss Ellen Churchill Sample: 'Influence of Geographic Environment'–Henry Hall Co., New York (1911), Page I

पत्नी के रूप में जिस पुरुष से वह सम्बन्धित है, जिससे वह अखण्ड प्रेम की अपेक्षा करती है, जब उसे किसी अन्य नारी द्वारा विभक्त पाती है तो उसका हृदय विद्रोह कर उठता है। उसकी पुरानी मान्यताओं पर कुठाराघात होने पर वह कुंठित हो जाती है। परन्तु, इस युग की नारी को, स्त्री-पुरुष की कटुता मिटाने के लिए कोई मार्ग नहीं दिखाई देता। तलाक की सुविधा मध्ययुग में नहीं थी जो कि आज उसे प्राप्त है, परन्तु इसके कारण कई सामाजिक समस्याएं उसके समक्ष हैं। यदि बच्चे हैं, तो उनके मोह के कारण, समाज के उपहास के कारण, माता-पिता द्वारा समाज की दुहाई देने के कारण, पति के प्रभावशाली व्यक्ति होने के कारण, न्यायालय द्वारा भी अपने पक्ष में न्याय न होने की आशंका के कारण, अपनी कुलीनता के कारण, पति के विरुद्ध आरोपों का उद्घाटन न कर सकने की क्षमता के कारण, अधिक शिक्षित न होने के कारण, इस मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाती। वह अपनी घुटन, पीड़ा का साक्षात्कार किसी को नहीं बता पाती, अपने भाग्य की विडम्बना मान कर असन्तोष में सन्तोष ढूंढने का प्रयास करती है। मध्ययुगीन उपन्यासकारों की नायिकाएं परम्परागत नारी-आदर्शों को स्थिर रखने का प्रयास करती हैं। बहुपत्नी विवाह की समस्या को भी उपन्यासकारों ने महत्त्व नहीं दिया है, परन्तु यह प्रथा वर्षों तक भारत में पायी जाती रही है। 'हिन्दू मैरेज ऐक्ट' के पश्चात् ही भारत में एक पत्नी विवाह प्रणाली को प्रमुखता दी गई है।

स्वतन्त्रता के पूर्व उपन्यासों के सन्दर्भ में हमें प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि के दर्शन होते हैं। प्रेमचन्दजी साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मानते थे। वे सामाजिक समस्याओं को साहित्य के माध्यम से समाज के समक्ष रख कर उनके सुधार के लिए प्रयत्नशील दृष्टिगत होते हैं। वे समाज के कैनवास पर केवल आदर्श की तूलिका से ही पात्रों का सृजन नहीं दिखाते, क्योंकि मानव-मन विभिन्न संवेदनाओं से परिपूर्ण है। फ्रायड के अनुसार 'स्ट्रगल बिटवीन आई एण्ड मी' के संघर्ष को भी चित्रित करते हैं, जैसा कि 'सेवा सदन' के प्रथम परिच्छेद में स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार का सम्बन्ध घटनाओं के साथ-साथ हृदय के अन्तर्द्वन्द्वों से भी है। दरोगा श्रीकृष्ण बड़े सज्जन ईमानदार व्यक्ति हैं, रिश्वत को काला नाग समझते हैं, परन्तु उनके समक्ष सामने बेटी सुमन के विवाह की समस्या है, जिसके लिए उनके पास धन नहीं है। अनुचित तरीके से धन प्राप्त करने में उनकी सिद्धान्तनिष्ठा और आदर्शवादिता हिलती-सी जान पड़ती है। वे सोचते हैं, यदि यही करना था तो पच्चीस साल पहले ही क्यों न कर लिया। इससे उनकी आत्मा विद्रोह करती है। दूसरी ओर देश-काल, प्रथा और बेटी के विवाह का मोह उन्हें रिश्वत लेने की ओर प्रेरित करता है। इस मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सफल चित्रण प्रेमचन्दजी ने किया है। इसी प्रकार सुमन का पहली बार गंगा से मिलने और फिर वहाँ से घर छोड़ने की घटना का भी इन्होंने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। वेश्या बन जाने से उसके अन्दर हीनता की जो ग्रंथि

(Inferiority complex) आ गई थी उसी का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण किया है।[1]

प्रेमचन्दजी मानव-मस्तिष्क की आन्तरिक प्रतिक्रियाओं को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। डा० देवराज उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' में प्रेमचन्दजी के उपन्यास 'रंगभूमि' के पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए बताया है कि 'प्रेमचन्दजी ने एक परिच्छेद में चार मनोवैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया है—भैरों की हीनता की भावना, गजाधर की नक सलाह के पीछे छिपी विषाक्तता, भैरों का अपने आपका समर्थन करने वाला दार्शनिकता-सा तर्क, सूरदास का अपने धन की चोरी अस्वीकारना तथा गजाधर के ईर्ष्याविद्ध परोपकारी-सा दीखने वाले कर्म का स्वरूप—सब में ऐसी मनोविज्ञान की छानबीन नूतन वस्तु है।'[2]

प्रेमचन्दजीकृत 'गबन' में रमानाथ के अन्तर्द्वन्द्व को लेखक ने सूक्ष्मता से चित्रित किया है। रमानाथ का मन बार-बार कहता है अपने घर की स्पष्ट स्थिति अपनी पत्नी के समक्ष रख दे परन्तु एक बार जो अपना स्वरूप अपनी पत्नी के सामने रख चुका था, उसे भय था कहीं स्पष्टीकरण से वह अपनी पत्नी जालपा की दृष्टि से गिर न जाये। यही कारण है कि वह अन्त तक मानसिक द्वन्द्व में पड़ा रहा। उसे अपने कपटपूर्ण व्यवहार की ग्लानि सदा सालती रही। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उनके सभी प्रसिद्ध उपन्यासों में पाया जाता है, परन्तु 'गोदान' में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक बढ़ी हुई पाई जाती है। मालती और मेहता के चरित्र में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण चरम सीमा पर है। मालती और मेहता द्वारा शिक्षित समाज के संघर्षों का वर्णन है और होरी के माध्यम से ग्रामीण जनता में पायी जाने वाली समस्त कटुताओं का बड़ा सूक्ष्म चित्रण है। 'गोदान' एक भारतीय किसान की जीवन-गाथा है जिसमें सभी विशेषताएं और उसके सभी रूप विद्यमान हैं।[3] होरी किसान से मजदूर हो गया है। मातादीन की मजदूरी करके जीवन-यापन करने के लिये बद्ध है। इस पर तीन दिन के भूखे को मातादीन फुर्ती से काम करने को कहता है, उसके स्वाभिमान पर आघात होता है, वह विष का घूंट पी कर जोर-जोर से हाथ चलाता है, उसके अन्दर मानो आग-सी लगी हुई है। उसके सिर पर भूत सवार हो गया है। यह कृत्य मालिक की आज्ञा पालन हेतु नहीं है इसमें स्व-आत्मरक्षण प्रेरणा का आक्रोश है। मालिक की लगती हुई बात के उत्तर में होरी काम करते करते प्राणों

---

१ डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास (प्रथम संस्करण १९६५), पृ० १९६.

२. डा० देवराज उपाध्याय आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान (१९५६), पृ० ८२.

३ डा० इन्द्रनाथ मदान – प्रेमचन्द : एक विवेचन, (१९५५), पृ० ६६.

को गंवा देना चाहता है। वह आत्म-हनन सा दीख पड़ने वाला भाव है। यह उसी प्रकार की प्रतिक्रिया है जैसे दो बालकों में लड़ाई होने पर अपने बच्चे का दोष न होने पर भी माता अपने बच्चे को ही पीट देती है। इसमें एक प्रकार का अपनी असमर्थता का आक्रोश है। वश न चलने पर अपने को व्यक्ति आहत-सा अनुभव करता है और स्व पर आघात हुआ है, यह भी सह नहीं पाता और प्रतिक्रियास्वरूप वह अपने को ही पीड़ित करता है। स्त्रियां कभी-कभी दुःख के कारण अपनी छाती व सिर कूट लेती हैं, क्योंकि दूसरे सबल व्यक्ति पर तो वश नहीं चलता, अपनी असमर्थता का एहसास उन्हें स्वयं आक्रमण के लिये बाध्य करता है। यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' में वन्ती जब पाकिस्तान में पति-बच्चों से अलग हो जाती है और भटकती-भटकती देहली में अपने पति का घर खोज लेती है, वहां उसकी सास तथा पति उसे 'भ्रष्ट हो गई हो, हमारे काम की नहीं हो', कहते हुए स्वीकारते नहीं हैं, तो वह अपमान की पीड़ा से विक्षिप्त-सी हो जाती है और उसी दरवाजे की देहली पर अपना सिर मार-मार कर लहू-लुहान हो वहीं समाप्त हो जाती है। यह स्व-आक्रमण प्रेरणा का आवेग, उसे हीन अवस्था से मुक्त होने के लिए प्रेरित करता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य सामाजिक परिवेश में कितना कटु है, परन्तु कितना यथार्थ है। इसमें स्वयं पीड़ित होकर पीड़क को पराजित करने की भावना निहित है।

प्रेमचन्दजी फ्रायड तथा मार्क्स दोनों से प्रभावित हैं। जहां एक ओर उनकी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक चित्रण है, वहां दूसरी ओर वर्ग-संघर्ष भी दिखाया गया है, जैसे कर्मभूमि, गोदान आदि में प्रेमचन्दजी ऐसे अतियथार्थ का चित्रण नहीं करते, जिसमें कुरूपता आ जाये। उनका चित्रण यथार्थ के साथ आदर्श को लिये है, जिसे 'गोदान' आदि में देखा जा सकता है। कलाकार का उद्देश्य नग्न चित्रण करना नहीं होना चाहिये। प्रसंगवश यदि ऐसा चित्रण न्यूनाधिक रूप में हो जाये, तो वह विशेष अपराधी नहीं है जैसे 'लेडी चेटरलीज लवर' के लेखक डी० एच० लारेन्स का उद्देश्य यह नहीं है कि वह रति-प्रसंगों के चित्रण के लिए ही उस उपन्यास को प्रस्तुत करे। उपन्यास में लेडी चटर्ली की अतृप्त यौन-वासनाओं की, उसकी तत्सम्बन्धी परिस्थितियों और उसके मां बनने की शाश्वत अभिलाषा ही की अभिव्यक्ति की प्रधानता है अपने मनोवैज्ञानिक पहलू को लेकर वह उपन्यास साहित्य की सीमा में है।[1] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो उपन्यास समाज की प्राचीन रुग्ण मान्यताओं पर प्रहार करते हैं, वे स्वस्थ समाज की मान्यताओं के पक्षपाती होते हैं, वे नारी के भी समानाधिकारों को महत्त्व देते हैं।

प्रेमचन्दजी के अनुरूप प्रसादजी ने भी धर्म के नाम पर होने वाली बुराइयों को समाज के समक्ष अपने उपन्यासों के माध्यम से रखा है। प्रसाद का प्रथम

१ डा० लक्ष्मीकान्त सिन्हा—हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास (प्रथम संस्करण १९६६), पृ० १७१.

उपन्यास 'कंकाल' १६२९ में प्रकाशित हुआ। 'कंकाल' की मुख्य समस्या सामाजिक है। धर्म के नाम पर किये गये पापों का उद्घाटन है। प्रसाद पर तत्कालीन नारी-सुधार-आन्दोलन का प्रभाव दिखाई देता है। इस उपन्यास में प्रेम-विवाह तथा यौन-सम्बन्धों की समस्याओं को उठाया गया है। छायावादी लोक-जगत् का कवि इस उपन्यास में यथार्थवादी चित्र उपस्थित करने में सफल हुआ है। इस उपन्यास में धर्म के अन्धविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों तथा तत्सम्बन्धी अनेक आडम्बरों को प्रस्तुत किया है। मनुष्य अपनी कमजोरियों पर पर्दा डालने के लिए किन तर्कों का सहारा लेता है, इसे भी लेखक ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है। तारा, देवनिरंजन के भण्डारे के ढोंग को देख कर सोचती है – "भीतर जो पुण्य के नाम पर, धर्म के नाम पर, गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, उनमें वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तलों को लूटने का दृश्य बता रहा है। कि भगवान् तुम अन्तर्यामी हो।"[1] प्रसाद ने समाज की परिस्थिति को व्यक्ति और नियति के स्वरूप को तारा और घटी जैसी स्त्रियों के उत्पीड़न के स्वरूप में प्रस्तुत किया है। घटी को बाल-विधवा बताकर, विधवा-जीवन की अनेक सामाजिक मान्यताओं पर प्रहार किया है।

अपने दूसरे उपन्यास 'तितली' में प्रसाद विवाह समस्या पर विवेचन करते हैं तथा प्रेमचन्द के अनुरूप सामन्तवाद के पतन और देहाती जीवन की निर्धनता का भी चित्रण करते हैं यह उपन्यास १६३४ में प्रकाशित हुआ था। इसमें संयुक्त परिवार की बिगड़ती स्थिति का चित्रण भी किया गया है। लेखक ने इस सन्दर्भ में कहा है कि "भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की कड़ियाँ चूर-चूर हो रही हैं। वह आर्थिक संगठन अब नहीं रहा, जिसमें कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का संचालन करता हुआ, सबकी ममता का भार ठीक रखता था।"[2]

प्रसाद के मत से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक क्रान्ति से व्यक्तिगत चेतना का उदय हुआ। समाज में व्यक्ति की स्थिति जन्म से नहीं कर्म से निश्चित होने लगी। व्यक्ति जाति-प्रणाली से वर्ग-प्रणाली (फ्रोम कास्ट सिस्टम टू क्लास सिस्टम) की ओर बढ़ने लगे, इसलिए अपने को किसी सीमित घेरे में बन्द करना सम्भव न रह गया। इस उपन्यास में मधुबन और तितली का विवाह कराया जाता है। इन्द्रदेव और शैला का परिचय होता है, जिससे उन्हें अनेक सामाजिक संघर्षों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार लेखक ने प्रेम-विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता दी। 'कंकाल' में हिन्दू समाज की खोखली मान्यताओं का भी चित्रण है। स्त्री-पुरुष के प्रेम सम्बन्धों पर तथा विवाह की समस्या पर नये दृष्टिकोण से विचार किया गया। सामाजिक सम्बन्धों की विवेचना की गई है।

---

१ जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल' (वि० २०१३), पृ० ६६.

२. प्रसाद – 'तितली' पृ० १०६.

महेन्द्र चतुर्वेदी के अनुसार "उपन्यास के ताने-बाने में व्यंग्य है। पात्र-सृष्टि, घटनाओं का आयोजन, संवाद, कथानक की गति—सभी में व्यंग्य का प्रच्छन्न स्वर निहित है।"[1]

सैक्स के प्रति समाज की संकीर्ण मान्यताओं का उल्लेख भगवतीप्रसाद बाजपेयी तथा भगवतीचरण वर्मा ने किया है। बाजपेयी जी 'प्रेम-पथ' में कहीं-कहीं सदाचार की अवहेलना करते हुए दिखाई पड़ते हैं, परन्तु पतिता की साधना में विधवा, वेश्या विवाह सम्पन्न करा कर अपने प्रगतिशील विचारों का परिचय देते हैं। नारी-जीवन-सुधार आन्दोलन से वे प्रभावित जान पड़ते हैं। प्रेमचन्दजी में यथार्थ और आदर्श का जो मेल दिखाई देता है, वही उपन्यास में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। 'दो बहनें' उपन्यास में नारी-मनोविज्ञान को एक ही परिस्थिति में रखकर चित्रित किया है। मनुष्य की असमानताएं, विभिन्नताएं इसमें चित्रित हैं। 'यथार्थ से आगे' उपन्यास में प्रेम और कर्तव्य के तत्वों की प्रधानता है। समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचन करने से ज्ञात होता है कि वीरेन्द्र और हेमा को विपरीत सामाजिक परिस्थितियों से जूझना पड़ता है। हेमा को जीवन-यापन के लिए शरीर बेचना पड़ता है और वीरेन्द्र को बूट पालिश का धन्धा करना पड़ता है, परन्तु यह दोनों मानते हैं कि पाप व्यक्ति के द्वारा नहीं समाज द्वारा होता है। "परिस्थितियों के जाल में पड़कर जब मनुष्य कोई अपराध कर बैठता है तब वह वास्तव में पापी नहीं होता, क्योंकि वह परिस्थिति के जाल में फंसे हुए अवश-विवश व्यक्ति के द्वारा नहीं होता वरन् एक वर्ग विशेष के द्वारा होता है, समाज के द्वारा होता है।[2] इस उपन्यास में लेखक ने रूढ़िग्रस्त समाज पर व्यंग्य किया है, प्रहार किया है। यह एक समाजशास्त्रीय तथ्य है कि पर्यावरण मनुष्य को बहुत से कृत्यों के लिये बाध्य करता है। आर्थिक विषमताएं सामाजिक विषमताओं की जननी है, जिसका शिकार मानव अपराधी घोषित कर दिया जाता है। यह मध्यवर्गीय समाज की विडम्बना है, जिससे जीवन विशृंखलित हो जाता है। वर्माजी और बाजपेयीजी में यह अन्तर है कि जहाँ वर्माजी रूढ़िगत समाज व संकीर्णता के विरोधी हैं, वहां बाजपेयीजी कभी-कभी समाज की अवहेलना करते हुए दिखाई पड़ते हैं जैसे 'यथार्थ के आगे' में वे पूरे समाज की घुटन से ग्रस्त हैं। वर्माजी का समाज के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट है तथा इनके पात्र संघर्ष से ऊपर उठते हैं।

वर्माजी का प्रथम उपन्यास 'चित्रलेखा' १९३४ में प्रकाशित हुआ, जिसमें समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि में पाप और पुण्य का विवेचन किया गया है। पाप क्या है और उसका विकास कहाँ है? इस समस्या को लेकर 'चित्रलेखा की रचना हुई। क्या पश्चात्ताप ही पाप है? पश्चात्ताप का अस्तित्व ही पाप नाम की ग्रंथि को उद्बुद्ध

१ महेन्द्र चतुर्वेदी – 'हिन्दी उपन्यास : एक 'सर्वेक्षण' (प्र० सं० १९६२) पृ० ८६.
२. भगवतीप्रसाद बाजपेयी - यथार्थ से आगे (प्र०सं० १९५५ ई०), पृ० २०५.

करता है और पुण्य से विमुख हो जाता है। 'चित्रलेखा' में सफलता से इस शाश्वत प्रश्न का समाधान किया गया है।[1] 'चित्रलेखा' में चित्रित है कि मनुष्य न पाप करता है, न पुण्य, वह केवल वही करता है जो उसे करना पड़ता है, फिर पाप और पुण्य कैसा ? यह केवल मनुष्य की विषमता का दूसरा नाम है।[2] वर्माजी ने पाप को परिस्थिति सापेक्ष माना है। व्यक्ति के कृत्य पर उसकी परिस्थितियों का दबाव होता है। इसी के कारण वह पाप करने को बाध्य होता है। यह सत्य है कि भूखा व्यक्ति साधनहीन होने पर चोरी करेगा, क्योंकि पेट की आग प्रबल होती है। इसी प्रकार जब अभिलषित नहीं प्राप्त होता है, तो उसके लिये मनुष्य कई प्रकार के असामाजिक कार्य करते हैं, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

'चित्रलेखा' के समकक्ष एक नवीन रचना का जन्म हुआ, वह है जैनेन्द्र की 'सुनीता'। जैनेन्द्र अपनी यथार्थोन्मुखी शैली लेकर हिन्दी साहित्य मे अवतरित हुए। उन्होंने सामाजिक समस्याओं मे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का सहारा लिया है। एक ओर वे समाज के प्रति विद्रोह के पक्षपाती नही, दूसरी ओर समस्त सामाजिक व्यवस्था और मान्यताओं को स्वीकारते भी नही। विवाह भी उनके निकट एक ग्रंथि है। इनके सम्पूर्ण सामाजिक विचार दर्शन मे अन्तर्विरोधी स्थितियाँ हैं जो उनके कुंठाग्रस्त व्यक्तित्व तथा रहस्यवादी विचारधारा का परिणाम है।[3] जैनेन्द्र व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। जैनेन्द्र नवीन युग का संकेत देते हैं कि समाज से अधिक महत्त्व व्यक्ति का है तथा उसी दृष्टि से सामाजिक मूल्यों का मूल्यांकन होना चाहिये। जैनेन्द्रजी की व्यक्तिवादी विचारधारा, आगामी युग के उपन्यासकारों के सामाजिक विचार-दर्शन का संकेत देती है।[4]

निराला जी के उपन्यासों मे भी सामाजिक चित्रण मे व्यक्ति की प्रधानता है। 'अप्सरा' नामक इनका पहला उपन्यास १९३१ में प्रकाशित हुआ। इसमे वेश्या-पुत्री का वर्णन है, जो प्रेम और विवाह के क्षेत्र मे उन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत है जिनसे कि कुलीन स्त्रियाँ। अप्सरा पर तत्कालीन नारी-सुधार आन्दोलन का प्रभाव है तथा राजाओं की विलासिता का वर्णन है। इनके दूसरे उपन्यास 'अलका' मे जमीदारों के अत्याचारों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन है। इस उपन्यास पर राजनैतिक-सामाजिक आन्दोलनों का प्रभाव है। 'निरुपमा' में, गावों के जमीदार तथा पद-

---

१. अरविन्द गुर्टू–हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग (प्र०स० १९६९), पृ० ३४,
२. भगवतीचरण वर्मा–चित्रलेखा (प्र०सं० १९३४), पृ० १९४.
३ चण्डीप्रसाद जोशी–हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन (प्र०स० ११६२) पृ० १८६.
४. चण्डीप्रसाद जोशी - हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १८[illegible]

लिखे लोगों की बेरोजगारी की समस्या का चित्रण है। यह एक ऐसी सामाजिक समस्या है जिसमें पढ़े-लिखे कुलीन युवक यदि निम्न श्रेणि कार्यों के द्वारा अपनी आजीविकोपार्जन के लिए करता है तो समाज उन्हें भी हीन दृष्टि से देखने लगता है। उपन्यास का नायक कृष्ण कुमार कान्यकुब्ज ब्राह्मण है। लन्दन से पढ़ के भी वे डी० लिट्० करके आया है। नौकरी न मिलने पर जूतों पर पालिश करता है। यह गांधीवादी युग का प्रभाव है। श्रम की महत्ता है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से लोग इसे अनुचित कार्य समझते हैं। 'दिनेश्पुर मरगिहा' (१९४५) उपन्यास में गाँव का चित्रण है। बंगाल के जमींदारों व महाजनों का वर्णन है, जो सामाजिक शोषण को जन्म देते हैं। सामाजिक असमानताओं और कुरीतियों से व्यक्ति-हृदय की अवहेलना है। 'ममता' उपन्यास में सामाजिक असमानता के कारण एक अनाथ अनाथ शहरी जीवन की विषमताओं का सामना करती हुई अन्त में मन्दिर में पहुँच जाती है। लेखक ने स्त्रियों के त्याग की भावना को पहचाना है तथा उसी का सुन्दर चित्रण किया है।

वृन्दावनलाल वर्मा प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं और अधिकतर बुन्देलखण्ड की प्रकृति तथा वहाँ के मनुष्यों की सजीवता का वर्णन करते हैं। उनके उपन्यासों में राजनीतिक समस्याओं को उठाया गया है, किन्तु इन राजनीतिक समस्याओं ने कई धार्मिक-सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया है जैसे 'मृगनयनी' में अटल और लाखी के विवाह ने अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को जन्म दिया। बोधन हिन्दू है। वह इस्लाम धर्म ग्रहण नहीं करता, मृत्युदण्ड स्वीकार कर लेता है। बोधन लाखी और अटल को क्षमा कर देता है। यह अनुभव करने लगता है कि जातीय भेद-भाव सामाजिक विकृतियों का परिणाम है जिससे ज्ञात होता है कि बोधन की दृष्टि में विधर्म के लिए कोई स्थान नहीं। 'हिन्दी उपन्यास' में इसकी पुष्टि इस रूप में की गई है—'विजय जो लेखक के विचारों का वाहक है लाखी-अटल के विवाह में पुरोहित बनने का प्रस्ताव रखता हुए भविष्यवाणी करता है कि समाज की परिवर्तित परिस्थिति में अन्तर्जातीय विवाह को वैध मान लेना चाहिये।'[1] इस कथन से प्रगतिशील विचारधारा स्पष्ट होती है। राजनीतिक परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन से सामाजिक मान्यताओं में समाजशास्त्र की दृष्टि से परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। बोधन के विचारों में इस्लाम धर्म के प्रति उपेक्षा तथा अन्तर्जातीय विवाह के बीजारोपण के दर्शन होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त वर्माजी ने कुछ सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं, जैसे 'प्रेम की भेंट' और 'अचल मेरा कोई' आदि। 'प्रेम की भेंट' में गूढ़ तथा आधुनिक प्रेम पद्धति का यथार्थवादी दृष्टिकोण है, तथा 'अचल मेरा कोई' में कुन्ती, सुधाकर तथा अचल के सम्बन्धों का चित्रण है। अचल, कुन्ती का संगीत शिक्षक है, उसका स्नेह भाजन है, परन्तु कुन्ती का विवाह सुधाकर

१. डा० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास (प्र० सं० १९६१), पृ० ३४५.

से हो जाता है और अचल निशा नामक विधवा से विवाह करता है। कुन्ती का अचल से अधिक मेल-जोल देखकर सुधाकर अनुचित सम्बन्ध का सन्देह कर लेता है, जिसके कारण कुन्ती आत्महत्या कर लेती है और एक कागज पर 'अचल मेरा कोई ·· ' लिख देती है। उपन्यास में स्त्री पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है तथा विधवा विवाह की सामाजिक समस्या को सुलझाने का लेखक ने प्रयास किया है। वर्मा जी ने 'अमर बेल' नामक उपन्यास म स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् गाँव म नवीन तथा प्राचीन सस्कृतियो की टकराहट म उत्पन्न हुई समस्याओ का वर्णन है, जिसका सम्बन्ध जमीदारी प्रथा के अलावा सहकारिता आन्दोलन, ग्राम पचायत आदि से है। गाँव के विरोधी तत्वो और सरकारी अफसरो की रीति नीति का वर्णन किया है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सरकारी अफसरो को जनता का पूर्ण सहयोग न मिलने का कारण व्यक्तिगत धारणाएँ हैं, जैसे पचायत समिति की ओर से गाव वालो को दैनिक जीवन म कई प्रकार के परिवर्तन लाने की सरकारी अधिकारी सुझाते हैं। उदाहरणार्थ गोबर की खाद ही बनायें उपले बना कर न जलायें। परन्तु, दूध गर्म करने तथा हुक्का पीने मे उपले की आग, गाव वालो की दृष्टि मे अधिक उपयोगी तथा सुविधाजनक है, इसलिए वह गोबर को खाद के लिए सडाना उचित नही मानते। इस प्रकार सरकारी अधिकारियों को अपनी नीति का पालन करवाने मे कठिनाई होती है।

कई राजनीतिक समस्याएँ सामाजिक समस्याओ को उत्पन्न करती हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' एतिहासिक उपन्यास हैं, जिसमे नारी की गरिमा की स्थापना की गई है। इसमे गाधार से लेकर मगध तक की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक विवेचना है। लिच्छिवि सघ की राजधानी वैशाली के विलासी परिप्रेक्ष्य मे रहते हुए भी अम्बपाली (वहाँ की श्रेष्ठ सुन्दरी, जिसे नगर-वधू बनना पडा था) का चरित्र महिमा से मडित है। बौद्धकालीन भारत की सामाजिक स्थिति मे अम्बपाली स्वतन्त्र रहने के लिए सघर्ष करती है। इसमे आधुनिक युग के नारी-आन्दोलन का पूर्वाभास है। अम्बपाली के व्यक्तित्व मे परम्परा के प्रति विद्रोह है, जो शास्त्री जी की आधुनिकता का प्रतीक है। अपने दूसरे उपन्यास 'सोमनाथ महालय' (१९५४) मे शास्त्री जी ने महमूद गजनवी में मनुष्यत्व की स्थापना का प्रयास किया है जो गाँधीवादी युग का प्रभाव है। महमूद के साथ शोभना का सम्बन्ध मानवतावादी सिद्धात का प्रतिपादन करता है, जो शास्त्री जी के विशाल दृष्टिकोण का द्योतक है। 'वय रक्षाम' (दो भाग १९५५) मे, रावण-सूर्पणखा के सवाद के माध्यम से तत्कालीन नारी-विवाह की मान्यताओं पर प्रकाश डाला है तथा ससार की जातियो की विभिन्नताओं का वर्णन है और विवाह की पद्धतियो मे अपहरण पद्धति का भी वर्णन किया है जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योकि जहाँ समाज में स्त्रियों की सख्या पुरुषो से कम होती है, वहाँ यह प्रथा पाई जाती है। वधू प्राप्ति के लिए आदिम जातियो मे यह प्रथा प्रचलित थी।

शिक्षित लोगों की बेरोजगारी की समस्या का चित्रण है। यह एक ऐसी सामाजिक समस्या है जिसमें पढ़े-लिखे कुलीन युवक यदि निम्न जाति वालों के कार्य अपनी जीविकोपार्जन के लिए करता है तो समाज उन्हें भी हीन दृष्टि से देखने लगता है। उपन्यास का नायक कृष्ण कुमार कान्यकुब्ज ब्राह्मण है। लन्दन से अंग्रेजी में डी० लिट्० करके आया है। नौकरी न मिलने पर जूतों पर पालिश करता है। यह गांधीवादी युग का प्रभाव है। श्रम की महत्ता है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से लोग इसे अनुचित कार्य समझते हैं। 'बिल्लेसुर बकरिहा' (१९४१) उपन्यास में गाँव का चित्रण है। बंगाल के जमींदारों के अत्याचारों का वर्णन है, जो सामाजिक असंतोष को जन्म देते हैं। सामाजिक असमानताओं और कुरीतियों ने कवि-हृदय को झकझोरा है। 'अप्सरा' उपन्यास में सामाजिक असमानता के कारण एक असहाय अनाथ लड़की जीवन की विषमताओं का सामना करती हुई अनेक संकटों में पड़ जाती है। निराला ने स्त्रियों के त्याग की भावना को पहचाना है तथा उसी का मोहक चित्रण किया है।

वृन्दावनलाल वर्मा प्रमुखतः ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं और अधिकतर बुन्देलखण्ड की प्रकृति तथा वहाँ के मनुष्यों की मनोदशा का वर्णन करते हैं। उनके उपन्यासों में राजनीतिक समस्याओं को उठाया गया है, किन्तु इन राजनीतिक समस्याओं ने कई धार्मिक-सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया है जैसे 'मृगनयनी' में अटल और लाखी के विवाह ने अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को जन्म दिया। बोधन हिन्दू है। वह इस्लाम धर्म ग्रहण नहीं करता, मृत्यु-दण्ड स्वीकार कर लेता है। बोधन लाखी और अटल को क्षमा कर देता है। वह अनुभव करने लगता है कि जातीय भेद-भाव सामाजिक विकृतियों का परिणाम है जिससे ज्ञात होता है कि बोधन की दृष्टि में विधर्म के लिए कोई स्थान नहीं। 'हिन्दी उपन्यास' में इसकी पुष्टि इन शब्दों में की गई है—'निश्चय ही लेखक के विचारों का वाहक है लाखी-अटल के विवाह में पुरोहित बनने का प्रस्ताव रखते हुए भविष्यवाणी करता है कि समाज की परिवर्तित परिस्थिति में अन्तर्जातीय विवाह को वैध मान लेना चाहिये।'[1] इस कथन से आधुनिक विचारधारा ध्वनित होती है। राजनीतिक परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन से सामाजिक मान्यताओं में समाजशास्त्र की दृष्टि से परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। बोधन के विचारों में इस्लाम धर्म के प्रति उपेक्षा तथा अन्तर्जातीय विवाह के बीजारोपण के दर्शन होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त वर्माजी ने कुछ सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं, जैसे 'प्रेम की भेंट' और 'अचल मेरा कोई' आदि। 'प्रेम की भेंट' में शुद्ध तथा आधुनिक प्रेम पद्धति का यथार्थवादी दृष्टिकोण है, तथा 'अचल मेरा कोई' में कुन्ती, सुधाकर तथा अचल के सम्बन्धों का अंकन है। अचल, कुन्ती का संगीत शिक्षक है, उसका स्नेह भाजन है, परन्तु कुन्ती का विवाह सुधाकर

---

१. डा० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास (प्र० सं० १९६१), पृ० २४५.

से हो जाता है और अचल निशा नामक विधवा से विवाह करता है। कुन्ती का अचल से अधिक मेल-जोल देखकर सुधाकर अनुचित सम्बन्ध का सन्देह कर लेता है, जिसके कारण कुन्ती आत्महत्या कर लेती है और एक कागज पर 'अचल मेरा कोई ... ' लिख देती है। उपन्यास मे स्त्री पुरुष के सामाजिक सम्बन्धो पर प्रकाश डाला गया है तथा विधवा विवाह की सामाजिक समस्या को सुलझाने का लेखक ने प्रयास किया है। वर्मा जी ने 'अमर बेल' नामक उपन्यास मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् गाँव मे नवीन तथा प्राचीन सस्कृतियो की टकराहट म उत्पन्न हुई समस्याओ का वर्णन है, जिसका सम्बन्ध जमीदारी प्रथा के अलावा सहकारिता आन्दोलन, ग्राम पचायत आदि से है। गाँव के विरोधी तत्वो और सरकारी अफसरो की रीति नीति का वर्णन किया है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सरकारी अफसरो को जनता का पूर्ण सहयोग न मिलने का कारण व्यक्तिगत धारणाएँ हैं, जैसे पचायत समिति की ओर से गाव वालो को दैनिक जीवन म कई प्रकार के परिवर्तन लाने को सरकारी अधिकारी सुझाते हैं। उदाहरणार्थ गोबर की खाद ही बनायें, उपले बना कर न जलायें। परन्तु, दूध गर्म करने तथा हुक्का पीने मे उपले की आग, गाव वालो की दृष्टि मे अधिक उपयोगी तथा सुविधाजनक है, इसलिए वह गोबर को खाद के लिए सडाना उचित नही मानते। इस प्रकार सरकारी अधिकारियों को अपनी नीति का पालन करवाने मे कठिनाई होती है।

कई राजनीतिक समस्याएँ सामाजिक समस्याओ को उत्पन्न करती हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जिसमे नारी की गरिमा की स्थापना की गई है। इसमे गान्धार से लेकर मगध तक की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक विवेचना है। लिच्छिवी सघ की राजधानी वैशाली के विलासी परिप्रेक्ष्य मे रहते हुए भी अम्बपाली (वहाँ की श्रेष्ठ सुन्दरी, जिसे नगर-वधू बनना पडा था) का चरित्र महिमा से मडित है। बौद्धकालीन भारत की सामाजिक स्थिति मे अम्बपाली स्वतन्त्र रहने के लिए सघर्ष करती है। इसमे आधुनिक युग के नारी-आन्दोलन का पूर्वाभास है। अम्बपाली के व्यक्तित्व मे परम्परा के प्रति विद्रोह है, जो शास्त्री जी की आधुनिकता का प्रतीक है। अपने दूसरे उपन्यास 'सोमनाथ महालय' (१९५४) मे शास्त्री जी ने महमूद गजनवी मे मनुष्यत्व की स्थापना का प्रयास किया है जो गाँधीवादी युग का प्रभाव है। महमूद के साथ शोभना का सम्बन्ध मानववादी सिद्धात का प्रतिपादन करता है, जो शास्त्री जी के विशाल दृष्टिकोण का द्योतक है। 'वय रक्षाम' (दो भाग १९५५) मे, रावण-सूर्पणखा के सवाद के माध्यम से तत्कालीन नारी-विवाह की मान्यताओ पर प्रकाश डाला है तथा ससार की जातियो की विभिन्नताओ का वर्णन है और विवाह की पद्धतियों मे अपहरण पद्धति का भी वर्णन किया है जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जहाँ समाज मे स्त्रियो की सख्या पुरुषो से कम होती है, वहाँ यह प्रथा पाई जाती है। वधू प्राप्ति के लिए आदिम जातियो मे यह प्रथा प्रचलित थी।

राहुल सांकृत्यायन की पारिवारिक और वैवाहिक जीवन के प्रति नवीन विचारधाराएँ हैं। उन्होंने उन्मुक्त भोग को प्रश्रय दिया है। 'सेनापति, उपन्यास में राहुल जी गणतन्त्रात्मक सामाजिक विधान में युग की स्वच्छन्दता-नारी का स्वतन्त्रता, श्रम की गरिमा, सम्पत्ति पर समान अधिकार का यशोगान करते हैं।'[1] राहुलजी राजतन्त्र प्रणाली के विरोधी हैं। वे लिखते हैं 'राजतन्त्र नर-नारियों का बन्दीगृह है।'[2] राहुलजी के उपन्यासों में बौद्ध धर्म तथा मार्क्स दोनों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से बौद्ध धर्म की समानता तथा मार्क्स की समाजवादी प्रवृत्तियों, जिनके अनुसार मनुष्यों के समान अधिकार होने चाहिए, तथा मार्क्स के वर्ग-विहीन समाज (Classless Society) का प्रतिपादन किया है। राहुलजी ने अपने उपन्यास 'जय यौधेय' में यौधेय गण शासन व्यवस्था तथा आर्थिक व्यवस्था को आज की पूँजीवादी व्यवस्था से अधिक महत्ता दी है। यह उपन्यास समाजवादी प्रवृत्ति की शृंखला की एक कड़ी है।[3] इस उपन्यास में आजकल की प्रचलित जातियों अग्रवाल, श्रीमाल, ओसवाल, रस्तोगी आदि—की यौधेय जाति की सन्तान माना है। नायक जय ने गण सभ्यता की रक्षा के लिए नर नारी, दास, स्वामी, यौधेय, अयौधेय, शिल्पी, वणिक को समान अधिकार दिलाने के लिए भागीरथ प्रयास किया और जीवन की बहुमुखी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए अविराम संघर्ष किया।[4]

राहुलजी ने अपने उपन्यास 'मधुर स्वप्न' में साम्यवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया तथा सामन्ती शासन की विलासिता एवं अत्याचारों का चित्रण किया है। इस उपन्यास में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि समाज के उत्कर्ष के लिए समता का होना आवश्यक है। अनेक स्थलों पर श्रम की समता, उत्पादन की समता, भोग की समता का प्रतिपादन है। इसमें बहुजन हिताय बहुजन सुखाय के स्वर की प्रधानता है।[5] विवाह प्रथा के सम्बन्ध में उनकी अपनी धारणा है। वे नारी और सन्तान को समाज मानते हैं। 'हम स्त्री को सम्पत्ति नहीं मानते' मजदक के इस कथन से लोग मजदक पर यह आरोप लगाते हैं कि वह विवाह प्रथा को हटा कर, स्त्री को सभी पुरुषों के लिए मुक्त करना चाहते हैं, परन्तु मिथवर्मा इसका संशोधन करते हुए कहते हैं 'सभी के लिए नहीं किन्तु स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में आज जो धारणा है उसमें वह प्रबन्ध परिवर्तन करना चाहते हैं।'[6] विवाह की

---

१. राहुल सांकृत्यायन—'सिंह सेनापति' (प्र० सं० १९५७), पृ० १०४.
२. वही, पृ० १०४.
३. डा० सुषमा धवन—हिन्दी उपन्यास (प्र० सं० १९६१), पृ० ३६६
४. वही, पृ० ३७१.
५. वही, पृ० ३७३.
६. राहुल सांकृत्यायन—'मधुर स्वप्न', (प्र० सं० १९५०), पृ० २०.

विविध प्रथाओं के अन्य देशों के उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि इसके नियम शाश्वत नहीं। इस प्रथा के अनेक स्वरूप हैं जैसे पीरू, प्राचीन मिश्र तथा बर्शियाम मे सहोदरा भगिनी से विवाह करने की प्रथा पाई जाती थी। परन्तु, भारत के लिए राहुल जी की मान्यताएँ समाज विरोधी मानी जायेंगी क्योंकि यह समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार के अस्तित्व की नींव हिलाने वाली है। रूस आदि देशों मे सन्तान के व्यक्तित्व के विकास का दायित्व राज्य पर है, परन्तु भारत मे यह सम्भव नहीं और ऐक्य विवाह पद्धति के लिए भी स्थान नहीं रहेगा और कुछ हद तक यौन-स्वच्छन्दता (Promiscuity) की स्थिति उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है राहुलजी लिखते हैं—'दुनिया मे दुखों को दूर करने के लिए मनुष्य मात्र मे समता हो—भोगों की समता, कामों की समता स्थापित करना ही एक मार्ग है।'[1]

राहुलजी बहुजन हिताय के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं जो समाज के लिए कल्याणकारी है, परन्तु उनकी नारी सम्बन्धी धारणा अथवा भोग की समता की जो कल्पना है वह भारतीय समाज की पीठिका मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि इसे लोग यौन-स्वच्छन्दता के रूप मे देखेंगे, जो भारतीय सभ्यता मे अनाचार माना जाता है। 'मानवता के विकास और सभ्यता के इतिहास का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि जिज्ञासा, ज्ञान और एकनिष्ठा, मनुष्य के उच्चतम स्वभाव के द्योतक हैं। सम्मिलित पत्नी का सिद्धान्त इन तीनों के विरुद्ध है। अतएव वह मानवीय चेतना के विकास का चरम आदर्श नहीं हो सकता। भोगवाद के साथ मेरा-तेरा का निषेध सम्भव नहीं है, क्योंकि भोगों मे मनुष्य अपने अहं के विस्तार के साथ प्रवृत्त होता है। पत्नी और पुत्र के सम्बन्ध मे भी उसके अहं के विस्तार का ही प्रतिफल है। जिज्ञासा और ज्ञान की मौलिक वृत्ति उसे सदा ही अपनी पत्नी और पुत्र को पहचानने की ओर प्रवृत्त करती रहेगी। मेरा-तेरा की भावना का निषेध केवल विवाह प्रथा के निषेध से सम्भव नहीं, उसके लिए भोगवादी जीवन दर्शन का निषेध करना होगा जो राहुलजी को कभी स्वीकार नहीं।'[2]

राहुलजी ने वर्षों से चली आ रही विवाह की प्रथा पर प्रहार किया है। वे कहते हैं—'सारा देश तब तक कुटुम्ब नहीं बन सकता, जब तक विवाह प्रथा मौजूद है।'[3] विवाह की जो धारणा राहुलजी की है, चाहे उसे समाज मान्यता न दे, परन्तु यह तो सत्य है कि इस प्रथा के जो शाश्वत मूल्य माने जाते थे उनमें शिथिलता तो आ रही है।

---

१. राहुल सांकृत्यायन—मधुर स्वप्न' (प्र० स० १९५०), पृ० २८१ (१८१).
२. 'आलोचना', अंक ४, पृ. १०३-४.
३. राहुल सांकृत्यायन—'विस्मृत यात्री', (प्र० स० १९५५), पृ. ३७१.

सामाजिक तत्त्वों से ओत-प्रोत आधुनिक आंचलिक उपन्यासों में भी सामाजिक रूढ़ियां, परम्पराओं के स्वरूप तथा आधुनिक युग से प्रभावित परिवर्तन परिलक्षित होता है। इसमें समय-समय के समाज की वेश-भूषा, जन-रीतियाँ (Folk ways), जन-गीत (Folk songs) आदि का अंकन रहता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से इनका यह भी महत्त्व है। कि यह उच्च वर्ग का अथवा मध्यवर्ग का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते वरन् निम्न वर्ग के विचारों के भी वाहक हैं। 'आंचलिक उपन्यास, साहित्य दर्पण के वे प्रतिबिम्ब है, जो राजनीति में लोकतन्त्र भावना की प्रतिष्ठा करते हैं। ऐसे उपन्यासों में छोटे लोगों की भी महानता और रुचिरता के दर्शन होते है।'[1] इन उपन्यासों की प्रेरणा, हिन्दी उपन्यासकारों ने, चाहे हार्डी और हेमिंग्वे से ली हो पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से जो व्यक्तिवादी स्वर के साथ समष्टि का समन्वय है, यह मौलिक प्रयास है। आंचलिकता के बीजारोपण हम प्रेमचन्दजी के 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गोदान' आदि में देख सकते हैं, परन्तु वह समस्या प्रधान होने के कारण मानवीय संवेदना को ही अधिक मुखरित करते हैं, आंचलिकता को नहीं। 'रंगभूमि' में गाँव के चमारों द्वारा मरी हुई गाय का मांस खाना और बाद में अमरकान्त की प्रेरणा से छोड़ देने वाली घटना वहाँ की जघन्य परम्परा का यथार्थ चित्रण है। सुखदू, मुन्नी, सलोनी आदि के चित्रण में अन्य ग्रामीणों की भाँति अंधविश्वास, सरलता स्पष्ट दिखाई देती है। मातादीन का सिलिया के साथ रहने लगना, होरी की लड़की रूपा का रामसेवक के साथ विवाह, सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का परिणाम हैं। नागार्जुन के 'बलचनमा' (१९५२) उपन्यास में, जमींदारी प्रथा का शिकार बलचनमा परिस्थिति के अनुरूप बदलता जाता है। इस परिवर्तन का कारण सामाजिक पृष्ठभूमि है। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' में बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज नामक गाँव का अंकन है, वहाँ के जन-जीवन का अंकन है, जहाँ डा० प्रशान्त मलेरिया दूर करने के लिए आता है, परन्तु वह विश्वनाथप्रसाद तहसीलदार की बेटी कमला से गांधर्व विवाह कर लेता है। उसके लड़का होना है। गाँव के लोग तरह तरह की बातें करते हैं, परन्तु तहसीलदार के भोज करने तथा लोगों को जमीन वापस लौटाने से उसी के गुणगान करने लगते हैं—'समरथ को नहीं दोष गुसाईं' वाली नीति है। उपन्यास में जन-रीतियों (Folk ways), लोकोक्तियों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग है। गाँव की पुरानी मिट्टी पर शहर की नयी धूल बिछाकर नये ढंग से मिट्टी काटने की कोशिश की है, जिसमें एक नई आकृति, नई डिजाइन, नया माडल, सो भी इतिहास के विशेष कालक्रम के सन्दर्भ में रुचिकर है, मन भावन है, लेकिन उसका कोई सुनिश्चित उद्देश्य नहीं है।'[1]

---

१. डा. लक्ष्मीकान्त सिन्हा—हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास (प्र० सं. १९६६), पृ. ३१५

'परती परिकथा' भी पूर्णिया जिले के पुरानपुरा गाँव की कथा है। इसमें गाँव वाले प्रभावशाली राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भूदान आन्दोलन में सम्मिलित देखकर भूदान करते हैं (उद्देश्य की उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर नहीं, प्रदर्शन की भावना के कारण, जो मानव की स्वार्थवृत्ति की द्योतक है)। समाजशास्त्रीय दृष्टि से इन उपन्यासों (मैला आँचल, परती परिकथा) में वर्ग-संघर्ष नहीं है, परन्तु शोषण की स्थितियों का चित्रण है तथा उनके विरुद्ध आक्रोश का चित्रण है।

डा० रामविलास शर्मा रेणु की 'परती परिकथा' की तुलना इलियट के 'वेस्ट लेण्ड्स' से करते हैं और उसके चरित्रों को 'वेस्ट लेण्डस' के मनुष्यों की तरह पुरुषत्वहीन समझते हैं। साथ ही वे 'परती परिकथा' की जनता को प्रेमचन्द की जनता से बिल्कुल भिन्न मानते हैं।[१]

पाश्चात्य उपन्यासकार, मनुष्य को विषय न बनाकर परिस्थिति और बाह्य एवं आन्तरिक घटनाओं को उपन्यास का विषय बनाते हैं। रेणु इस ह्रासोन्मुख परम्परा से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाये, लेकिन एक क्रान्तिकारी उपन्यासकार की तरह उन्होंने परिस्थितियों के माध्यम से (पात्रों) जितेन, 'ताजमनी', 'मलारी' आदि को पुनः कलात्मक रूप से स्थापित करने का प्रयास किया है।

मिथिला के निरन्तर बदलते गाँव की गाथा का प्रस्तुतीकरण 'मैला आँचल' में किया गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् वहाँ एक ऐसी उथल-पुथल मच गई है, जिसने जीवन को झकझोर दिया है। प्रशान्त कहता है—'मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती से प्यार के पौधे लहलहायेंगे। मैं साधना करूँगा। ग्रामवासिनी भारत-माता के मैले आँचल तले कम से कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये होठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ। उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ।'[२] डा० प्रशान्त के मलेरिया सम्बन्धी अनुसंधान हेतु एक अस्पताल खोलने से आधुनिकता के सारे सामाजिक सम्बन्ध नए परिवेश में दिखाई देने लगते हैं। जीवन की समस्त कटुता, तिक्तता, विकृति, स्वार्थपरता, साम्प्रदायिक भावना, तथा रूढ़िवादिता, सरलता और अज्ञानता का अंकन पाया जाता है।

नवीन जीवन की समस्याओं ने पुरानी मान्यताओं में उथल पुथल मचा दी है। पुराने मान चरमरा कर ढहने लगे हैं। 'मैला आँचल' युगजन्य दबाव के फलस्वरूप बदलते गाँव का चित्र उपस्थित करता है। "इसमें 'गोदान' जैसी क्लासिक तस्वीर

---

१. 'समालोचक', अगस्त १९५९, पृ० ७

२. फणीश्वरनाथ रेणु-'मैला आँचल', (प्र० सं० १९५४), पृ० ४२४,

नहीं है जो युगों तक मिटती नहीं है। 'मैला आंचल' के पात्र एक युग की उपज हैं, जो जितनी तेजी से आते हैं उतनी तेजी से गतिचक्र में विलीन हो जाते हैं। गोदान के 'होरी' और 'धनिया' अजन्ता के भित्ति चित्रों की भांति हैं, जो सैकड़ों वर्षों बाद भी उतने ही प्राणवान और जीवन्त बने हुए हैं, परन्तु रेणु जी के उपन्यासों में युग-चेतना मुखरित है।'[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रतापूर्वक हिन्दी उपन्यासों के क्रमिक विकास में सामाजिक पृष्ठभूमि उभरने लगी थी, जो प्रारम्भिक उपन्यासों में नहीं थी प्रारम्भिक उपन्यासों में सामाजिक पक्ष उजागर नहीं था। इसी से युग-चेतना के दर्शन नहीं होते। जासूसी, एय्यारी उपन्यासों का उद्देश्य मनोरंजन तथा कौतूहल का उद्रेक करना था। क्रमशः युग के चित्र उपन्यासों में उभरने लगे। प्रेमचन्द के उपन्यासों में युग-जीवन का स्फुरण हुआ तथा भाव जगत् और वस्तु जगत् का समन्वय उन्होंने किया। राष्ट्रीय आन्दोलन, मध्यवर्ग और ग्राम्य जीवन पर उन्होंने प्रकाश डाला और भारतीय जन-जीवन के मानस की हलचल स्पष्ट रूप से सामने आई।

प्रेमचन्दोत्तर युग में मानव-चेतना कई आयामों में व्यापक हुई। मार्क्स तथा फ्रायड की चिन्तनधारा ने तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को नवीन दिशा प्रदान की। मानव मन की असत्य आकांक्षाएं, विषमताएं, कुंठाएं उपन्यासों के माध्यम से प्रकट होने लगीं, जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। आज उपन्यासों में घटना अथवा व्यक्ति का विवेचन ही नहीं होता वरन् मानव के अन्तर्मन तथा सजग सामाजिक चेतना का उद्घाटन किया जाने लगा है।

(ग) साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की समीचीनता

साहित्य की विविध विधाओं पर एक विहगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि साहित्य में जन-जीवन की पारिवारिक, नैतिक, धार्मिक मान्यताओं तथा उनके विधानों का रागात्मक उल्लेख है। साहित्य का प्रयोजन केवल मनोगत या शिल्पगत वैचित्र्य न होकर अपने माध्यम से समाज में होने वाले आवर्तन परिवर्तन से विलोड़ित जनता की सभ्यता-संस्कृति का प्रकटीकरण है। साहित्य का सही मूल्यांकन तभी सम्भव हो सकता है, जबकि साहित्य के सामाजिक अर्थ और उपयोग को भलीभांति समझा जाय। इस अर्थ एवं उपयोगिता को समझने के लिये हमें समाज की स्थिति का विश्लेषण करना होगा।

ने१.मीचन्द्र जैन—'अधूरे साक्षात्कार' (प्र० सं० १९६६), पृ० ४२.

साहित्य की समस्त विधाएं समाज या काल सापेक्ष हुआ करती हैं उपन्यास साहित्य जीवन के अधिक निकट है। अत सामाजिक तर्क और उपयोग का क्षेत्र उपन्यास मे विस्तृत है, साहित्य की अन्य विधाओं म नहीं। उपन्यास मे इतना सामर्थ्य है कि पात्रो की कहानी सामाजिक बनकर मानव मन को गम्भीरता से प्रभावित करती है, विपमताओं और आवश्यकताओं का जीवन्त चित्रण होता है।

ससार परिवर्तनशील है। स्थिरता जडता का चिह्न है और साहित्य इस परिवर्तनशील समाज का बिम्ब है। प्रत्येक युग की अपनी मान्यताएँ रही हैं। इमी से विभिन्न युगों मे भिन्न-भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती रही है। नवीन युग के साथ नवीन विचारधारा जन्म लेती है। नवीन मानव-मूल्य स्थापित होते है, परन्तु यह सामाजिक मूल्य जीर्ण वस्तुओं की तरह नही बदल जा सकते क्योंकि यह व्यक्ति और समाज के जीवन मे इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि ऊपर से देखकर जानकरी प्राप्त करना कठिन होता है, परन्तु इनका प्रभाव बना रहता है। साहित्य के आदर्श अपेक्षित रूप से परिवर्तित होते रहते हैं। इनमे कोई विभाजक रेखा खींचना कठिन है। कब कौन-सा आदर्श विलीन हुआ और कब आरम्भ हुआ ? मानव अपने व्यक्तिगत जीवन की धारणाओं और सस्कारो के अनुसार मान्य-मूल्यो और आदर्शों का अनुसरण करता है। जिस किसी भाव मे जीवन की गरिमा का अनुभव कर हम उसे अपना लेते हैं उसी की प्राप्ति मे कभी-कभी हम अपने व्यक्तिगत सुखो तक का भी बलिदान कर प्रसन्न होते हैं।[1] व्यक्ति के मन म विभिन्न भावों के घात-प्रतिघात की हलचल मची रहती है, और वह प्रयत्न करने पर भी उस घेरे से निकल नहीं पाता।

मानव मन के भावों मे जटिलता, तथा वैचित्र्य पाया जाता है। मानव मे विलक्षण उत्थान-पतन हमेशा होता रहता है। वह सभी समय एक समान नही बने रह सकता, अन्तर्जगत का परिवर्तन, मानव के बाह्य रूप मे भी परिवर्तन लाता है। जिन भावो की प्रेरणा से वह कार्य करता है वे अन्य लोगो की दृष्टि मे आवश्यक नही होते, उचित नही होते, क्योंकि समाज बाहरी जीवन से व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। उपन्यासकार बाह्य जीवन के साथ-साथ अन्तर्जगत का भी उद्घाटन करता है। शरत् बाबू के 'देवदास' का, जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल का, नरेश मेहता के यह पथ बन्धु था' के श्रीधर का, अन्तर्जगत ही यथार्थ है। उसी के दर्शन हमारे मन को कहीं छू जाते हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज के सम-विषम दोनों पक्षो का सतुलित चित्रण होना चाहिये। मानव के अन्तर्जगत और बाह्य जगत् दोनों का प्रकटीकरण

---

१ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी - हिन्दी कथा साहित्य (प्र०स० १९५१), पृ० १००.

आवश्यक है। विषमताओं के अंक में पल्लवित मानव की मुक्ति का सन्देश उपन्यासकार तभी दे सकता है जब जन-जीवन की कहानी सच्ची कहानी हो; जिसका जीवन्त चित्र विभिन्न प्रकार के सामाजिक धरातल पर चित्रित करने की उसमें क्षमता हो।

प्रत्येक उपन्यास में चाहे वह राजनीतिक हो, ऐतिहासिक हो, मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक हो, समाज निहित रहता है। इस सन्दर्भ में समाज का अर्थ सामान्य अर्थ से तनिक भिन्न है। समाज का यदि साधारण अर्थ लेते हैं तो व्यक्तियों के समूह को लोग समाज कहते हैं और प्रत्येक उपन्यास किसी न किसी रूप में व्यक्तियों से सम्बन्धित रहता है इसलिये समाज उसमें निहित रहता है। परन्तु समाजशास्त्र की दृष्टि से समाज का अर्थ व्यक्तियों का समूह नहीं है, बल्कि उनके अन्तःसम्बन्धों की संज्ञा समाज है, जहाँ जागरूकता हो, जिसे मेकाईवर ने 'अवेयरनैस' कहा है। सम्बन्ध मेज और टाइपराइटर में भी होता है, पर वह सामाजिक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह एक-दूसरे के सम्बन्धों से भिज्ञ नहीं है। सम्बन्धों की पारस्परिक जागरूकता ही समाज के लिए आवश्यक है।[1]

(घ) व्यक्ति बनाम समाज

व्यक्ति समाज की इकाई है, परन्तु वह इकाई परिवार से सम्बधित है, जो सामाजिक इकाई है। परन्तु १९६० के बाद से उपन्यासों में ही नहीं, बल्कि साहित्य की अन्य विधाओं में भी परिवार को समाज की सशक्त इकाई की धारणा के रूप में नकारा जाने लगा है। परिवार के बिना व्यक्ति का व्यक्तित्व सम्भव नहीं। जन्म के पश्चात् शिशु माता-पिता पर पूर्णतया निर्भर होता है यदि उसकी असहाय अवस्था में वे देख-भाल न करें तो उसका जीवित रहना ही असम्भव है। परिवार मानव व्यवहार एवं सामाजिक सम्बन्धों की प्रथम अत्यन्त महत्वपूर्ण, तथा प्राथमिक पाठशाला है। समाज के महत्वपूर्ण तथा प्राथमिक समूहों में परिवार अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्राथमिक समूह है। परिवार में जन्म लेकर व्यक्ति मृत्युपर्यन्त किसी न किसी रूप में उससे सम्बन्धित रहता है। जीवन के समस्त सामाजिक लक्षणों का ज्ञान वह पारिवारिक पाठशाला से प्रारम्भ करता है।

परिवार उन लोगों के लिए भी स्थान रखता है, जो हर दृष्टि से निकम्मे होते हैं। राबर्ट फ्रास्ट के अनुसार "घर वह स्थान है जहाँ आप जब भी जाना चाहें, उन्हें आपको आने देना होगा।"[2] परिवार का महत्व इसलिये अधिक है कि

---

1. MacIver and Page : Society = Ed 1962, p. 6.

1 Robert Frost – "Home is the place where, when you have to go there, they have to take you in" ('The death of the Hired Man'). *Complete poems of Robert Frost*, *Henry Holt and* Company Inc., New York, 1949, pp. 46-55.

परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ है। बच्चा परिवार मे जन्म लेता है और वयस्क होने तक निर्माण का महत्वपूर्ण काल परिवार में व्यतीत करता है। यदि वह परिवार से स्वतन्त्र होने का प्रयास भी करता है तो उसी परिवार की एक शाखा के रूप में नये परिवार की स्थापना कर उसका प्रधान बन जाता है और जीवन भर अपने प्रयत्नों से उसी समूह की सेवा में रत रहता है। इस प्रकार से वह जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी परिवार का सदस्य रहता है। समाजशास्त्र के अध्ययन के विषय मे परिवार एक महत्वपूर्ण विषय है विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है जैसे एकाकी परिवार, संयुक्त परिवार मातृसत्तात्मक परिवार अथवा पितृसत्तात्मक परिवार। 'एक शिशु सहित स्त्री और उसकी देख रेख करने के लिए जहाँ एक पुरुष हो उस बीसान्ज और बीसन्ज ने परिवार की संज्ञा दी है।[1] परिवार पति, पत्नी तथा बच्चों से निर्मित होता है बरजेस और लाक की परिभाषा इस प्रसंग के कई पक्षों पर प्रकाश डालती है। इनके अनुसार परिवार उन व्यक्तियों का एक समूह है जो कि विवाह रक्त या गोद लेने के बन्धनों से जुड़े हुए है। जो एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं और पति पत्नी माता पिता, पिता और पुत्र भाई और बहिन, अपने अपने क्रमश सामाजिक कार्यों मे एक दूसरे पर प्रभाव डालते है एवं व्यवहार और सम्बन्ध रखते है वे एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते है तथा उसे बनाये रखते हैं[2]

संक्षेप में परिवार पर्याप्त नियम एवं स्थिर यौन सम्बन्ध द्वारा नियत एक समूह है जिसका मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति और उसका लालन पालन है। इस प्रकार यह विशेष संगठन पति पत्नी और उनके बच्चों से निर्मित होता है। डा० मजूमदार के अनुसार परिवार व्यक्तियों का एक समूह है जो एक छत के नीचे रहते हैं मूल और रक्त सम्बन्धी सूत्रों से सम्बन्धित होते हैं जो स्थान रुचि एवं कृतज्ञता की अन्योन्याश्रितता के आधार पर सम्बन्ध की जागरूकता रखते हैं ।[3]

सभ्यता के विकास के साथ पारिवारिक जीवन में अनेक परिवर्तन हुए। आरम्भ में स्त्री-पुरुष के केवल स्वच्छन्द सम्बन्ध थे। धीरे धीरे सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल एक समझौते के द्वारा आपस में बद्ध हुए, और उसे उन्होंने वैवाहिक

---

1 Biesanz J and Biesanz M 'Modern Society, 'An introduction to social science'' Prentice Hall Inc, New York, 1954 P 204

2 H Burgess E W & Locke H S The Family' from 'Institution to comanyship' (American Book Co, NewYork) P 8

3 D N Majumdar Races and Cultures of India, P 163 (Asia Publishing House 1958)

मस्या का रूप दिया। सामाजिक तथा भौगोलिक पर्यावरण के अनुसार वैवाहिक पद्धतियाँ बनीं। प्रारम्भ में बहु-विवाह की प्रथा थी। बहु-पत्नी विवाह तो हिन्दू मैरिज एक्ट,१ ६५५ के पूर्व तक प्रचलित था, और समाज इसे हेय दृष्टि से नहीं देखता था। बहु-पति विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु जहाँ प्राकृतिक बाधाओं के कारण जीवन-यापन कठिन है, वहाँ पत्नी का भार वहन करना एक पुरुष के लिये कठिन होता है, ऐसी स्थिति में वहाँ बहु-पति प्रथा पाई जाती है। जौनसार बावर तथा गाल्हवामी के पर्वतीय प्रदेश में यह प्रथा आज भी पाई जाती है। वेस्टरमार्क के अनुसार – "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जो प्रथा या कानून द्वारा मान्य होता है तथा जिसमें सगठित दोनों पक्षों तथा उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार व कर्त्तव्यों का समावेश होता है।[1]

विवाह समाज में पारिवारिक सस्थापन के उद्देश्य से निर्मित की गई सस्था है। "विवाह को एक प्रजननमूलक परिवार की सस्थापन की समाज द्वारा स्वीकृत विधि भी कहा जा सकता है।[2]

आज के समाज या किसी काल के समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये कुछ नियम होते हैं। जो सामाजिक जीवन को चलाने में सहायक होते हैं परन्तु, मनुष्य समाज का अंग होते हुए भी अपने स्वयं के व्यक्तित्व को समाप्त नहीं कर सकता। सामाजिक ढांचे में चाहे वह किसी भी वर्ग का हो। इसलिये 'सुहाग के नूपुर' में नायिका से उसका प्रेमी कहता है – "मैं केवल व्यापारी नहीं, मनुष्य भी हूँ। मनुष्य भाव का भूखा है। मेरे मरने पर तुम सामाजिक रूप से विधवा नहीं कहलाओगी। बेटी को निकाल दूँ तो कोई कहेगा नहीं कि, पिता ने पुत्री को निकाल दिया। मैं अपने देश या इस देश के रिवाजों के अनुसार तुम दोनों को लेकर कुलीनता की ऊँची मर्यादा स्थापित नहीं कर सकता; मनमाने का बन्धन, मनुष्य को मनुष्य बनाता है।....ये सहृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वहाँ ऊँच-नीच का प्रश्न नहीं उठता। वही मानवता की कसौटी है और यही सत्य शाश्वत है।[3]

नागरजी इस बात को मान्यता देते हैं कि समाज के बन्धनों से व्यक्ति परे नहीं जा सकता, परन्तु अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण वह कहीं इन सबसे परे भी है। नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' में मानव की जीवन-यात्रा विभिन्न आयामों में परिलक्षित है। परिस्थितियों के सघातों से वह प्रभावित होता है। नायक श्रीधर में आत्मविश्वास की कमी है; वह साध्य न होकर साधन बन गया है।

---

1. Westermark : The History of Human Marriage, Vol.I.,P.26.
2 Gillin and Gillin: Cul ural Sociology. P. 334
३, अमृतलाल नागर – 'सुहाग के नूपुर' (प्र०सं० १९६०), पृ० १०२.

इस उपन्यास में, व्यक्ति और सामाजिक सघातों का विस्तार से उद्घाटन किया गया है।

बाह्य परिस्थितियों ने जिस प्रकार श्रीधर के जीवन को व्यर्थ बना दिया है उसी प्रकार राजनीतिक; साहित्यिक संस्थाओं के आन्दोलनों की विभिषिका भी स्पष्ट होती है, जो कभी-कभी बड़ा विकृत अमानुषिक रूप धारण कर लेती है। इसमें व्यक्ति और परिवेश के सघातों से केवल श्रीधर ही प्रभावित नहीं, बल्कि सरो (सरस्वती) उसकी पत्नी, की भी मार्मिक गाथा है। उसे सयुक्त परिवार के असहनीय त्रास सहने पड़ते हैं। उपन्यास मे भारतीय नारी के विडम्बनापूर्ण जीवन के एक समूचे युग को रूपायित किया गया है।[१]

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सम्मिलित परिवारों की उपयोगिता खेतीहर युग मे अधिक थी। परन्तु धीरे धीरे जनसख्या के दबाव के कारण जब खेती पर सभी प्राणियो का निर्वाह कठिन हो गया, उद्योग-धन्धों के विकास तथा यानायात की सुविधा से लोगो का बाहरी जीवन से सम्बन्ध जुड़ा तो मानव सम्पूर्ण परिवार को दृष्टि से नहीं, वल्कि व्यक्तिगत दृष्टि से अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति मे सलग्न हुआ, जिससे सम्मिलित परिवारो का विघटन होने लगा, जिसे हम नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' उपन्यास मे मुखरित पाते हैं। उसमे भारतीय नारी के समस्त जीवन की विडम्बना को व्यक्त किया गया है। भारतीय पारिवारिक जीवन की विशृखलता विकृति और अमानवीयता के हृदय विदारक चित्रो से यह उपन्यास ओत-प्रोत है। इसमे निर्मम यथार्थ तथा आत्मीयता और करुणा का श्रीधर, सरो, गुगी बाबा, अम्मा के चरित्रो के माध्यम से विशद चित्रण है और क्षुद्र यथार्थ के रूप मे श्रीमोहन, सावित्री आदि के चित्र प्रस्तुत है।

सरो और श्रीधर के जीवन का दु खान्त सामान्य जीवन मूल्यों का हनन है, जो आज की दुनिया का आग्रह है, जो साधारण जीवन दूभर कर देता है। सासारिक सफलता श्रीमोहन, पुस्तकें, वकील जैसे व्यक्तियो को ही मिल सकती है। आज अपने प्रति सच्चा या सहज ईमानदार होकर जीना कठिन है। जीवन सघर्ष मे अपनी आस्था और मूल्यो की कीमत श्रीधर, सरो, इन्दु, मालती, विष्णु, रत्ना, गुणवती सभी को चुकानी पड़ती है। इन सब लोगो ने अपनी निष्ठा और ईमानदारी के लिए टूट जाना उचित समझा है, झुकना नही। वह जीवन मूल्यों मे गहरी आस्था की ओर सकेत करते हैं। मानवता का इतिहास ऐसे निष्ठावान लोगों का इतिहास है।

उपन्यास मे सामाजिक और साहित्यिक युग-परम्पराओ को रूपायित किया गया है तथा यह दर्शाया गया है कि व्यक्ति के कृत्यों से समाज पर प्रभाव पड़ता है। साथ ही व्यक्ति के निर्माण और व्यक्तित्व के विकास मे समाज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक परिस्थितियों से मानव अप्रभावित नहीं रह सकता, इसीलिए प्रतिकूल

---

१. नेमीचन्द जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ० ४६.

परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप कभी-कभी विद्रोह भी करता है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' में पूरे नगर, पूरे समाज तथा जीवन के कुछेक वर्गों का सजीव चित्रण है। एक ओर तो परम्परागत जीवन-पद्धति, रीति-रिवाजों का चित्रण है, दूसरी ओर आधुनिक सामाजिक राजनीतिक विचारधारा तथा समस्याओं एवं उनके फलस्वरूप पैदा हुई प्रतिक्रियाओं का वर्णन है। ताई जो पति की उपेक्षा से निष्ठुर हो उठी है, आटे के पुतले बनाकर मरण-मंत्र पढ़ती है। वही बिल्ली के बच्चों से अपने बच्चे न होने के अभाव की पूर्ति करती है। तारा के लड़का होने पर अपने अगाध स्नेह का परिचय देती है। ताई के स्वभाव का विरोधाभास, परिस्थितियों के प्रतिक्रिया स्वरूप है। ताई के विचित्र स्वभाव को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि पारिवारिक जीवन की विषमता व उपेक्षा ने उसके जीवन में विरोधाभासी प्रवृत्तियों को जन्म दिया है। अपेक्षित सम्मान न मिलने के कारण जहाँ वह मरण-मंत्र पढ़ती है, वहीं बिल्ली के बच्चों के प्रति संवेदनशील है। लेखक ने आधुनिक जीवन की समस्याओं में व्यक्ति के व्यक्तित्व को आलोकित किया है। "आधुनिक जीवन और उसकी समस्याओं की जड़ें, विशेषकर उन समस्याओं के साथ उलझने वाले व्यक्तियों के संस्कारों के मूलरूप, किन्हीं परिचित-अपरिचित पुरानी मान्यताओं, धारणाओं, आचार-व्यवहार के लिए हुए हैं और अपना वर्तमान रूप इन्हीं संस्कारों द्वारा प्राप्त करते हैं। वहीं दूसरी ओर ,इन आधुनिक प्रवृत्तियों और विचारों के संघात से जीवन की पुरानी मान्यताएँ, जो धीरे-धीरे विघटित हो रही हैं, विशृंखलित हो रही है और नये तत्व उन्हें एक नया ही रूप प्राप्त कर रहे हैं।"[1]

इस प्रकार व्यक्ति बनाम समाज में व्यक्ति की घुटन, कुंठा, सहजता का दायित्व समाज पर है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्यक्ति जो कुछ अपने अहं व स्व का रूपायन कर पाता है, उसमें उसका समाज ही मुखरित है। 'बूँद और समुद्र' में व्यक्ति और समूह (Group and Individual) के स्वरूप में पारस्परिक सम्बन्ध, सहयोग तथा संघर्ष का वर्णन किया गया है। जीवन-संघर्ष मय है। यह संघर्ष व्यक्ति तथा समूह में समूह तथा स्वयं व्यक्ति में भी पाया जाता है, जिसे फ्रायड ने (Conflict within the Individual) कहा है। इसी को चार्ल्स कूले ने Conflict between me and looking glass कहा है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व के निर्माण के लिए संघर्ष करता है। आज के युग में मानव अधिक व्यक्तिवादी हो गया है। उसका व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन युग-चेतना के अनुकूल है। भगवतीचरण वर्मा का उनके उपन्यासों—'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष' तथा 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में क्रमशः नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक, पृष्ठभूमि में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है। उन्होंने 'चित्रलेखा' में पाप और पुण्य के प्रश्न को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में अभिव्यक्त किया है— संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता

१. नेमीचन्द जैन : 'अधूरे साक्षात्कार', पृ० ५७.

का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मन. प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति इस ससार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी ही मन.प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दुहराता है। यही मनुष्य का जीवन है। जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है, विवश है। वह कर्त्ता नही है, वह केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ? ससार में इसलिए पाप की परिभाषा नही हो सकी और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं, न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिस्थितियाँ मनुष्य पर हावी रहती हैं। उन्ही के अनुरूप वह कार्य करता है।

'तीन वर्ष' मे धन की शक्ति प्रेम के स्वरूप तथा पाप-पुण्य का समाधान भी, व्यक्तिवादी भाषा मे दिया है। उपन्यास में रमेश की वैयक्तिक कुंठाओं का चित्रण है। रमेश मध्यवर्ग का है और उसका प्रेम उच्चवर्ग की प्रभा से है। यह सामाजिक दूरी उसमे कटुता ला देती है। प्रभा कहती है—"विवाह को मैं स्त्री और पुरुष के बीच आर्थिक सम्बन्ध के रूप मे मानती हूँ।"[2] उपन्यास मे जीर्ण-मृत समाज की विषमताओं, विकृतियो एव विडम्बनाओं का वर्णन है।[3]

'टेढे मेढे रास्ते' मे परिस्थितियो की समता होते हुए भी एक परिवार के सदस्य अपना-अपना मार्ग चुन लेते हैं। विचारो की स्वतन्त्रता के लिये प्रत्येक का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। अवध के ताल्लुकेदार रामनाथ अंग्रेजी के समर्थक हैं। इनके तीन पुत्र हैं। दयानाथ कांग्रेसी हैं, उमानाथ कम्युनिस्ट तथा प्रभानाथ क्रान्तिकारी—तीनो से पिता का विरोध है। चारो व्यक्तियों के रास्ते अलग-अलग हैं। इस उपन्यास मे राजनीतिक विचारधाराओं का विश्लेषण वैयक्तिक दृष्टिकोण से किया गया है। व्यक्ति के विकास, उसके समाजीकरण (Socialization) की प्रक्रिया मे वैयक्तिक समस्याएँ हमे अश्कजी के उपन्यास 'गिरती दीवारें' (१९४७) तथा 'गर्म राख'.(१९५२) मे भी दिखाई देती है। पात्र चेतन, जगमोहन तथा म नि एक ही साचे मे ढले हुए हैं तथा नारी पात्रो मे भी यही सत्यता है। 'गिरती दीवारो' का नीला, 'गर्म राख' की सत्या, 'बड़ी-बड़ी आँखें' की वाणी मे एकरसता के स्वर मुखरित हैं। इनके भावुक हृदय की मूल समस्या प्रेम सम्बन्धी है। पुरुष पात्रो की समस्याएँ आर्थिक तथा प्रेम सम्बन्धी हैं। निम्न मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक

---

१. भगवतीचरण वर्मा—'चित्रलेखा' (प्र० स० १९३४), पृ० १९४.
२. वही, 'तीन वर्ष' (प्र० स० १९४६), पृ० १७२.
३. डा० सुरेश सिन्हा—हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास, (प्र० स० १९६५), पृ० ३६१.

विषमताओं तथा प्रेम सम्बन्धी कुंठाओं से व्यक्तित्व के विकास में अवरोध उत्पन्न होता है। इसी व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख' तथा बड़ी बड़ी आँखें' में प्रतिपादित किया गया है। उदयशंकर भट्ट ने प्रेम का उदात्तीकरण, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रतीक माना है। परम्परागत विवाह-प्रथा का खण्डन लेखक की व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रतीक है। वह मानवता के मूल्यों को अधिक महत्त्व देता है। सामाजिक रूढ़ियों से पीड़ित नारी का 'शेषन', 'नये मोड़' की डाक्टर शेफाली और 'सागर लहरें और मनुष्य' की रतना में हुआ है। प्रेम और विवाह की समस्या में व्यक्ति की सत्ता को स्थापित करने का प्रयास लेखक ने किया है। विवाह सामाजिक संस्था है, परन्तु व्यक्ति की अपनी गरिमा भी है, जिसे समाज में समाहित कर दिया जाये, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति के विकास के लिए प्रेम की सहज भावना महत्त्वपूर्ण है। यदि इसकी अभिव्यक्ति अवरुद्ध हो जाये तो व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। उषादेवी मित्रा ने व्यक्तित्व के विकास के लिए इसे महत्त्वपूर्ण माना है। 'वचन का मोल' (१९३६), 'पिया' (१९३७), 'जीवन की मुस्कान' (१९३६) तथा 'नष्ट नीड़' (१९५५) में नारी-जीवन में प्रेम तथा विवाह की समस्या को उठाया है। प्रेम की सहज भावना व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है, परन्तु इन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। इसका उच्छृंखलता की सीमा तक अतिक्रमण नहीं होना चाहिये, जो समाज विरोधी हो जाये। 'नष्ट नीड़' में उत्पीड़ित नारी की वैयक्तिक सत्ता तथा उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया है।

लक्ष्मीनारायण लाल ने सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन पात्रों के वैयक्तिक दृष्टिकोण से किया है। 'धरती की आँखें', 'बया का घोंसला' और साँप, 'मन वृन्दावन' में व्यक्ति की सत्ता को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने का प्रयास किया गया है। 'धरती मेरा घर' की कथा गोविन्द और जैनब के अनुराग की कथा, हिन्दी मुस्लिम एकता की प्रतीक है। दोनों का विवाह सामाजिक दृष्टि से धर्म विरुद्ध है, परन्तु गोविन्द को सामाजिक परम्पराएँ विवाह करने से रोक नहीं पातीं। यहाँ गोविन्द के व्यक्तित्व की सत्ता समाज से पराजित नहीं होती।

'बया का घोंसला' नामक उपन्यास में आनन्द का सुभागी के प्रति पावन स्नेह, वैयक्तिक भाव का प्रतीक है, जो उसे अपने पिता से भी विरोध करने के लिए बाध्य करता है 'मन वृन्दावन' उपन्यास में सुबन्धु तथा सुनन्दा के व्यक्तिगत प्रेम की कहानी है। सुनन्दा प्रेम को किसी भी अवस्था में चिरन्तन मानती है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में व्यक्ति प्रमुख है। 'सुनीता' का व्यक्तित्व परम्परागत सामाजिक मान्यताओं के विपरीत है। विवर्त्त, व्यतीत तथा जयवर्धन में भी व्यक्ति और उसका अहं ही प्रमुख है। 'जयवर्धन' में समाज अथवा वर्ग विशेष के स्थान पर व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है।

इलाचन्द्र जोशी के सभी पात्र अहवादी और व्यक्तिवादी हैं। 'पर्दे की रानी' मे वैयक्तिक तत्त्वो और मनोविश्लेषणात्मक प्रसगो का विवेचन है। इसी प्रकार अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास का शेखर घोर व्यक्तिवादी है। उसके सामान्य मानव व्यापार भी असामान्य हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार "शेखर की शक्ति, उसके अदम्य अहकार की शक्ति है। उसके जीवन मे पाना ही पाना है, देना नही है।"[१] "नदी के द्वीप' उपन्यास के पात्र आत्मनिष्ठा और स्वतन्त्र प्रकृति के हैं, जो सामाजिक और पारिवारिक बन्धनो को नही मानते। भुवन, रेखा, चन्द्रमोहन और गौरा-जीवन-मूल्यों को व्यक्तिगत अनुभवो की कसौटी पर परखते हैं। 'अपने अपने अजनबी' मे विदेशी पृष्ठभूमि पर विशिष्ट परिस्थितियों का अकन है, जिसमे अपने अजनबी और अजनबी अपने हो जाते हैं।

समाज की विशिष्ट परिस्थितियों का चित्रण उपन्यास मे चित्रित किया जाता है और सामाजिक समस्यामूलक तथा सामाजिक यथार्थमूलक भेद किये जाते हैं, परन्तु सामाजिक उपन्यासो की चेतना व्यक्ति सापेक्ष न होकर समाज सापेक्ष होती है। इसमे व्यक्ति के अह का महत्त्व न होकर सामाजिक उपलब्धि का महत्त्व है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति-सत्य और समाज-सत्य सदा विरोधी ही हो। प्रेमचन्दजी समाज की दृष्टि से व्यक्ति को आँकते हैं। इनके उपन्यासो की मूल प्रेरणा सामाजिक कल्याण की भावना है। प्रेमचन्दोत्तर युग मे धीरे-धीरे उपन्यासो मे व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' उपन्यास म बूद व्यक्ति का तथा समुद्र समष्टि का प्रतीक है। हर बूँद का महत्त्व है, क्योकि वही तो अनन्त सागर है। एक बूँद भी व्यर्थ क्यो जाये। उसका सदुपयोग करो।[२] नागरजी व्यक्ति का महत्त्व समष्टि के लिए आवश्यक मानते है। मनुष्य का आत्मविश्वास जगाना चाहिये। उसके जीवन मे आस्था जमानी चाहिये। ... जैसे बूँद से बूँद जुडी रहती है, इसी तरह बूँद मे समुद्र समाया है।[3] समाज अथाह समुद्र है, जिसमे, प्रच्छन्न बूँद की भाँति, मानव का पृथक् अस्तित्व है। 'सज्जन', महिपाल, वनकन्या द्वारा व्यक्ति एव समाज के समन्वय की समस्या को प्रस्तुत किया गया है। सज्जन और वनकन्या समाज की दुर्बलताओ को चाहे नही मिटा सकते, परन्तु एक विशिष्ट दायरे के विशेष वर्ग को अवश्य लाभ पहुँचाने का प्रयास करते है।[४]

व्यक्तिवादी उपन्यासो म भी सामाजिकता है और सामाजिक उपन्यासों मे भी व्यक्ति का स्वर निहित रहता है क्योकि बिना समाज के व्यक्ति का अस्तित्व नगण्य

---

१. डा नगेन्द्र विचार और अनुभूति, पृ १३६

२ अमृतलाल नागर 'बूँद और समुद्र' (प्र० स० १९५६), पृ० ३८८.

३. वही, पृ० ६०६

४. कान्ति वर्मा 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास' (प्र० स० १९६६), पृ० ४७.

है। यह नहीं कहा जा सकता जो उपन्यासकार व्यक्तिवादी है वह सामाजिक नहीं है। जैनेन्द्र 'जयवर्धन' में, अज्ञेय 'शेखर : एक जीवनी' में, इलाचन्द्र जोशी 'जहाज का पंछी' में, अश्क 'गिरती दीवारें' में तथा नागरजी 'बूँद और समुद्र' में जितने व्यक्तिवादी हैं, उतने सामाजिक भी हैं। व्यक्तिवादी तथा समाजवादी उपन्यासकारों में कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची जा सकती, क्योंकि उनका व्यक्तित्व भी समाज में ही विकसित होता है।

व्यक्ति और समाज दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति को समाज से अलग नहीं रखा जा सकता और न ही व्यक्तिविहीन समाज की कल्पना की जा सकती है। दोनों विशिष्ट हैं, दोनों महत्त्वपूर्ण हैं, दोनों का सम्बन्ध अविच्छिन्न है, अन्योन्याश्रित है।

उपन्यासों की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्याख्या के लिए उपर्युक्त विवेचन केवल आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य होने के कारण तनिक विस्तार में लिखा गया है; क्योंकि यह हमारे अध्ययन की पृष्ठभूमि का मेरुदण्ड है।

अध्याय २

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास और परिवर्तनशील परिवार

(क) विघटनोन्मुख सयुक्त परिवार व प्रक्रिया

सामाजिक जीवन के अध्ययन बिना सामाजिक चेतना की गति को नहीं जाना जा सकता। हिन्दू समाज का आधार सयुक्त परिवार थे। के० एम० पन्निकर का कथन है कि "प्रत्येक हिन्दू इस सीमा (सयुक्त परिवार) के बाहर किसी समाज तथा समूह को स्वीकार नही करता। यह सस्था धर्म सम्पन्न हिन्दू कानूनो तथा रीति-रिवाजों के अनुसार चलती थी। अपनी समस्त अच्छाई-बुराई के साथ और समाज मे व्यक्ति का अस्तित्व किसी समूह के सदस्य के नाते था, इसलिए वह परिवर्तन नही ला सकता था। ऐसा करने पर समाज उसका बहिष्कार कर देता था। स्त्री पूर्ण रूप से पुरुष की आश्रित समझी जाती थी, पिता, पति, पुत्र के सहारे उसे जीवन-यापन करना पडता था। विधवा की स्थिति और भी विषम थी। विधवा विवाह के तो लोग अति विरोधी थे'।[1] ओ मेले का कथन है कि विधवा-विवाह का समाज इतना विरोध करता था कि सुधारकों ने विधवा को स्वावलम्वी बनाने के लिये शिक्षा का सहारा लिया।[2]

इसी आश्चर्यजनक परिश्रम के फलस्वरूप नारी-शिक्षा का प्रादुर्भाव हुआ। वही नारी-जागृति का सम्बल बनी। १९वी शताब्दी के सुधारकों के अथक प्रयत्नो द्वारा विधवा की स्थिति मे सुधार आया। उसे अब सती होने के लिये बाध्य नही होना पडता था। वह शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे सामाजिक रंगमच पर प्रकट होकर अपने विचारो को व्यक्त करने मे स्वतन्त्र थी।

---

1. K.M Panikar : Hindu Society at Cross Roads (1955), P.18
2. O Mallay N . Modern India at the West (1941). P.456

भारतीय सभ्यता की आन्तरिक विशेषताएँ उसके संगठन में यत्र-तत्र प्रतिबिम्बित होती हैं। संयुक्त परिवार-प्रणाली प्राथमिक जीवन से सभ्यता में प्रवेश करने का एक महत्त्वपूर्ण पथ है, 'सामाजिक आज्ञापालन के सिद्धान्त की स्थापना करके इसने सगठित तथा संयुक्त जीवन का श्रीगणेश किया।' संयुक्त परिवार एक इकाई है, जिसमें रक्त-सम्बन्धों से साध्य तथा गोद लिये हुए व्यक्ति भी सदस्य होते हैं। संयुक्त परिवार में सम्पत्ति परिवार की होती है। खेतीहर युग में संयुक्त परिवार समाजवादी संगठन का छोटा रूप था। औद्योगीकरण के पश्चात् संयुक्त परिवार की नींव हिल गई। २०वीं शताब्दी में पश्चिम की व्यक्तिवादी प्रणाली ने संयुक्त परिवार में कमाने और न कमाने वालों के बीच खाई स्पष्ट हो गई। समाज में आय के अनुसार मनुष्य की स्थिति निर्धारित होने से यह खाई और बढ़ गई, उससे संयुक्त परिवारों की शान्ति भंग हुई। ऐसी अवस्था में महिलाओं की स्थिति दयनीय हो गई, क्योंकि महिलाओं के कोई अधिकार नहीं थे। उनकी अत्यन्त निरीह अवस्था थी। खाना-कपड़ा उन्हें सामूहिक कोष से मिलता था और पति के पीछे ही उनकी घर में स्थिति थी; जिसके दर्शन हमें यशपाल के 'मनुष्य के रूप' उपन्यास में होते हैं। कमाऊ पति की पत्नी को जेठानी की समानता सह्य नहीं, उसे विशेषता क्यों नहीं दी गई एक सी ही साड़ियाँ सबके लिये क्यों लाई गई जबकि उसका पति सम्मिलित कोष में सबसे अधिक धन देता है, इसलिये उसके साथ विशिष्ट व्यवहार होना चाहिये। यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है जो संयुक्त परिवार में सम्भव नहीं होता क्योंकि संयुक्त परिवार में तो अपनी क्षमता के अनुसार व्यक्ति कमाता है और आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करता है। परन्तु जब संयुक्त परिवार में भी प्रेम तथा भावना का आधार 'अर्थ' बनने लगा तो यह संस्था कच्ची मिट्टी की दीवार पर खड़ी जान पड़ने लगी। १९३० के 'गेन्स आव् लर्निंग एक्ट' के पश्चात् शिक्षित व्यक्ति जो अपनी योग्यता से कमाता, उस पर उसका पूर्ण अधिकार माना गया। यह उसकी अध्ययन द्वारा प्राप्त योग्यता से की गई स्वअर्जित कमाई थी, जिस पर संयुक्त परिवार का इस अधिनियम द्वारा अधिकार समाप्त हो गया। इसने संयुक्त परिवार के बन्धन और भी ढीले हो गये, जैसा कि श्री चन्द्रशेखर ने कहा है— "संयुक्त परिवार उत्पादन के साधनों का सामान्य स्वामित्व तथा धन के प्रतिफल का सामान्य उपभोग था।"[1] इस अधिनियम (गेन्स आव् लर्निंग एक्ट, १९३०) के द्वारा समाप्त हो गया, क्योंकि यह खेतीहर समाज तक ही सम्भव था। व्यक्तिवादी विचारधाराओं के पनपने के साथ-साथ अर्थ की शक्ति प्रबल होती गई। पहले महिलाओं की शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया जाता था। उनकी दुनिया चूल्हे, चक्की, बच्चों के पालन तथा पुरुषों के साथ खेत आदि में हाथ बटाने तक सीमित थी, चाहे वह पुरुष की अपेक्षा अधिक कार्य करती थी, फिर भी उनकी स्वतन्त्र इच्छा कोई महत्त्व नहीं रखती थी। यदि घर में सास, ननद, देवरानी,

---

1. Chandrasekher : The Family pattern in India, an article in the Illustrated Weekly of India, Nov. 2, 1948, P. 9.

उठानी है तो उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं था। यदि वह इस ओर प्रयत्न करती तो उस पर इतने प्रहार होते कि वह पूर्णतया हताश हो जाती।

संयुक्त परिवार में नारी :

महिलाओं की स्थिति में सभी युगों में परिवर्तन हुआ है प्राचीनकाल में इनकी स्थिति उच्च थी। वही मध्ययुग में सम्पत्ति समझी जाने लगी। आधुनिक युग में नारी को अपना एक व्यक्तित्व अवश्य प्राप्त हुआ, किन्तु फिर भी उसे इस व्यक्तित्व के निर्माण के लिये बहुत बडा संघर्ष करना पड रहा है। आज भी समाज में उसकी स्थिति स्पष्ट नहीं हो पायी है। परम्परागत विचारधारा के अनुसार पुरुष वर्ग के एक तबके को यह सह्य नहीं कि युगचेतना से प्रभावित नारी अपने व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास करे।

आज प्रबुद्ध नारी अपने को पुरुष के समकक्ष मानने लगी है। वह अपने को हेय या दासी के रूप में नहीं मानती। नारी के नये सम्बन्धों के नये आयामों से एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है। कुछ तो नारी को देवत्व के कठघरे से निकाल कर उसे सहज मानवी रूप में देखने का प्रयास करते हैं, जो आत्मविश्वासपूर्ण तथा आत्मानुशासित रूप में जीवन-यापन कर सके। परन्तु यह विचारधारा अधिकतर सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार की जाती है, वह कार्यान्वित कम हो पाती है। पुरुष कितना ही उदार दृष्टिकोण का क्यों न बने, किन्तु जब उसके अपने घर में उसे कार्यान्वित करने की माँग उठती है, तो वह एक समस्या बन जाती है। उदारवादी भी संकीर्ण बन जाते है। अपने सामाजिक परिवेश में बद्ध संयुक्त परिवार के पुरुष समय की ओर अपनी आत्मा की पुकार से चाहे प्रभावित भी हों, परन्तु उन्हें उनका परम्परागत अहं कुल, जाति, पद तथा मध्यवर्गीय झूठी अहं-भावना (फालस प्रेस्टीज) ग्रसित किये रहती हैं। वह सत्य की दीप्ति को सह नहीं पाते, क्योंकि वह आलोक उनके स्वार्थों का उद्‌घाटन करता है। ऐसी संक्रान्तिकालीन स्थिति में नारी स्वयं निर्धारित नहीं कर पा रही है कि वह परम्परा के चौखटे में जड़ी अपनी उसी परिधि में सिमिट कर स्वयं का विलय कर सन्तोष करले, या वह भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के परि-स्थापन के लिये संघर्ष करे, परन्तु क्या उसके इस प्रयास को उदारतापूर्वक स्वीकार किया जायगा ? इस प्रयास को जो व्यक्तित्व में प्रखरता ला देता है, क्या समाज और परि-वार की ओर से उसे हताश करने के लिए निरन्तर प्रहार नहीं हो रहे हैं ? ये भी समाज के प्रबुद्ध वर्ग के लिये विचारणीय विषय बना हुआ है।

परिवार सदैव इसके लिये प्रयत्नशील रहे हैं कि नारी को परम्परागत सीमाओं में बंधा रहना चाहिये, परन्तु उसकी मार्मिक अनुभूतियों का मूल्यांकन शायद ही हो। 'यह पथ बंधु था' में नरेश मेहता ने इस समस्या का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। इस उपन्यास में संयुक्त परिवार का सर्वांगीण चित्रण है, परिवार रूपी कैनवस पर बड़े सशक्त चित्र उभारे गये है, नायक श्रीधर और उसकी पत्नी सरस्वती के परम्परागत स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की मार्मिक झाँकी है। इसमें सरस्वती की पत्नी

रूप में प्रतिष्ठा तो हो जाती है, किन्तु पति-पत्नी के सम्बन्धों के इस परम्परागत रूप की असमानुपिकता और पीड़ा की कराहट ही मुखरित होती है, जिसमें उसका व्यक्तित्व तिल-तिल कर होम होता है। उसका बिखरना, टूटना, तथा दमघोंटू घुटन का अन्त चिता की अन्तिम आहुति में समाप्त होता है। इस प्रकार की निष्ठा और यातना की सहनशक्ति, आधुनिक युग में प्राप्त होना दुर्लभ है। इसमें सुकुमार, आस्थावान स्त्री के पूर्णतया पिस जाने की कथा है।''[1]

संयुक्त परिवार के दोषों की ओर बालकृष्ण भट्ट ने इंगित करते हुए कहा है—''दिन दिन परिवार बढ़ता जाता है, उनके भरण-पोषण और विवाह के खर्च का बोझ मनमाना लदता जाता है। होते-होते वह घराना या तो नष्ट प्राय हो जाता है या रहा भी तो किसी गिनती में नहीं।''[2] लोगों की धारणा है कि संयुक्त परिवार में सौहार्द की भावना अधिक होती है, उस पर भी अपने विचार प्रकट करते हुए भट्ट जी लिखते हैं—''थोड़े दिन साथ रहने के उपरान्त इन एकान्न भोजियों में ऐसा वैमनस्य फैलता है कि आपस में एक को दूसरे का मुँह देखना भी रवा नहीं होता और अन्त में हिस्सा-बाँट के कारण एक-एक इंच जमीन के लिए लड़ कर वकील, मुख्तार और अदालत का खातिरख्वाह पेट भरते हैं ''''''अपने पुत्र-पौत्रों को अशरण और निष्पुरुषार्थी बना देने की तो इस एकान्न से बढ़ कर कोई बात नहीं है।''[3]

संयुक्त परिवार में व्यक्ति का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता। डा० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा के अनुसार ''संयुक्त परिवार में यों तो किसी व्यक्ति की उन्नति करने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है और फिर यदि कोई प्रतिभाशाली और पुरुषार्थी व्यक्ति निकला भी तो उसकी दुर्गति हो जाती है।''[4]

संयुक्त परिवार में कई निराश्रित परिजन पलते हैं, ऐसा कहा जाता है कि वह उनकी सुरक्षा के लिए निगम के समान है। परन्तु वास्तव में क्या ऐसे लोगों का विकास हो सकता है? क्या वे हीन भावनाओं से ग्रसित नहीं रहते? बलसारा के अनुसार—''संयुक्त परिवार आलसी मनुष्यों को जन्म देता है, जिनमें स्वाभिमान तथा उत्तरदायित्व के भाव का सर्वथा अभाव होता है।''[5] पहले विधवाओं का संयुक्त परिवार में निर्वाह हो जाता था, पर क्या आज उन्हें अपशकुन का प्रतीक नहीं माना

---

१. नेमीचन्द जैन : अधूरे साक्षात्कार, पृ० ४६.

२. डा० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा—हिन्दी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट (प्र० सं० १९५८), पृ० २२५.

३. वही.

४. वही.

५. "It breeds drones in the Family lacking in the sense of self respect and responsibility", F. N. Balsara–'Sociology', P. 359.

जाता। वे जब तक घर का काम-काज नौकरों की तरह करती हैं, उन्हें बदले में खाना-कपड़ा मात्र मिल जाता है, परन्तु इस कृपा के बदले में उन्हें अपना अस्तित्व मिटा देना होता है। यह कितनी बड़ी कीमत उन्हें चुकानी पड़ती है। आजकल आर्थिक क्षेत्र में हुई क्रान्ति तथा जनसंख्या के दबाव के कारण संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। शिक्षा के प्रसार, औद्योगिकरण, राजनीतिक चेतना से प्रभावित रोजगार की तलाश में संयुक्त परिवारों को छोड़कर अपनी जीविकोपार्जन के स्थान पर जा रहे हैं। परिवार अब उत्पादन की इकाई नहीं रह गये। व्यक्ति अपनी जीविका परिवार से दूर रह कर भी कमा सकता है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था ने व्यक्ति को आर्थिक स्वावलम्बन प्रदान किया है, इसलिए संयुक्त परिवार अनावश्यक बुराई के रूप में माने जाने लगे हैं। खेतीहर समाज में ही इनके अस्तित्व का बने रहना सम्भव था। आज संयुक्त परिवार की मर्यादा से चिपके रहना कठिन हो गया है, यह खरगोश की टूटी टाँग की तरह लटक कर रह गये हैं।

'गिरती दीवारें' उपन्यास में अश्कजी ने निम्न-मध्यमवर्गीय संयुक्त परिवार का सूक्ष्म चित्रण किया है। यह परिवार अनेक सम्बन्धों के उपरान्त भी संयुक्त परिवार की मर्यादा से चिपका हुआ है। शादीराम कठोर, क्रूर, संकीर्ण विचारों का व्यक्ति है। उसकी गृहस्थी की गाड़ी बड़ी कठिनाई से चल रही है, परन्तु अपने निठल्ले पुत्र तथा झगड़ालू पुत्र-वधू तथा उनके बच्चों का भार उठाए हैं। रामानन्द की पत्नी के पीहर में भी संयुक्त परिवार है। वहीं से वह ईर्ष्या द्वेष की बातें सीखकर आती है, उसी का प्रभाव उसके स्वभाव में पाया जाता है, क्योंकि एक सदस्य का दूसरे सदस्य से हितों से संघर्ष होता रहता है। स्त्रियों में सदा मनमुटाव तथा ईर्ष्या रहती है। परिवार के सभी सदस्य असंतोष तथा द्वेष के कारण मन ही मन घुटते रहते हैं तथा अपना अधिकतम समय व मस्तिष्क इसी में व्यर्थ करते हैं। पारिवारिक मान्यताओं से व्यक्तित्व निर्मित होता है। मानव के सामाजीकरण में प्रथम श्रेय परिवार को है। "सामाजीकरण से तात्पर्य है, लोक सम्मत व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया, दूसरे शब्दों में व्यक्ति कुछ पारिवारिक सम्बन्धों के विषयों पर समाज के साथ मिल कर चलने का प्रयास करता है।'[1]

संयुक्त परिवारों की विशेषता

प्राचीन काल में बच्चों के पालन पोषण की व्यवस्था परिवार करते थे। "प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन की आधारशिला संयुक्त परिवार थी।[2] वे समान रूप से बंधे हुए थे। संयुक्त परिवार भारतीय संस्कृति की आधारशिला हैं तथा वे व्यक्तिवाद के स्थान पर समष्टिवाद के आदर्शों की पुष्टि करते हैं, परन्तु इसमें परिवार के मुखिया को स्वार्थहीन तथा दूरदर्शी होना चाहिये, जो सभी के लिये

---

१. A W 'Greens' Sociology (1952), P 127

२ शिवदत्त ज्ञानी–भारतीय संस्कृति (१९४९), पृ० २२

समदृष्टि रखता हो। प्रभु के अनुसार "हिन्दू परिवार पर विचार करते समय जो प्रथम वस्तु आलोकित होती है, वह उनकी संयुक्त प्रकृति है।"[१] 'हिन्दू परिवार' से तात्पर्य संयुक्त परिवार से ही हुआ करता था। कापड़िया के अनुसार संयुक्त परिवार को हिन्दुओं की एक विशेषता माना जाता है।[२] कुटुम्ब आदर्श का प्रतीक होना चाहिये तभी बच्चों के व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। 'गिरती दीवारें' में शारदीराम का पुत्र (रामानन्द) उनकी क्रूरता से निर्लज्ज तथा उत्तरदायित्वहीन हो जाता है और परिवार पर बोझ बन जाता है। शारदीराम का मध्यवर्गीय परिवार है, जिनकी आर्थिक विषमताएं हैं। उन्हीं विषमताओं ने शारदीराम को क्रूर बना दिया है। उनकी क्रूरता के परोक्ष में एक भाव यह भी है कि "जो मैं प्राप्त नहीं कर पाया वह बच्चे प्राप्त कर सकें", इसलिए पढ़ाई के लिए बच्चों की ठुकाई करना है ताकि वे योग्य बनें। मध्यवर्गीय परिवार का पिता अनेक आर्थिक कठिनाइयों से घिरा है। वह चाहता है कि बच्चे अपना बोझ स्वयं सम्भालें। वह अपनी दमित इच्छाओं को लड़कों की सफलता से पूर्ण होते देखना चाहता है। अभिलाषाओं की पूर्ति में असफलता उसे क्रूर बना देती है। उसमें सहनशीलता का सर्वथा अभाव है। बात-बात पर पत्नी-बच्चों से लड़ पड़ता है, मारने-पीटने पर उतारू हो जाता है। यदि एक क्षण वह प्रसन्न है तो दूसरे क्षण रुष्ट हो जाता है, जो उसकी अस्थिर प्रकृति का द्योतक है। वह अपने आप को परिवार का संरक्षक मानता है और किसी प्रकार के विरोध को स्थान नहीं दे सकता। अश्कजी ने 'गिरती दीवारें' तथा 'शहर में घूमता आईना' में निम्न-मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन की विडम्बना का मार्मिक वर्णन किया है।

'टेढ़े मेढ़े रास्ते' उपन्यास में जमींदार रामनाथ सामन्तवादी युग के पिता हैं। वे लड़कों पर पूरा अनुशासन रखना चाहते हैं। वे अपने पुत्र दयानाथ को कांग्रेस आन्दोलन में भाग लेने से मना करते हैं। सामन्तवादी पिता अपने को परिवार का स्वामी मानता है; इसी से उनकी इच्छा के विरुद्ध आवाज यदि दयानाथ उठाता है, तो उन्हें सह्य नहीं होता। "अगर सरकार ने यह समझा कि तुम्हारी आत्मा पर मेरा पूर्ण अधिकार है, तो उसने गलती नहीं की। मैं अपने अधिकारों को अच्छी तरह जानता हूँ", यह याद रखना।"[३] ऐसे व्यक्ति किसी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की कल्पना भी नहीं करना चाहते। डा० धर्मवीर भारती ने 'गुनाहों का देवता' तथा 'सूरज का सातवां घोड़ा' में अन्तर्मुखी चरित्रों का वर्णन किया है, साथ ही मध्यवर्गीय समाज की विषमता, रूढ़िग्रस्तता तथा विकृति का भी चित्रण किया है। 'सूरज का सातवां घोड़ा' में निम्न मध्यवर्ग के पात्रों का अनेक कोणों से चित्रण किया है। इसके पात्र

---

१. P. H. Prabhu : 'Hindu Social Organisation' (1963), P. 217.

२. K. M. Kapadia : Marriage and Family in India, P. 245.

३. भगवतीचरण वर्मा : 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (तीसरा संस्क० सं० २०११), पृ० ११.

जीवन की विषमताओं से निराशावादी एव उदास हैं।[1] अश्कजी के 'गिनती दीवारें' का नायक चेतन निम्नमध्यवर्गीय सयुक्त परिवार का युवक है। वह जीने के लिए विपरीत परिस्थितियो से सघर्ष करता है। इस सघर्ष क्रम म उसकी प्रतिमा उत्तरोत्तर अधिक मानवीय और व्यापक बनती है।[2] वह माता-पिता की इच्छा से चन्दा से विवाह कर लेता है परन्तु नीना के प्रति आकर्षित है। जब नीना का विवाह अघड कुरूप पुरुष से होता है तो वह आत्मग्लानि से मर जाता है। वह सोचता है अगणित लोगों के प्राण इन दीवारो की ओट में बन्दी हैं। शोषण और आर्थिक वैषम्य के युग में पीडित व्यक्ति चेतन की तरह यह अवश्य चाहता है कि वह ऐसी फुत्कार मारे कि इस व्यवस्था के पुर्जे-पुर्जे उड जाएँ। आज के कु ठित जीवन का आभास अश्क की इस कृति में अवश्य मिलता है, जिसकी सत्यता मे हम अविश्वास नही कर सकते।[3]

आज आर्थिक विषमताओं के कारण जीवन-मूल्यों मे परिवर्तन आने से सयुक्त परिवार की नीव हिल गई है। डा० देसाई सयुक्त परिवार के लिये सह निवास सह भोजन आदि को ही प्रमुख तत्त्व नहीं मानते है। उनके अनुसार – 'सह निवास सह भोज, आकार तथा गृह के अन्तर्गत सम्बन्ध की कसौटियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण नही हैं। जो अधिक महत्त्वपूर्ण है वह सम्पत्ति, आय तथा गृह के अन्तर्गत सदस्यों के बीच एव उनके बाहर के नातेदारों के बीच के अधिकार तथा पारस्परिक कर्त्तव्यपरायणता है।"[4] आज सयुक्त परिवार का भौतिक स्वरूप तथा उसकी विशेषताएँ समाप्त हो रही हैं। "हिन्दू भावनाएँ सयुक्त परिवार के पक्ष म चाहे हों"[5] जैसा कपाडिया का मत हैं, फिर भी इन परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियो मे इसका अस्तित्व सुरक्षित नही है। इसके विघटनोन्मुख चित्र यत्र-तत्र दिखाई पडते हैं। 'यह पथ बन्धु था' उपन्यास मे ऐसे ही परिवार का चित्र उपस्थित किया गया है। गुनी अपने पिता श्रीधर के गृह त्याग के बाद ताऊ की बेटी कान्ता से कहती है – "जब व्यक्ति को शुरु दिन से बहुत कुछ देखना पड जाये तो उसकी वाचा न जाने क्यो चली जाती है। बाबा जीवन भर तृषित, उदास जाने क्या बने रहे और आज जान कहाँ, चले गये? जिज्जी ने मानो हमेशा के लिये शैय्या पकड ली है। ताऊ ताई पता नही क्या किसी से खुश नही। छोटे काका तो जैसे परिवार मे कभी थे ही नही। बाबू और माँ (दादा, दादी) जाने किस युग के चित्र से ओसारे मे सब देखते रहते हैं। विभिन्न कडियाँ हैं हम सब कि छिन्न भिन्न हो जाने के लिए आतुरता से अपनी-अपनी दिशा मे जोर लगाकर

---

१. धर्मवीर भारती 'सूरज का सातवाँ घोडा' (१९५२).
२. प्रतीक (९), खण्ड २१ नवम्बर १९५७, पृ० ११८
३. वहीं, पृ० १२३.
४. Dr I P.Desi The Joint Family of India – An analysis in Sociological Bulletin Vol. V,No 11, Sept,1956, P.154.
५. K.M Kapadia : Marriage and Family in India (1966), P. 245.

टूट जाना चाहती है।[1] आज के भौतिकवादी युग में संयुक्त परिवार की मान्यताओं से चिपके रहना सम्भव नहीं है। आज योग्यता अनुसार कार्य और आवश्यकता अनुसार प्राप्ति का जो आदर्श था, लुप्त हो गया है। आज भौतिकवादी युग में यद्यपि सब न क्षेत्रों में परिवर्तन आ गया है, पारिवारिक मान्यताओं, विचारधाराओं में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। नये अधिनियमों से भी संयुक्त परिवार प्रथा को क्षति पहुँची। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार "संयुक्त परिवार एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता खो रहा है। संयुक्त परिवार वर्तमान समय में न्यायालयों द्वारा प्रोत्साहित की जाने वाली व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का शिकार हो रहा है।"[2] स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों के कारण भी इस प्रणाली को आघात पहुँचा है, यथा –

1. The Hindu Law of Inheritance (Amended Act of 1929)
2. Hindu Women's Right to Property Act of 1937.

कपाडिया का मत है "इन अधिनियमों ने संयुक्त परिवारों के विघटन के मार्ग को आगे बढ़ाया है।[3] शिक्षा के क्षेत्र में हुई प्रगति ने भी संयुक्त परिवार को प्रभावित किया है। अब स्त्रियाँ भी शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति करने लगी हैं। शिक्षित लड़कियाँ परिवार में अपनी सत्ता रखती हैं और अपने से अधिक पढ़े-लिखे से विवाह करना चाहती हैं तथा लड़का भी पढ़ी-लिखी लड़की से विवाह करना चाहता है। इससे बाल-विवाह, विधवा-विवाह की समस्या कुछ सुलझ सकेगी, दहेज प्रथा की तृष्णा भी कम होगी। संयुक्त परिवार में अधिक सदस्य संख्या होने के कारण निम्न मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना, करुणा और आर्द्रता में वह आने की मार समझ कर कुंठित जीवन जीने के लिये बाध्य नहीं समझेगी। दहेज प्रथा की क्रूरता के कारण 'यह पथ बन्धु था' में सुनी अपमानित तथा परित्यक्त कर दी गई, क्योंकि ससुराल वालों को अपेक्षित दहेज नहीं मिला था।[4] दहेज के कारण कई कन्याओं का जीवन नष्ट हो जाता है। श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय के अनुसार – "Marriage has been degraded to the level of market commodity."[5] दहेज की कमी ने सुनी के ससुराल वालों में मनुष्यता की कमी पैदा कर दी है। वे उसकी टाँगें बेकार हो जाने पर दुखी माँ के जीवन को और दुखी करने के लिए पीहर भेज देते हैं। सुनी माँ से सट कर फूट पड़ती है—"जिन्दगी जीवन में आँसुओं

---

१ नरेश मेहता : 'यह पथ बन्धु था', (संस्करण १९६२), पृ० ३६६, ३६७,
२. R.K.Mukerji : Principles of comparative Economics, pp.23-24.
३. K.M.Kapadia : Marriage and Family in India (1966), P 262.
४. नरेश मेहता—"यह पथ बन्धु था" (१९६२), पृ० ४६६.
५. Kamala Devi Chatopadhya—Illustrated Weekly, 2nd Dec., 1956.

का मूल्य है न भावना का। केवल सहना ही सत्य है, बिना सहे कोई गति नही।"[1] उसे अपने प्रति भी निदय होना पडता है। वह दुःख के कारण जड-सी हो गई है। दुःख वाणी हीन होता है। वह कहती है—"रोने वाली आँखो से डर नही लगता, बल्कि सहती आँखो के पत्थरपन को देखकर लगता है कि आँखें स्वय दुःख हो गयी हैं।"[2]

दहेज की कमी के कारण गुनी का जीवन अभिशप्त हो गया है। इस बुराई को शीघ्र समाप्त होना चाहिए। इसके लिए श्री अल्टाकर ने लिखा है "It is high time to put an end to this evil custom which has driven many an innocent maiden to commit suicide"[3] सयुक्त परिवार मे अपेक्षित सम्मान की कमी के कारण कई प्रकार की विषमताएँ समक्ष आती हैं। इसमे नारी को ही सबसे अधिक पीडा का भार वहन करना पडता है, क्योंकि पुरुषो के साथ उसे अपनी जाति की भी ताडना-प्रताडना सहनी पडती है। यदि परिवार में किसी स्त्री की स्थिति किन्ही कारणो से निम्न है तो नारी ही नारी की शत्रु बन जाती है और उसकी विवशता का लाभ उठाया जाता है। सयुक्त परिवार की यही विडम्बना है कि महिलाओं के विशृ खलित जीवन में, उनके विकास में, महत्त्वपूर्ण सहयोग नही देते। उन्हें एक भय-सा यह भी बना रहता है कि कही नारी के अधिक सामाजिक मान्यता पा जाने से उनका महत्त्व घट न जाये। यही कारण है कि दोनों ओर (परिवार तथा नारी) एक प्रकार का तनाव सा आ गया है, जिससे मानसिक सघर्ष उत्पन्न हो गया है, जिसमे कभी-कभी नारी स्वय से विमुख हो जाती है, क्योकि सरक्षण एव पोषण की भावना, पारिवारिक-सामाजिक मर्यादा, उन सब कुछ जान कर अनजान बन जाने के लिए बाध्य करती हैं। परन्तु कोई भी यदि आतकवादी भावना से ग्रसित होने की सभावना रखती है, तो उसमें उसके सहज स्वस्थ भाव का रूपाय ननहीं होता।

आज नारी समानता के भाव मे बढ रही है और व्यक्तित्व के प्रति सजग है, जो परम्परागत सामाजिकता से मेल नही खाती। यह अन्तर विरोधी तत्त्व है, जिनके लिए उदार-सवेदनशील दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है ताकि उसके भावों को अनुप्राणित किया जा सके और आधुनिकता तथा प्राचीनता का समन्वय हो सके, और परिवार की स्नेहिल छाया में अपने सहज विकास के साथ सरल-तरल भाव बनाए बढती जाए, बढती चली जाए। अपने को चौखट म जडा हुआ अनुभव न करे, क्योंकि नैतिक आग्रहो में बन्दी नारी उत्सर्ग करके भी अपरिपूर्ण रह जाती है।

सयुक्त परिवारो की समष्टि की भावना का स्थान आज व्यक्तिवादिता ले रही है, इसलिए ये टूट रहे हैं। जहाँ कही इनका अस्तित्व है भी तो वह केवल बाह्य

१ नरेश मेहता—'यह पथ बन्धु था', पृ० ४८८.
२ वही, पृ० ५१६
३ Altaker—The position of Women in Hindu Civilization.

समाज के अस्तित्व के लिये अत्यन्त आवश्यक है।"[१] सन्तानोत्पत्ति परिवार का एक प्रमुख प्राणिशास्त्रीय कृत्य है, जो मानव के विकास के प्रत्येक चरण में महत्त्वपूर्ण रहा है, जो प्रत्येक संस्कृति एवं समाज में पाया जाता रहा है। परिवार का प्राणिशास्त्रीय कार्य मानव प्रवृत्ति और सृष्टि के नियमों पर आधारित है। इसीलिये विज्ञान की चाहे कितनी प्रगति हो गई है, फिर भी परिवार के इस कार्य में कोई अन्तर नहीं हुआ। यौन सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति परिवार का एक विशिष्ट कार्य है। यौन तथा सन्तानोत्पत्ति के कार्य परिवार के विशिष्ट कार्य हैं।[२]

परिवार की कब उत्पत्ति हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; परन्तु यह निश्चित है कि जहाँ कहीं भी यौन सम्बन्धी इच्छा, सन्तानोत्पत्ति की इच्छा और आर्थिक आवश्यकता मिल गई, वहीं पर परिवार का जन्म हो गया। परिवार का रूप भी इन्हीं तीनों कारणों पर निर्भर है। व्यक्ति का सामाजीकरण भी परिवार में होता है। परिवार मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की भावना प्रदान करता है। सुरक्षा की भावना जीवन को सफल बनाने में सहायक होती है, जो परिवार में ही उपलब्ध होती है। तभी रावर्ट फ्रास्ट लिखते हैं—"घर वह स्थान है जहाँ आप जब भी जाना चाहें, वे आपको आने देंगे।"[३] बच्चा परिवार में जन्म लेता है, परिवार उसे समाज के अनुरूप बनाता है। बर्गेस तथा लाक के अनुसार—"परिवार बालक पर सांस्कृतिक प्रभाव डालने वाली एक मौलिक समिति है तथा पारिवारिक परम्परा बालक को इसके प्रति प्रारम्भिक व्यवहार, प्रतिमान तथा आचरण का स्तर प्रदान करती है।[४] परिवार की व्यक्ति के विकास पर अमिट छाप होती है। इसी की पुष्टि करते हुए सदरलैन्ड तथा वुडवर्ड लिखते हैं—"वास्तव में परिवार व्यक्तित्व के सामान्य प्रकार पर छाप लगा देता है।"[५] एक चीनी कहावत के अनुसार "पैरेन्ट्स आर द फर्स्ट टू बुक्स आव् द चाइल्ड"। सदरलैण्ड तथा वुडवर्ड के अनुसार—"आदर्श रूप में परिवार एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक आरामगृह है जहाँ पर व्यक्ति सुरक्षापूर्वक आराम कर सकता है।"[६]

---

१. Robert L. Sutherland & J. L. Woodward : Introductory Sociology (1948), P. 610.

२. Ogburn & Nimkaff : A Handbook of Sociology, P. 459.

३. Robert Frost : The Death of the Hiredman complete poems-New York Henery Halt and company (1949), pp. 49-55.

४. Burgess & Locke : The Family (1950). P. 212.

५. Sutherland & Woodward : Introductary Sociology (1958), P. 613—"Infact the family stamps the general type of personality."

६. Ibid, P. 615.

जीवन के भौतिक स्तर मे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढती जा रही हैं। यह प्रक्रिया सामाजिक प्रतिमानो को विभिन्न प्रकार से प्रभावित कर रही है, परिवार मे आर्थिक स्तर की चिन्ता अधिक रहती है, इसलिए आय विशेष पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। जिसके फलस्वरूप बाल-विवाह की प्रवृत्ति कम होती जा रही है तथा परिवार की सदस्य संख्या कम हो इसके लिये भी अब लोग सजग हैं, क्योंकि अपने जीवन के भौतिक स्तर (Material standard of Living) को ऊँचा करना चाहते हैं। वह आधुनिक स्तर के लिये घर मे फ्रीज, कार होना अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, बजाय चार-पाँच बच्चे होने के, जिसमे परिवार नियोजन भी सहायक हुआ है। पहले 'बच्चे ईश्वर की देन हैं', समझकर स्वीकार किये जाते थे। व्यक्ति की ओर से ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध जाना पाप समझा जाता था। परन्तु आज इस प्रकार की कोई नैतिक मान्यता नही है, बल्कि अधिक बच्चे उत्पन्न करके उन्हे उचित लालन पालन न देकर समाज के लिये अनुपयोगी बनाना अपराध माना जाता है। इसलिये आज परिवार मे उतनी ही सदस्य संख्या अपेक्षित है जितनों का निर्वाह आसानी से हो सके।

परिवार का आधुनिक ढाचा परम्परागत परिवार से भिन्न है। जैवकीय तथा सन्तानोत्पत्ति के कार्य के अतिरिक्त परिवार की आर्थिक सुरक्षा का कार्य महत्वपूर्ण है। औद्योगीकरण के पश्चात परिवार उत्पादन का केन्द्र नही रहा। पहले व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति परिवार ही करता था, परन्तु आजकल *व्यक्ति परिवार से अधिक अन्य समितियो से सम्बन्धित रहता है, परिवार पर उसकी* आश्रितता बहुत कम होती जा रही है। कृषि प्रधान परिवारो में अधिक सदस्या की आवश्यकता थी, परन्तु जनसख्या की वृद्धि के कारण खेती पर निर्भर रहना कठिन हो गया। शिक्षा तथा यातायात की सुविधा के कारण एक स्थान से व्यक्ति अपने को बधा नही रख सकता, इसलिये भी परिवार का आकार छोटा होने लगा। व्यक्तिवादिता तथा अर्थमूलकता के कारण लोग अपने नातेदारो से अधिक सम्बन्ध नही रखते। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी पहले परिवार निर्धारित करता था, आधुनिक परिवार का इस दृष्टि से कोई महत्व नही है। व्यक्ति अपने कार्य एव योग्यता के द्वारा सामाजिक स्थिति प्राप्त करता है। यह अवश्य है कि आजकल पद-प्राप्ति मे *भाई-भतीजावाद का खूब बोलबाला है, परन्तु घरेलू सम्बन्धो मे, जहाँ खान पान का* सवाल है, आर्थिक सम्बन्धों म नातेदारी का आधुनिक परिवार के लिये कोई महत्त्व नही रह गया। 'एकाकी परिवार की सदस्य संख्या बहुत सीमित हो गई है, जिसमे पति-पत्नी तथा बच्चे ही सामाजिक इकाई के रूप में आते हैं।''[१] प्रारम्भ मे परिवार का स्वरूप यही था, जिसे मूल परिवार (Nuclear family) कहा गया है। मरडोक

---

१ Elliott and Merrile : Social Disorganisation (1961), P.339.

इस प्रकार एकांगी परिवार व्यक्ति के लिए अधिक सुविधा जुटाने का प्रयास करते हैं। उसके स्वच्छन्द व्यक्तित्व को विकसित होने का अवसर प्रदान करते हैं। साथ ही इस भौतिकवादी युग में एकांगी परिवारों ने व्यक्ति को और भी भौतिकवादी बना दिया है। यहाँ वह निकटतम व्यक्तियों को भी स्थान देने में उदारवादी दृष्टिकोण नहीं रख पाता। परन्तु इससे उसके सम्बन्धों का स्वरूप स्पष्ट रहता है। वह बरबस अपने पर किसी सम्बन्धी को थोपे हुए नहीं रखना चाहता, इसलिए औपचारिकता निभाने के लिए विवश नहीं होता। उसके सम्बन्धों में दिखावा या आडम्बर नहीं होता, न ही अपनी भावनाओं का हनन होने देता है। इसलिए उसके सहज सरल भावों को पूर्णतया अभिव्यक्ति मिलती है। पेशे आदि के चुनाव में भी वह दूसरों से निर्देशित नहीं होता। उसका जीवन अपना है, भविष्य अपना है; जिसके निर्माण में उसका अपना निर्माण ही अधिक महत्त्व रखता है। दूसरों के पेड़ की छाया में बैठकर वह अपने को शीतल नहीं करता, उसे अपने लिए स्वयं अपने छत्र का निर्माण करना होगा, जिसकी छाया उसे जीवन-शक्ति से अनुप्राणित कर सके।

(ग) परिवर्तित मूल्यों का पारिवारिक जीवन पर प्रभाव

आज की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि का प्रभाव गाँव या नगर के जीवन पर दिखाई देता है। परिवर्तन सदैव होता रहा है। परिवर्तन की प्रक्रिया एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं करती। मनुष्य बालक के रूप में जन्म लेता है—शिशु, किशोर युवा, वृद्धावस्था को प्राप्त करते हुए मृत्यु का आलिंगन करता है। प्रत्येक क्षण उसमें परिवर्तन होता रहता है। समाज भी परिवर्तन की इस प्रक्रिया से अछूता नहीं, उसमें अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। समाज में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सामाजिक ढांचा, सामाजिक सम्बन्ध या समाज में होने वाले अन्तरों को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। जान्स ने अपनी पुस्तक 'बेसिक सोशियोलोजिकल प्रिंसिपल्स' में लिखा है कि सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक परस्पर सम्बन्धी क्रिया या सामाजिक संगठन के किसी अंग में अन्तर या रूपान्तर को वर्णित करने के लिए प्रयोग किया जाता है।[1] समाज अन्य सभी वस्तुओं की भांति निरन्तर और निश्चित रूप से बदलता रहता है। सामाजिक परिवर्तन के कई कारण हैं।

सामाजिक परिवर्तन का समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रथम कारण मनोवैज्ञानिक है। परिवर्तन मनुष्य की प्रकृति में निहित है। वह नवीनता का रसास्वादन करना चाहता है। मनुष्य यद्यपि रूढ़िवादी होता है, फिर भी नवीनता की खोज में संलग्न रहता है। वर्तमान सामाजिक संगठन से भिन्न किसी नवीन व्यवस्था की खोज की इच्छा उसमें बनी रहती है। जिज्ञासा की इस मूल प्रवृत्ति को Insquisitive Insticts कहते

---

१. John's Basic Sociological Principles, P. 96.

है। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य सदैव नवीन खोज एव अन्वेषण करता रहता है, जिसके फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होता रहता है।

प्रत्येक नवीन मूल्य एव धारणा सामाजिक सगठन एवं व्यवस्था को प्रभावित करती है। सांस्कृतिक कारण सामाजिक परिवर्तन को उत्पन्न करते हैं। सास्कृतिक परिवर्तन एवं सामाजिक परिवर्तन मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार प्रायोगीकरण (टेक्नालाजीकल फेक्टर) भी सामाजिक परिवर्तन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप भीषण सामाजिक परिवर्तन हुए। एक सामाजिक परिवर्तन दूसरे सामाजिक परिवर्तन को जन्म देता है। मनुष्य के पर्यावरण मे होने वाले प्रत्येक परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों मे परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। किसी देश की सामाजिक व्यवस्था के विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि वे बिल्कुल वही नही हैं, जो २५-५० वर्ष पूर्व थीं। साधारण परिवर्तन प्रत्येक अवस्था में होते रहते हैं, परन्तु यातायात एव आवागमन की वृद्धि के परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन की गति बढ जाती है। आधुनिक जीवन सामाजिक परिवर्तनों से पूर्ण है और मनुष्य इन्हे जीवन का एक अंग समझने लगा है। ग्रीन ने उचित ही लिखा है (योरप मे) कि परिवर्तन का उत्साहपूर्ण स्वागत प्राय. जीवन का एक ढग हो गया था।[1] आधुनिक जीवन मे अधिक रूढिवादिता से काम नही चल सकता। इस युग के मनुष्य के व्यक्तित्व का सबसे बडा गुण यही है कि वह परिवर्तित व्यवस्थाओं से सामजस्य स्थापित कर ले। सामाजिक सहिष्णुता वर्तमान सभ्यता का मूल्यवान आभूषण है। मनुष्य की सफलता सामाजिक परिवर्तनो के साथ-साथ कदम से कदम-मिलाकर चलने मे ही है।

सामाजिक परिवर्तनो ने समाज की सभी सस्थाओं को प्रभावित किया है। चूंकि परिवार प्रारम्भिक समूह है और मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किसी न किसी रूप में इस पर निर्भर है अत. सामाजिक परिवर्तनो ने मनुष्य की इस आधारभूत सामाजिक सस्था को अत्यधिक प्रभावित किया है। प्रागैतिहासिक युग से औद्योगिक युग के परिवारों के रहन-सहन, खान-पान रीति-रिवाज आदि से आपसी सम्बन्धों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। विवाह जैसी महत्त्वपूर्ण सस्था मे भी परिवर्तन हुए हैं। प्रेमचन्द के गोदान मे इस सम्बन्ध में नवीन मूल्यों की स्थापना दृष्टिगत होती है। मेहता तथा मालती के सम्बन्ध में विवाह के स्थान पर मित्रता की स्थापना नये मानवीय मूल्यों एवं सम्बन्धो की ओर इंगित करती है, जिसकी कल्पना प्रेमचन्दजी विनय-सोफिया (रगभूमि) मे नही कर सके थे। उसे गोदान मे व्यक्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'गोदान' से हिन्दी उपन्यास अपनी पुरानी परम्परा से अलग होने लगता है आज के उपन्यास की नीव इस प्रकार

---

१. The enthuisiastic reception of change has become almost a way of life : Green Sociology, P.520.

१९३६ से पहले ही पड़ चुकी थी। इस आधुनिकता की चुनौती को जैनेन्द्र ने भी सुनीता तथा 'त्यागपत्र' में स्वीकारा है।

समाज के परिवर्तित मूल्यों के कारण अपने पुराने रूप के चौखटों को तोड़कर परिवार ने एक लचीला प्रारूप धारण किया है। 'झूठा सच', 'गिरती दीवारें' 'नदी के द्वीप', 'बूंद और समुद्र', आदि में परिवर्तित जीवन-मूल्यों का प्रभाव पारिवारिक जीवन में दिखाई देता है। 'नदी के द्वीप' 'बूंद और समुद्र' में कहीं वैयक्तिक सामाजिकता की विवेचना है और कहीं सामाजिक वैयक्तिकता की विवेचना है। व्यष्टि और समष्टि में नये मूल्यों की खोज का लेखक प्रयास करता है। आधुनिक युग के नये धरातलों में नये मूल्यों की पुकार की छटपटाहट, अकुलाहट को भाषिक अभिव्यक्ति मिली है। आधुनिकता की प्रक्रिया में जीवन की मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाकर आंकना कहां तक सम्भव हो सकेगा, कहा नहीं जा सकता। हर उपन्यास में आधुनिकता से साक्षात्कार, उपन्यासकार अपने-अपने ढंग से करते हैं। जीवन तथा जगत् का चित्रण तथा मूल्यांकन समष्टि, सत्य-समष्टि मंगल के रूप में जहां एक ओर उपन्यास करता है, वहां कुछ उपन्यासों के जीवन में तथा जगत को झांकने में व्यष्टि सत्य-व्यष्टि यथार्थ, को लेकर होता है। जैसे, नागार्जुन समष्टि-सत्य को लेकर चलते हैं तो अज्ञेय व्यष्टि-सत्य को। व्यष्टि-सत्य का एक उदाहरण नरेश मेहता के 'दो एकान्त' नामक उपन्यास में देखने को मिलता है। ये व्यष्टि-सत्य उनके पारिवारिक जीवन में पूर्णतया चित्रित हैं। विवेक और वानीरा के बीच में जो कुछ हुआ है वह 'अन-हुआ' नहीं कहा जा सकता है। कारण कि चाहे लगता हो कि हमारा मन बालू का है, पर वास्तव में होता वह चट्टान ही है। एक बार अंकित हो जाने पर उसे विकृत भले ही कर दिया जाए परंतु वह सदा-सदा के लिए किसी न किसी रूप में हमें सालने के लिए विद्यमान ही रहता है। व्यक्ति भूल सकता है, विस्मृत नहीं कर सकता। जबकि वानीरा मानती है...... कि उसे 'निर्जन सिकता' में जाकर शेष जीवन पर्यन्त वैसे ही रहना है जैसे कि पुरातत्वी लोग किसी ऐतिहासिक प्रतिमा को संग्रहालय में ले जाकर प्रतिस्थापित कर देते हैं। .. ....वह उस बन्द घड़ी की तरह हो गई है जिसकी चाभी आनन्द इलाहाबाद जाते समय अपने साथ ले गया है।....... सारे घड़ित्व के होते हुए भी बन्द। विवेक को अनिवार्य बोझ लगती है, तो वह विवेक से कहना चाहती रही है कि विवेक इस अनिवार्य को काट फेंको लेकिन यह या वह कुछ भी तो कहने को मन नहीं कहता। ठीक है, उसने हठात् चोट को वैसे ही सहा है *जैसे कि शीशे पर ओर का प्रहार हुआ हो, और शीशा चूर-चूर हो* उठने पर टूट न गिरा हो, बस वैसा ही टूटापन अपने अन्तर में लिए वह संयुक्त दिख भर रही है, है नहीं। उसने तो कभी विवेक पर यह व्यक्त नहीं किया, चूंकि वह अमूल्य दर्पण है, इसलिए टूटा होने पर विशिष्ट है अतः वह भार वहन करे।"[1]

---

१. नरेश मेहता : 'दो एकान्त', पृ० १४१.

वानीरा तथा विवेक अलग अलग घटे घटे से अपने हृदय का भार लिए एक साथ रहते हुए भी नितान्त एकाकी हैं। इस रूप में 'दो एकान्त' शीर्षक बड़ा सार्थक सिद्ध हुआ है। उनके एक साथ रहने से वैवाहिक जीवन की विडम्बना ही सिद्ध होती है। विवेक सब कुछ जानकर, देखकर मूक है। वह अपने को सरक्षक मान बैठा है। यही कारण है कि यह जानते हुए भी कि वानीरा उससे बहुत दूर है, उससे अपने आपको लगाए हुए है, बाँधे हुए है। वह मन में मानता है कि इस गृहस्थी रूपी रथ का कृष्ण के अनुरूप वह सारथी है, यदि वह पहले उतर जाता है तो वह रथ जल जाएगा जैसे कि महाभारत के युद्ध की समाप्ति के उपरान्त कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि रथ से पहले तुम उतर जाओ मेरे उतरने के उपरान्त यह रथ जल जायेगा। परन्तु इस प्रकार के सरक्षण की भावना को उसने अपनी ओर से ही अपने पर थोप रखा है, क्योंकि वानीरा ने कभी नहीं चाहा कि उसे अमूल्य दर्पण के समान जो टूट चुका है, विशिष्ट मानकर अपना ए रहे। विवेक में पोषण की भावना है, सरक्षण की भावना है, आधिपत्य की नहीं। जबकि इसके पूर्व पारिवारिक मूल्यों में आधिपत्य को महत्त्व दिया जाता था। पारिवारिक मूल्यों का बदलना रूप हमारे समक्ष उभर कर आता है। रमेश बक्षी के 'वैशाखियों वाली इमारत' में पारिवारिक जीवन के नये आयामों पर प्रकाश डाला गया है। नायिका अपने भावों को व्यक्त करते हुए कहती है कि किसी दिन दिमाग फैलाकर बैठ जायेंगे और इस निर्णय पर पहुच जायेंगे कि आपको मुझे झटक देना है। लेकिन मैं ऐसा नहीं कर सकूंगी। मैं आपको झटक नहीं सकती। इसलिए कि मेरे मूल्य और मेरे तर्क और मेरी दृष्टि आपसे अलग होकर कुछ सोचने को तैयार ही नहीं है। अन्तर केवल यह है कि बिना कुछ सोचे समझे एक जोश में आप चाहें जो कर गुजरना चाहते हैं और मैं जो कुछ भी करना चाहती हू उसके लिए रास्ता बनाती हू। मैंने अब तक यदि आपको अस्वीकार किया है तो, और स्वीकार किया है तो, इसलिए कि पहले रास्ता तैयार हो जाए.....।"[1] "सच मानिए आपको समर्पित होने मे और बाकी नही रह गया है। अगर समर्पण को आप दो-चार चुम्बनों और आलिंगनों से तौलकर नहीं देखने तो हर पुरुष हर शाम, दोपहर, हर रोज आपकी हू। इसका कोई भौतिक रूप नही होगा, जिसे कि मैं दिखा सकू। शायद आपकी बौद्धिकता इसे स्वीकार नही कर सकेगी।"[2]

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि आपसी सम्बन्धों में भावात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता को अधिक महत्त्व दिया है। आपसी सम्बन्धों में जहाँ सहज भावात्मक लगाव होता है, वहाँ तर्क या बौद्धिकता को कोई महत्त्व नही दिया जाता, परन्तु नये आचरणों मे सम्बन्ध को किसी बौद्धिकता की कसौटी पर कसकर निर्धारित

---

१. रमेश बक्षी 'वैशाखियों वाली इमारत' (प्र० सस्क० १९६६), पृ० १५६.
२. वही पृ० १६०

करना नवीन दृष्टिकोण है। पारिवारिक मूल्यों का परिवर्तित रूप लक्ष्मीनारायण लाल के 'काले फूल का पौधा' में भी दिखाई देता है, इसमें *मध्यवर्गीय समाज की* विषमता, अशान्ति, असन्तोष की अभिव्यक्ति है। इसमें पूंजीवादी संस्कृति की मान्यताओं की आलोचना तथा साथ ही देहाती संस्कृति की, जिसे 'गीता' आत्मसात किये हुए है, विवेचना की गई है। गीता को शहरी जीवन खोखला और आडम्बरपूर्ण लगता है। वह तुलसी के बिरवे को, जिसे 'काले फूल का पौधा' कहा गया है, मिट्टी से अपने साथ लाई है, जो भारतीय संस्कृति या ग्रामीण संस्कृति कहा गया है, उसका प्रतीक है। इसमें विद्या तथा देवन के चित्रण में लेखक ने पूंजीवाद *संस्कृति की आलोचना की है, परन्तु भारतीय संस्कृति की मान्यताओं में दृढ़ विश्वास* रखने वाली गीता को ही अन्त में विजय मिलती है।

उषा प्रियम्वदा के 'रुकोगी नहीं ......राधिका' नामक उपन्यास में एक युवती *'राधिका' के मानसिक ऊहापोह का चित्रण है, जो अपने पिता को अपने जीवन की* धुरी मानती है। पिता द्वारा विद्या को अपना जीवन साथी बना लेने पर अपने को निराधार निर्वासित समझने लगती है। उसके जीवन में आत्मक्षोभ, विकल वेदना की छटपटाहट भर गई है। मन की शान्ति वह विदेश में भी नहीं पा सकी और भारत लौट आती है, परन्तु सभी से विचित्र व्यवहार पाकर अपने ही आंसुओं से अपनी मानसिक प्रतिमा को धोती रहती है। वह अक्षय तथा मनीश दो नवयुवकों के संसर्ग में आती है। मनीश के प्रति उसका सहज लगाव है। विद्या की आत्महत्या के पश्चात् भी वह अपना खोया स्थान पिता से पाने का कोई प्रयास नहीं करती और न ही अपनी कोई दुनियाँ बसाना चाहती है। वह जीवन के किसी नवीन आकर्षण से कहीं अपना तादात्म्य नहीं कर पाती। वह रुकती नहीं। सभी कुछ उसे पितृ-स्नेह की स्वप्निल छाया के भग्न अवशेष ही प्रतीत होते हैं। वह किसी छाया में श्रम का परिहार करने के लिए रुकती नहीं है। अत: रुकोगी नहीं ......राधिका।

राधिका के जीवन से प्रतीत होता है कि परिवार की नई मान्यता किस प्रकार जीवन धारा को बदल देती है और नायिका राधिका के जीवन की कड़ुवाहट तथा उलझन से भर देती है, जिसमें उसका व्यक्तित्व उलझ कर रह गया है। पिता से उसने शिष्ट जीवन की परम्परा पायी है, जिसे अपने जीवन में उतार लिया है। उसका शील और विवेक परम्परागत, पारिवारिक मूल्यों के अनुरूप नहीं है, वरन् वह व्यक्तिनिष्ठ है। प्रतिभाशाली, मननशील राधिका में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति मोह है। वह ईर्ष्या, द्वेष आदि से कोसों दूर है वह अपने में ही लीन एक पहेली है। उसके जीवन की मान्यताओं को ठेस लगी है, इसलिए वह अतीत को भूल जाना चाहती है, जिसका लेखिका ने मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। वह पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है यह प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर थोपा हुआ-सा नहीं प्रतीत होता। वहीं तक वह प्रभावित है जहां तक उसका व्यक्तित्व उसे ग्रहण कर सका है। इसीलिए उसके विचारों में गाम्भीर्य है। लेखिका ने मार्मिक

भावनाओं, आन्तरिक द्वन्द्व का और बोझिल वातावरण का बड़ा सजीव चित्रण किया है। इस उपन्यास पर दृष्टिपात करते हुए यह प्रतीत होता है कि आधुनिक शिक्षा से पारिवारिक मान्यताओं में बहुत परिवर्तन आया है, जिसके कारण सह अस्तित्व की भावना को प्रश्रय मिला है।

पारिवारिक मान्यताएं निःसन्देह जीवन के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, जिनका चित्रण भीष्म साहनी के लघु उपन्यास 'झरोखे' में भी हुआ है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय परिवार की झांकी है, जिसमें छोटे से बालक की आंखों द्वारा उस परिवार की छोटी छोटी घटनाओं को देखा है। एक एक घटना प्रबल संस्कार बन कर बच्चों के भावी चरित्र की रूपरेखा गढ़ती है। यह घटनाएँ छोटी छोटी होने पर भी जब संस्कार बन जाती हैं तो महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं (जैसे पण्डितजी का बच्चों को समझाना कि गाली देना दुराचार है)। इन साधारण घटनाओं के भीतर जिन्दगी करवट लेती रहती है। जो पात्रों के जीवन में निर्णायक बनकर जिन्दगी की राह (रुख) बदल देती है। एक छत के नीचे रहते हुए भी सभी की राहें अलग अलग हो सकती हैं, यही झरोखे के कथानक में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। परिवर्तित मूल्यों में जीवन का दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो जाता है। जीवन का दृष्टिकोण परिवर्तित होने से मान्यताओं में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। लक्ष्मीनारायण लाल के 'बया का घोंसला और सांप' में गांव में होने वाले रूढ़िवादी अत्याचारों का मार्मिक चित्रण है। अवध के देहातों की यथार्थ कारुणिक झांकी प्रस्तुत की गई है। सुभागी जो इन अत्याचारों की शिकार है, वह प्रेमचन्द की निर्मला की याद दिलाती है परन्तु आनन्द, जिसका शिक्षा के द्वारा दृष्टिकोण उदारवादी है इन अत्याचारों का मुँह तोड़ जवाब देना चाहता है। वह कहता है—'तुम्हारे एक एक आंसू का प्रतिशोध ले सकता हूं लेकिन क्या इससे हमारी आत्मा को शान्ति मिल जायेगी। हम पर किये गये अत्याचारों के कारण मिट जाएंगे। पुरैना या सिकन्दरपुर अकेले ही तो गांव नहीं हैं और इनके क्रूर, कठोर, संकुचित, स्वार्थी बाशिन्दे और रामनगर के तहसीलदार (आनन्द के पिता) ही अकेले विश्वासघाती नहीं हैं, बल्कि यहां के सारे गांव पुरैना, सिकन्दरपुर की तरह हैं, सबकी आत्माएं विषाक्त हैं। रामनगर भी असंख्य हैं और तहसीलदार भी। रोओ नहीं सुभागी धैर्य रखो।' इससे प्रतीत होता है कि नवीन विचारों नवीन दृष्टिकोण का 'आनन्द' पुरानी परम्पराओं, मान्यताओं को तहस-नहस कर देना चाहता है। अपने पिता के अत्याचारों से उसका मन विद्रोह कर उठता है। गरीब और अमीर की खाई को वह पाट देना चाहता है, परन्तु वर्षों से चली आई विचारधाराओं को समूल नष्ट करना अकेले उदारवादी आनन्द के लिए सम्भव नहीं हो पाता।

परिवर्तित मूल्यों के कारण पारिवारिक जीवन में जो परिवर्तन आया है उसने परिवारों के भविष्य को भी प्रभावित किया है। परिवारों के स्वरूप तथा मान्यताओं में अभूतपूर्व परिवर्तन आया है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

(घ) परिवारों का भविष्य

अधिकांश विद्वानों को भौतिकवादी सभ्यता के कारण परिवारों का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगा है, क्योंकि परिवारों के अनेक परम्परात्मक कार्य विभिन्न समितियों द्वारा सम्पन्न किये जाने लगे हैं, परन्तु परिवार के कुछ कार्य ऐसे हैं जो किसी भी समिति द्वारा सम्पन्न नहीं किये जा सकते हैं ; जैसे सन्तानोत्पत्ति, बच्चों की देख-भाल तथा उन्हें स्नेह प्रदान करना। यह कहा जा सकता है कि बच्चों की देखभाल नर्सरियों द्वारा की जा सकती है। यह सत्य है, परन्तु बच्चों को वांछित स्नेह उनसे उपलब्ध नहीं हो सकता। बच्चे के सामाजीकरण (सोशियलाइजेशन) के लिये स्नेह प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य भी परिवार के अतिरिक्त अन्य किसी समिति द्वारा सम्भव नहीं। परिवार के द्वारा सुरक्षा की भावना बच्चे को मिलती है। मनोवैज्ञानिक सुरक्षा के अभाव में बच्चे का व्यक्तित्व दबा-घुटा रह जाता है। परिवार के आधुनिक काल में सीमित कार्य रह गये हैं, परन्तु वह अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। परिवार का आधार अब परस्पर स्नेह होता जा रहा है। जो परिवार स्नेह प्रदान नहीं कर सकता वह टूट जायेगा। बर्गेस तथा लाक के अनुसार—"पारस्परिक स्नेह, विवाह और परिवार का आवश्यक आधार बनता जा रहा है।"[1] स्नेह का तत्व परिवार की आधारशिला है। जब तक परिवार इस तत्व को प्रदान करते रहेंगे, उनकी समाप्ति नहीं होगी।

परिवार के परम्परात्मक कार्य यदि अन्य समितियों द्वारा किये जाने लगे हैं तो अब परिवार अपने शेष कार्यों को अधिक कुशलता से पूर्ण कर सकेंगे तथा परिवार के सदस्य आन्तरिक एकता तथा प्रेम से परिवार का निर्माण कर सकेंगे। मनुष्य में जब तक राग की मूल प्रवृत्ति विद्यमान है, वह स्नेह का आदान-प्रदान चाहेगा।

भारतीय संस्कृति में परिवार विहीन समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। पाश्चात्य में बालघर, वाइ एम०सी०, ओल्डहाउस आदि संस्थाएं हैं, उन्हीं के आधार पर भारत में भी संस्थाओं की स्थापना हुई; परन्तु इससे परिवार की संस्था समाप्त नहीं हुई, केवल वहीं लोग ऐसी संस्थाओं का सहारा लेते हैं जिन्हें विवशता होती है। ये संस्थाएं बनाई गई हैं, उनका सहज विकास नहीं हुआ है जिस प्रकार परिवार की संस्था का स्वतः निर्माण हुआ है। ये संस्थाएं कृत्रिम हैं इनमें रागात्मक लगाव नहीं

---

१. "Mutual affection is becoming the essential basis of marriage and the family"—Burges Ernest and Lock Harney J.--The Family from Institution to Companionship 2nd Edition, American Book Co., New York, 1953, Page 25.

हो सकता। यूरोप के ओल्ड हाऊसेज (Old Houses) मे वृद्ध व्यक्तियो को रखा जाता है। पति, पत्नी तथा बच्चे एक-दूसरे से विलग हो जाते हैं और एक-दूसरे का मुँह देखने को भी तरसते हैं। उनका मूक क्रन्दन सुनने वाला कोई नही होता। अतीत की सुखद कल्पनाएँ उन्हें त्रास पहुँचाती रहती हैं और उसका हाहाकार उन्ही तक सीमित रह जाता है। यह प्रयोग विदेश म भी सफल नहीं हुए, जो भौतिकवादी सभ्यता के शिखर पर हैं, फिर भारत जैसे देश मे इनकी सफलता का कोई महत्त्व नही है। अमेरिका मे पारिवारिक गठन की दिशाओ मे महत्त्वपूर्ण काय किय जा रहे हैं। वहाँ विवाह तथा पारिवारिक जीवन सम्बन्धी परामर्श देने का कार्य कई संस्थाएँ करती हैं, जैसे:—

(i) American Association for Adult Education
(ii) Family welfare Association of America
(iii) National councial of Family Relations

परिवार परामर्शदात्री समितियाँ (फैमिली गाइडेन्स क्लीनिक्स) भारत मे पाई जाती हैं। इसस स्पष्ट होता है कि अमेरिका में जहाँ परिवार अत्यधिक विघटित है वहाँ भी पुनर्गठन के लिये अनेक कार्य किये जा रहे हैं। परिवार के अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक शान्ति, स्थिरता, समृद्धि प्रदान करन वाली कोई अन्य समिति नही हो सकती, क्योकि उनका आधार स्नेह नही होता, वास्तव मे परिवार अपने सदस्यों के लिए एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, परन्तु पहले बाहर से समस्त कार्य इस केन्द्र की ओर आते थे और अब समस्त कार्य इस केन्द्र से प्रारम्भ एव प्रेरित होकर बाहर की ओर जाते हैं। परिवार का महत्त्व केन्द्र के रूप मे अभी भी उतना ही है। परन्तु इससे परिवार की संस्था के भविष्य पर कोई आघात नही होने वाला। ओगबर्न तथा निम्काफ के अनुसार परिवार भविष्य मे महत्वपूर्ण संस्था के रूप मे रहेगा। परिवार एक अत्यन्त लचीली संस्था है। स्वरूप तथा कार्यों में मौलिक परिवर्तनों के होते हुए भी परिवार प्रत्येक समाज में रहा है।[1] परिवार के स्वरूप में परिवर्तन समय समय पर होता रहा, परन्तु उसकी स्थिरता मे कोई अन्तर नहीं आ सकता। सदरलैण्ड तथा वुडवर्ड के अनुसार "परिवार एक सांस्कृतिक सार्वभौम है, जिसके स्वरूप मे अन्तर है परन्तु मानव की प्रकृति और मानव अनुभव म दृढ़ता से जड जमाये हुए है।"[2] वतमान

1 Ogborn and Nimkaff A Handbook of Sociology (1947) P. 484.

2 "The family is a cultural universal Varying in details of structure but rooted firmly in the nature of man and in human experience." Sutherland and Woodward-Introductory Sociology, P. 527 (1948)

काल में परिवार एक संक्रान्तिकाल से गुजर रहा है, सदस्यों के सम्बन्ध शिथिल हो रहे हैं, परन्तु परिवार के पारिवारिक प्रतिमानों में कोई मौलिक अन्तर नहीं हुआ। अपने सार्वभौमिक प्रतिमानों के कारण परिवार का भविष्य अन्धकारमय नहीं है। समाज में अनेक छोटे-बड़े समूह तथा समितियाँ होती हैं, परन्तु उनमें परिवार एक प्राथमिक समूह है। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर इनका अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। परिवार में असीम परिवर्तनशीलता है, परन्तु इसके साथ ही विलक्षण निरन्तरता तथा स्थायित्व है। यह अपने विशिष्ट कार्यों के कारण समाज में अपनी प्राथमिकता बनाये रहेंगे। भविष्य में इनके अस्तित्व की समाप्ति का भय नहीं है।

परिवारों के भविष्य की चिन्ता विभिन्न समाजशास्त्रियों ने की है, परन्तु हिन्दी उपन्यासकारों ने परिवारविहीन समाज की समस्या पर प्रकाश नहीं डाला। सम्भवतः भारत जैसे देश के लिये इस प्रकार की कल्पना ही नहीं की जा सकती, क्योंकि यहां की सभ्यता-संस्कृति में इस प्रकार की कल्पना ही नहीं हो सकती। जहाँ अतिथि सत्कार भी भावविभोर होकर किया जाता है, वहां अपने ही रक्त सम्बन्धियों से पूर्णतया सम्बन्ध समाप्त कर लेना सम्भव नहीं और अब तो विदेशों में भी परिवार की समस्या को आवश्यकता को बहुत महत्व दिया जाने लगा है ताकि अपराध आदि की संख्या में वृद्धि न हो और देश को अच्छे नागरिक प्राप्त हो सकें।

अध्याय ३

उपन्यास साहित्य में सामाजिक परिवर्तन

(क) सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति

हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भिक चरण मे जीवन और समाज के कुछ चित्र उभरे थे परन्तु परवर्ती उपन्यासों मे अनेक परिवर्तन हुए हैं। प्रारम्भिक युग से लेकर नवीनतम उपलब्धियों तक परिवर्तन की प्रक्रिया परिलक्षित होती है।

प्रारम्भिक काल के उपन्यासों मे कल्पना की विविधता, कौतूहल, मनोरजन तथा जिज्ञासा की योजना थी, परन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ कोरी कल्पना का स्थान यथार्थ ने ग्रहण करना प्रारम्भ किया। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों मे यही सामाजिक परिवर्तन व्यापक रूप से दिखाई देने लगा और उपन्यास साहित्य मे जहाँ ऐयारी, तिलस्मी अथवा मनोरजन ही प्रधान था वहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक अन्तस्फुरणो, आर्थिक विशेषताओं, सामाजिक राजनीतिक भ्रान्तियों, अचेतन-अवचेतन संघर्षों तथा मनोवैज्ञानिक कुण्ठाओ की अभिव्यक्ति उपन्यास साहित्य का विषय बनने लगा, युग-चेतना तथा जीवन के संघर्षों से प्रभावित नवीन परिवर्तन परिलक्षित होने लगे। साहित्य युग और समाज का दर्पण है। उपन्यास मनोभावो की अभिव्यक्ति का साधन हैं। इसमें युग और समाज की समस्याओ का समाधान करने का प्रयास लेखक करता है। जब हम उपन्यास-शिशु के जन्म की ओर निहारते हैं तो पता चलता है कि उस काल में न स्वतन्त्रता की स्वर लहरी थी न जन-जागरण की दुदुभी, उस समय ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी उपन्यास लिखे जाते थे। यह ठीक है कि लेखक युग-द्रष्टा होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि युग की परिस्थितियाँ लेखक की कृति को प्रभावित करती हैं, प्रेमचद तथा उनके समकालीन उपन्यासकारों ने युग वाणी को अपनी कृतियों मे मुखरित किया और समाज की जटिल समस्याओं को (सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि) ध्वनित किया। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों मे १९३६ तक की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक हलचल की झाकियां परिलक्षित

होती हैं। उनके उपन्यासों की सामाजिक पृष्ठभूमि में राजनीति का बहुत बड़ा हाथ है।

देश की परिस्थितियों में मोड़ आया-युग की चेतना ने करवट ली विदेशों से हमारा सम्पर्क हुआ, आजादी की लड़ाई रंग लाई। इस युग में मार्क्सवाद, गाँधीवाद आदि कई विचारधाराएँ प्रस्फुटित होने लगी। १९३६ से १९४६ तक के जीवन में उपर्युक्त बहुविध परिवर्तन आया। जैनेन्द्र, प्रसाद, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, अश्क, अज्ञेय आदि ने अनेक नई समस्याओं पर प्रकाश डाला। जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, अश्क आदि ने निम्न-मध्यवर्ग के जीवन की निराशाओं और असफलताओं का वर्णन किया। भगवतीचरण वर्मा तथा अज्ञेय व्यक्तिवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण लेकर उपन्यास साहित्य के क्षितिज पर उदित हुए और मनोविश्लेषणशास्त्र से प्रभावित कुण्ठित-दमित वासनाओं को अभिव्यक्ति इलाचन्द्र जोशी देने लगे। मार्क्सवादी विचार-धारा के पोषक यशपाल तथा भविष्य की आवश्यकता के लिए रांगेय राघव, नागार्जुन रेणु, धर्मवीर भारती आदि का प्रादुर्भाव हुआ। वृन्दावन लाल वर्मा ऐतिहासिक, रोमा-टिक शैली लेकर प्रस्तुत हुए।

उपन्यासों में परिवर्तन नये सम्पर्कों के कारण आया। द्वितीय महायुद्ध ने पश्चिमी देशों की नैतिकता के मूल्यों को सर्वथा बदल दिया। पश्चिमी देशों के नैतिकता के मूल्य भारतीय समाज से पूर्णतः भिन्न हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय मोर्चे पर जाने वाले सैनिकों की प्रेयसी आत्मसमर्पण कर मातृत्व पद प्राप्त कर लेती थी। ऐसे वर्णन वहां के उपन्यासकारों ने किये हैं। उनको युद्धकालीन माताएँ कहा गया है। इस प्रकार का विधान भारतीय नैतिकता के मूल्यों में मान्य नहीं, किन्तु यशपाल के 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' तथा 'दिव्या' में ऐसी ही नारियां हैं जो भारतीय मर्यादा एवं स्वाधीनता प्राप्त के लिए जाते हुए नायकों को आत्मसमर्पण करती हैं। 'दिव्या' उपन्यास की दिव्या की संवेदना महायुद्ध में जाते हुए सैनिक के साथ है। दिव्या, पृथुसेन को आत्मसमर्पण करती है। वह नायक को संकट और भय के समय अपना अस्तित्व सौंपकर गाढ़ सान्त्वना देती है। उसे आत्मबल देने के लिए दिव्या आत्मसमर्पण करती है।'[1] 'दादा कामरेड' की नायिका शैला का प्रणय क्रान्तिकारी हरीश से है, वह अन्त में गर्भ धारण करती है। इस प्रकार योरोप में नैतिक मूल्यों के अनुरूप यहाँ (भारत में) के मूल्यों में परिवर्तन आया। साथ ही हिन्दी साहित्य फ्रायड, युंग, एडलर के मनोविश्लेषण से बहुत प्रभावित हुआ। अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' के शेखर में बालकाल से ही यौन-भावना का वर्णन किया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन हिन्दी उपन्यास साहित्य में नई दिशा का द्योतक है।

---

1. यशपाल-'दिव्या' (हिन्दी पाकेट बुक्स सं० १९६६), पृ० ८३.

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी उपन्यास साहित्य में कई परिवर्तन आये। परिवर्तन न केवल कथानक, पात्र, वातावरण तथा भाषा-शैली में हुए, वरन शिल्पगत परिवर्तन भी हुए। यह कहना अनुचित न होगा कि वतमान समय में उपन्यास, नाटक और कविता से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।[1] उपन्यास साहित्य ने नये साचे में ढले नर नारी प्रस्तुत कर विधाता के सर्व कर्तृत्व की समकक्षता की। मध्यवर्गीय समाज की पीठिका में वह अधोगति, कूप-मण्डूकता और अन्धविश्वास के प्रति विद्रोह का साक्षात् प्रतीक और भावी मानव-जाति का भाग्यविधाता बना।[2] उपन्यासों में अब केवल किसी वर्ग या समाज का ही चित्रण अभीष्ट नहीं रह गया था वरन् आत्मकेन्द्रित अन्तश्चेतना पर आधारित उपन्यास लिखे जाने लगे। पूर्ववर्ती तथा भावजगत् का भी निरूपण किया जाने लगा। इन उपन्यासकारों ने भाव-जगत के अवरुद्ध आयामों को उन्मुक्त किया। विषय शैली तथा उद्देश्य के आधार पर उपन्यासों के नये रूप सामने आये।

विषय के आधार पर ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि अनेक भेद किये गये। उद्देश्य के आधार पर समस्यामूलक, विश्लेषणात्मक, सुधारात्मक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक आदि वर्गीकरण हुए। 'बीसवीं शताब्दी के उपन्यास कला, विषय और उत्पत्ति तीनों दृष्टियों से उन्नीसवी शताब्दी (उत्तरार्द्ध) के उपन्यासों की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं।'[3] शैली के आधार पर पत्र-पद्धति प्रधान, डायरी प्रधान। सामान्यतः चार प्रकार का वर्गीकरण किया जाता है—घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान, ऐतिहासिक और सामाजिक। प्रारम्भिक काल के उपन्यास तिलस्मी, ऐयारी अथवा इसी प्रकार के सामाजिक उपन्यास थे। प्रेमचन्द कालीन उपन्यास सामाजिक चरित्र प्रधान तथा समस्या प्रधान थे परन्तु १९४७ के बाद मनोवैज्ञानिक *अन्तर्द्वन्द्व तथा सामाजिक संघर्ष से आवृत्त उपन्यासों की रचना की जाने लगी है।* ऐसे उपन्यासों को व्यक्ति और अहं केन्द्रित उपन्यास भी कहा जा सकता है, जिनका उद्देश्य सामाजिक यथार्थ के कैनवेस पर व्यक्ति विशेष का चित्र उभारना होता है, जो पाठक के मानस-पटल पर अपना समग्र प्रभाव छोड़ जाता है। व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्र सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना रखते हैं। व्यक्तिवादी उपन्यासों में सामाजिक मान्यताओं की अपेक्षा वैयक्तिक मूल्यों की अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है। "मानव-मन और मानव जीवन का स्वाभाविक चित्रण होने लगा"।[4]

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ २५८.
२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ', पृ० ११.
३ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २५८.
४. वही, पृ० २५८.

'बीसवीं शताब्दी में उपन्यासों का हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बंध है… प्राचीन काल में जो स्थान महाकाव्य का था वही आज उपन्यास का है।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विकासशील गद्य की इस विधा (उपन्यास) ने कई मोड़ लिये और उपन्यासकार युग-चेतना को अपने-अपने दृष्टिकोण से अभिव्यक्ति देते रहे। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देने वाले उपन्यासकारों का हम वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं। पहले वे हैं जो व्यक्ति तथा उसकी परिस्थिति को व्यक्त करते हुए सामाजिक संघर्ष में अपनी संवेदना व्यक्ति के साथ रखते हैं, इसका बीजारोपण प्रेमचन्द के 'गोदान' में होता है। दूसरे प्रकार के उपन्यासकार सामाजिक आचरण तथा पाप-पुण्य को व्यक्ति सापेक्ष मानते हैं। इस वर्ग में जैनेन्द्र तथा भगवतीचरण वर्मा हैं, जिनका 'सुनीता' और 'चित्रलेखा' में क्रमशः अपना-अपना दृष्टिकोण है। तीसरे प्रकार के हैं इलाचन्द्र जोशी, जो व्यक्ति की अन्तश्चेतना में समाज के संघर्ष के कारण उत्पन्न कुंठाओं को सभी कार्यों की प्रेरक मानते हैं।

आधुनिक उपन्यासों में फ्रायड, मार्क्स, साम्र आदि के सिद्धान्तों के माध्यम से वैयक्तिक और सामाजिक चेतना को अभिव्यक्त किया जा रहा है। अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र इस परम्परा के प्रमुख उपन्यासकार हैं।

जैनेन्द्र संभवतः प्रथम उपन्यासकार हैं जो भावों का गहनातिगहन धरातल पर विश्लेषण करते हैं। पात्रों के अन्तर के संघर्ष को, जो हृदय और बुद्धि में चलता रहता है अनावृत करते हैं। अपने उपन्यास 'जयवर्धन' में जैनेन्द्रजी ने नायक जय तथा नायिका इला के सामाजिक, सैद्धान्तिक परिवेश के विविध आयामों को प्रस्तुत किया है। जय तथा इला प्रेम तथा नैतिक मूल्यों के लिये भीतर ही भीतर घुलते हैं। व्यतीत में भी भाव जगत और व्यावहारिक जगत् की उलझन है। जयन्त कहता है— "जीवन व्यर्थ भार ही है, क्यों नहीं इसे कभी देकर खो नहीं सका ताकि कुछ पा जाता और यों भटकता न फिरता।"[2]

अज्ञेय तथा जोशी उपन्यासों में व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को औपन्यासिकता प्रदान करते-से प्रतीत होते हैं। जोशी के 'प्रेत और छाया', 'पर्दे की रानी', 'ऋतुचक्र' में चित्त की विकृतियों के दर्शन होते हैं। 'ऋतुचक्र' में कला अन्त में आत्महत्या कर लेती है, जो असामाजिक मनोवृत्ति (एन्टी-सोशियल बिहेवियर) की प्रतीक है। अज्ञेय 'शेखर', में यौन वृत्ति के क्रमिक विकास का विश्लेषण करते हैं अज्ञेय जी ने पुरुष के स्त्री के प्रति बाल्यकाल से आकर्षण का विशद वर्णन किया है।

जैनेन्द्र के उपन्यास में भी मनोवैज्ञानिक धरातल पर पात्रों के मनोभावों का चित्रण मिलता है। "कल्याणी और व्यतीत' में अचेतन प्रवृत्तियों का विवेचन है।

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ, पृ० ११.
२. जैनेन्द्र – 'व्यतीत', (प्रथम संस्करण १९५३), पृ० १६९-७०.

'अज्ञेय ने 'अपने-अपने अजनबी' में सार्त्र के अस्तित्ववाद को अपनी कल्पना का सतरंगी चोला पहनाया है। उसमें दिखाया गया है कि मनुष्य अपने में बन्द है, वह नितान्त अकेला है। उसका अस्तित्व कुछ नहीं, एक बन्धन है। उपन्यास के दोनों पात्र सेल्मा और योके के अलग-अलग विचार हैं। एक छत के नीचे रह कर भी वे एक दूसरे से मानो कोसों दूर हैं। योके तो एक बार सेलमा का गला घोटने की चेष्टा भी करती है। योके कहती है—"ठिठुरती हुई रात में मुझे धीरे-धीरे बुढ़िया पर क्रोध आने लगा। ज्यों-ज्यों मैं मन ही मन उसकी कही हुई बातें दोहराती त्यों-त्यों मुझे लगता कि उनमें मेरे प्रति छिपा पैना व्यंग्य है और वह मरती हुई बुढ़िया अपनी अन्तिम घड़ियों में भी मेरे स्वस्थ युवा जीवन का अपमान कर रही है, मुझे नीचा दिखा रही है।"[1] यह चित्रण अहंवादी अस्तित्ववाद का है जो अपने-अपने अजनबी' में उभर कर आया है।

कथा साहित्य के आदि युग पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक कहानियों में घटनाओं की अतिरंजना थी, कालान्तर में रहस्य, रोमांच तथा धर्मनीति की प्रधानता होने लगी। रहस्य-रोमांच की लोकप्रिय धारा तिलस्मी-जासूसी उपन्यासों के रूप में प्रकट हुई, किन्तु उसी काल के श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट आदि के उपन्यासों में खत्री के समान केवल स्वच्छन्द कल्पना ही न होकर, यथार्थ और नैतिकता का आग्रह भी था।

बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान एक सुजान' नामक उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों में सामाजिक सुधार ही स्वरित है। 'नूतन ब्रह्मचारी' का नायक विनायक राव अपने मनोबल से डाकुओं के स्वभाव में भी परिवर्तन ला देता है। नैतिकता की अनैतिकता पर विजय दिखाई गई है। 'सौ अजान एक सुजान' उपन्यास में नैतिकता और चरित्र बल की महत्ता दिखलाई गई है। चन्द्रशेखर नामक चरित्रवान व्यक्ति द्वारा सेठ हीराचन्द्र के पुत्र ऋद्धिनाथ और निधि नाथ को पतित जीवन से उबारा जाता है। लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' भी उपदेशात्मक उपन्यास है। नायक मदन, बुरी संगति के कारण अपना सब कुछ गवाँ देता है और उसे विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अन्त में अपने मित्र ब्रजकिशोर की सहायता से पुरानी स्थिति प्राप्त करने में सफल होता है। "उपन्यास के सभी पात्र समाज के किसी न किसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं।"[2] लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' तथा भट्ट जी के उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में समाज सुधार की भावना परिलक्षित होती है।

---

१. अज्ञेय—'अपने-अपने अजनबी', पृ० ५४.

२. डॉ० लक्ष्मीकान्त सिन्हा : हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास, पृ० १२६.

हिन्दी उपन्यास साहित्य में दूसरा परिवर्तन यह आया कि जहाँ आरम्भिक युग उच्च वर्ग में सम्बन्धित था (जिनकी उपन्यासों की कथावस्तु सामन्तों, राजाओं तक ही सीमित थी) वहाँ प्रेमचन्द युग ने अभिजात्य और सामन्ती व्यवस्था के प्रति विद्रोह प्रकट करने वाले मध्यमवर्ग को अपनी कथावस्तु का केन्द्र चुना। 'गोदान' का नायक होरी अभिजात्य वर्ग की सशक्त प्रतिक्रिया का प्रतीक है। जैनेन्द्र, अश्क आदि भी उच्च के स्थान पर मध्य तथा निम्न-मध्यवर्ग के साथ सहानुभूति रखते हैं। यशपाल के उपन्यासों का भी मूल विषय वर्ग-संघर्ष है। अज्ञेय तथा जोशी ने भी मनोविज्ञान तथा कुण्ठाओं से भरे मध्यवर्गीय जीवन को ही अपने उपन्यासों का विषय बनाया। "जोशी जी में अवचेतन मन वाला मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त परिपूर्ण रूप से प्रकाशित हो उठा है।"[१] रेणु, नागार्जुन आदि आंचलिक उपन्यासकारों में भी मध्यवर्गीय चेतना प्रमुख है।

मार्क्सवाद के प्रभाव ने हमारे हिन्दी उपन्यासों में समाजवादी समाज की चेतना जागृत हुई, जिसमें प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा के दर्शन होते हैं। इस नवीन विचारधारा में आस्थाओं और परम्पराओं के प्रति विद्रोह के स्वर मुखरित हैं।

जैनेन्द्र ने प्रथम बार व्यक्ति के आभ्यन्तर को अपने उपन्यासों में अनावृत्त किया। इनमें एक ओर प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा के दर्शन होते हैं, दूसरी ओर अतृप्त आकांक्षाओं की झलक मिलती है। 'सुनीता', 'सुखदा', 'त्यागपत्र', 'विवर्त', 'व्यतीत' आदि में नर-नारी की अतृप्त काम-वासना का चित्रण है। इस प्रकार प्रथम बार हिन्दी उपन्यासों में व्यक्ति के दृष्टिकोण से सोचा जाने लगा। "जैनेन्द्र ने विभिन्न परिस्थितियों तथा पात्रों की रचना द्वारा अपने उपन्यासों में उनके मनोविकारों को साकार रूप देकर अभिव्यक्त किया है।"[२]

अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' के पात्र सामाजिक तथा पारिवारिक बंधनों से मुक्त हैं। उनकी 'रेखा' और 'भुवन' के चरित्र अति यथार्थवादी शैली में चित्रित हैं। अश्क के पात्र भी अधिक रोमान्टिक तथा यौन सम्बन्धी कुण्ठाओं से आक्रान्त हैं। 'गिरती दीवारें' में चेतन आर्थिक एवं यौन सम्बन्धी कारणों से बेचैन रहता है। 'गर्म राख' का जगमोहन भी अतृप्त वासना के कारण सत्याजी को अपने जाल में फंसा लेता है। नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' के नायक नायिका में अतृप्तता के कारण भटकाव है। परन्तु द्वारिकाप्रसाद कृत 'घेरे के बाहर' उपन्यास में काम-वासना का नग्न चित्रण है। यौन सम्बन्धी विविध चित्रों में परम्परागत मूल्यों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया है। पूर्ववर्ती उपन्यासों में सैक्स का अनावृत्त वर्णन वर्जित था, परन्तु आज के उपन्यासों में इस शैली पर कोई प्रतिबन्ध नहीं।

---

१. शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास, पृ० २६१.
२. सुषमा धवन हिन्दी उपन्यास, पृ० १६६.

युग परिवर्तन के साथ-साथ उपन्यासों में परिवर्तन होता रहा है। उपन्यासकार युग की माग का अनुभव कर उसे अपने उपन्यासो में ध्वनित करने का प्रयास करते रहे हैं। १६वी शताब्दी सांस्कृतिक जागरण का काल थी। इस काल में मध्ययुगीन मान्यताओं रूढ़िवादी विचारो पर प्रहार हुआ, जिसके फलस्वरूप नवीन चेतना का विकास हुआ। मार्क्सवादी एव फ्रायड के आधार पर नई मान्यताओं ने जन्म लिया, जिनके विकास तथा मूल्यांकन की प्रक्रिया बीसवी शताब्दी में चलती रही।"[1]

हमारे सांस्कृतिक जागरण की अभिव्यक्ति धार्मिक परिवेश में हुआ करती थी। भारत में सामाजिक जीवन का निर्देशन धर्म करता रहा है, तथा वही सामाजिक नियंत्रण भी करता रहा है। सांस्कृतिक परिवर्तन के परिवेश में सामाजिक जीवन दर्शन, व्यक्ति का दृष्टिकोण, आचार व्यवहार तथा विभिन्न अभिरुचि सघर्ष परोक्ष में रहे। जाति-धर्म के नाम पर वर्ण-व्यवस्था के कारण वैवाहिक सम्बन्धों में भी व्यक्ति की रुचि प्रमुख नही थी, अभिभावको की रुचि ही प्रमुख थी। परन्तु बदलते युग पर पाश्चात्य का प्रभाव पड़ा। वहाँ विवाह का आधार प्रेम है और निर्णय का अधिकारी भी सम्बन्धित व्यक्ति ही है, न कि अभिभावक। हिन्दी उपन्यासों में भी यह परिवर्तित विचारधारा बदलते युग के साथ दिखाई देने लगी। प्रसाद जी 'तितली' उपन्यास में इस प्रगतिशील विचारधारा का समर्थन करते हैं। वे तितली को आदर्श गृहणी के रूप में भारतीय संस्कृति की प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उसका विवाह प्रेम-विवाह पद्धति के अनुरूप बालसखा मधुवन से होता है। इसमें प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रगतिशील तत्त्वों का समन्वय किया है। यह प्रसादजी का मौलिक प्रयास है। भारतीय संस्कृति के पुजारी प्रसाद जी ने 'तितली' मे अन्तर्जातीय विवाह तथा प्रेम-विवाह पद्धति का प्रतिपादन किया है। "वैवाहिक स्वतन्त्रता एव रूढ सामाजिक रूपविधान मे परिवर्तन के लिये क्रांति तितली' का सन्देश है।"[2]

प्रसाद जी के समन्वयवादी दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि मानव मन की अनुभूतियाँ सभी समाजों मे समान हैं। धर्म, जाति के नाम पर अभिभावकों का अत्यधिक हस्तक्षेप, अनुचित दबाव, व्यक्ति को विचलित करता है। इसलिए विश्व-संस्कृति की पृष्ठभूमि पर 'तितली' मे सामाजिक मर्यादाओं को तोड़कर यह विवाह सम्पन्न होता है और विश्व-संस्कृति का प्रतिपादन भी अन्तर्जातीय विवाह द्वारा हुआ है। इन्द्रदेव के शैला से विवाह करने पर कट्टर हिन्दू धर्म की पुजारिन माँ द्वारा तिरस्कृत होना पड़ता है, परन्तु अन्त मे मृत्यु शय्या पर वह शैला को बहू रूप में

---

१. चण्डीप्रसाद जोशी : हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० १६।
२ डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास, पृ० ३२६

अपना लेती है। इस प्रकार श्याम दुलारी (इन्द्रदेव की मा) के रूप मे हिन्दू समाज में पहली बार अन्तर्जातीय विवाह की स्वीकृति मिलती है। हिंदी उपन्यास साहित्य मे यह सामाजिक परिवर्तन शिक्षा तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव स्वरूप दिखाई देता है। संयुक्त परिवार प्रणाली पर भी प्रहार किया गया है। वे लिखते है—व्यक्तिगत चेतना के कारण सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुखदायी हो रहा है।[1]

डा० चण्डी प्रसाद जोशी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास समाज शास्त्रीय अध्ययन में लिखा है कि 'निराला में गांधीवादी विचार धारा का पोषण अपने उपन्यास 'निरुपम' में करते है। रूढ़िवादी लोग भले ही शिक्षित क्यों न हो जाएँ, अपने रूढ़िवादी विचारों को भ्रामक तर्क-शैली से पुष्ट करने में निपुणता रखते हैं। ये वर्तमान समाज मे रहते हुए भी मानसिक परिवेश तथा संस्कारों से समाज से बहुत पीछे है:[2] उपन्यास का नायक लन्दन मे शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर भ्रष्टाचार के कारण बेकारी का शिकार होता है और जूते पालिश कर जीविकोपार्जन के लिये बाध्य है परन्तु समाज उसे बहिष्कृत करता है क्योंकि वर्ण-व्यवस्था तथा धार्मिक संस्कारों के कारण यह निम्न समझा जाने वाला धधा है किन्तु अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक इसे हेय नहीं मानता, क्योंकि उसके समक्ष कर्म (कर्म) कि महत्ता है. वह काम करके जीविकोपार्जन कर रहा है। भीख नही माग रहा, चोरी नहीं कर रहा है, जिससे उसे ग्लानी हो। इस प्रकार का परिवर्तित दृष्टि कोण चाहे हिन्दु धर्म तथा वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध हो। समाज विरोधी नही है। इसी को उपन्यासकार ने व्यक्त किया है।"[3]

हिन्दू समाज मे विवाह व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर नही होता, वरन् परिवार के कठोर नियन्त्रण तथा कई सामाजिक अवरोधों के दमन मे सम्पन्न होता है, परन्तु पश्चिम से प्रभावित आधुनिक समाज ने इसका विरोध किया। प्रेमचन्द के निर्मला म दहेज अनमेल विवाह, बाल विवाह आदि सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। प्रसाद के कंकाल में विधवा की समस्या को चित्रत किया है, जो समाज का निरीह अंग है। प्रसाद ने इस समस्या का कारण समाज के भ्रष्टाचार को माना है। प्रसाद ने जातीय उच्चता को केवल भ्रम माना है, क्योंकि 'विजय' जैसी कई सन्ताने है। सामाजिक असंगतियों का बच्चों के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। बाल्यकाल की कुंठाएं उन्हे अपराध की ओर ले जाती हैं, जिससे बाल-अपराध की समस्या समक्ष आती है। वैवाहिक सम्बन्ध में नारी सदैव निरीह

---

१. जयशंकर 'प्रसाद', तितली, पु० १०६
२. डा० चण्डीप्रसाद जोशी:— 'हिन्दी उपन्यासः' समाज शास्त्रीय विवेचन पु० १२७.
३. निराला 'निरुपमा' पु० ३९.

रही ह। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे भी नारी के मन का विद्रोह व्यक्त हुआ है। 'रगभमि' की सकीना, 'निर्मला' की सुधा, 'गोदान' की सोना के रूप मे यह विद्रोह व्यक्त हाता है परन्तु इनका विद्रोह व्यक्तिगत प्रतीत होता है। यह सामाजिक रूढियो के प्रति, उन्हे समूल नष्ट करने के प्रति कोई प्रयत्न नही करती। किन्तु इसी काल से नारी जागरुक अवश्य हो जाती है। वह गृहस्थी की सस्कार ग्रसित दहली लाघकर सामाजिक रगमच पर आती है।

पूर्व-प्रेमचन्द युग मे उपन्यास साहित्य घटना प्रधान होता था, पात्रो के चरित्र की विशेषताओं का उद्घाटन करने का बहुत प्रयत्न किया जाता था। प्रेमचन्द ने पात्रो के विकास मे सतुलन दिखाया है। उनमे पहले के उपन्यासों की तरह अस्वाभाविक्ता, नाटकीयता नही थी। आदर्शवादी तथा यथार्थवादी दोनो विचार-धाराओ के दर्शन प्रेमचन्द मे होते हैं, परन्तु प्रेमचन्दोत्तर युग म पाश्चात्य के प्रभाव से, नई दृष्टि प्राप्त हुई। बौद्धिकता का आग्रह बढ गया, समाज के कुरुप यथार्थ का उद्घाटन कर व्यक्ति के दु खन्दद और आकुलता के कारणो का अन्वेषण किया गया, सामाजिक बन्धनो एव वर्जनाओ क प्रति विद्रोह हो उठा। अधिकारो की मांग प्रसाद न 'कंकाल म उठाइ थी, जिसे तीव्रता प्रदान की जाने लगी।

प्रेमचन्दोतर युग के उपन्यासो मे सामाजिक जीवन के चित्रण मे विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को प्रतिष्ठित किया गया, चित्तवृत्तियों के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाने लगा, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास लिख जाने लगे, अन्तःसघर्ष को प्रमुखता दी जान लगी – 'सुनीता', 'त्यागपत्र' आदि मे जिसका चित्रण है।

'इलाचन्द्र जोशी पर फ्रायड का प्रभाव है। उनके उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पाया जाता है। इनके 'जहाज का पछी' उपन्यास मे शिक्षित नवयुवक के कलकत्ता महानगर मे भटकाव की कथा है जो अनेकों रैन बसेरों मे विश्राम के बाद अन्त मे एक नारी के नीड मे विश्राम पाता है। इसलिये इसका शीषक प्रतीक स्वरूप होने से 'जैसे उडि जहाज को पछी, पुनि जहाज पै आवै' सार्थक प्रतीत होता है।"[1]

अश्क जी के 'गिरती दीवारें' उपन्यास मे पात्रों की यौन कुठाओं को अभिव्यक्ति मिली है तथा निम्न-मध्यवर्ग का चित्रण है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यासो मे युग चेतना के स्वर मुखरित हैं। भगवतीचरण वर्मा के 'सामर्थ्य और सीमा' मे देश मे फैले भ्रष्टाचार का सजीव चित्रण है। सरकारी योजनाएँ देश के सुधार के लिय बनती हैं, करोडों रुपया खच होता है, परन्तु ईमानदारी की कमी से रुपये का अपव्यय होता है। स्त्री पूजीपतियों को

---

१. महेन्द्र चतुर्वेदी - हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण', पृ० १२७.

उपकृत करते हैं, सरकारी अफसर रिश्वत खाते हैं, ठेकेदार चोरबाजारी करते हैं और मजदूर हरामखोरी करते हैं, आज का नारा है—लूटो मेरे भाई ! जो नहीं लूट पाता वह असमर्थ है।[1] निर्वाचन में किस प्रकार छल-कपट और फरेब किया जाता है, इस ओर इंगित करते हुए एक पात्र कहता है—'तुम लोगों को खरीदते हो। यह भी अपने रुपयों से नहीं बल्कि हमारे रुपयों से और वह रुपया तुम जबरदस्ती हम लोगों से चन्दे के नाम पर वसूल करते हो।"[2]

आजकल भाई-भतीजावाद का जोर दिखाई देता है तथा हर विभाग में नेताओं तथा बड़े सरकारी अफसरों के सम्बन्धियों को उच्च पद आसानी से प्राप्त होते हैं। योग्य व्यक्तियों को स्थान नहीं प्राप्त होता। इस ओर लक्ष्य करते हुए एक पात्र कहता है—"हमें मजबूर किया जाता है कि हम अपनी फर्मों में राजनीतिज्ञों और सरकारी अफसरों के नाते-रिश्तेदारों को लम्बी तनख्वाहों पर नौकरी दें। अयोग्य और हरामखोर कार्यकर्त्ताओं से हमें अपना काम-काज चलाना पड़ता है।"[3] इस उपन्यास में वर्माजी ने आजकल की सामाजिक व राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया है।

मन्मथनाथ गुप्त के 'रैन अंधेरी' उपन्यास तथा 'सागर संगम' में राजनीतिक चालों का वर्णन है। मंत्री किस प्रकार पद-प्राप्ति के बाद अपने स्वार्थों के लिए झूठ बोलते हैं, किस प्रकार सत्य को झूठ और झूठ को सत्य का जामा पहनाते हैं। 'सागर-संगम' का पात्र शिशु मंत्री से कहता है—"आप तो बराबर बेईमानी पर उतारू हैं .. मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि आप जब यहाँ तक कर सकते हैं कि चुनाव का एहसान चुकाने के लिये बड़ी से बड़ी मिथ्या का आश्रय ले रहे हैं तो आपका पतन सुनिश्चित है।"[4]

'रैन अंधेरी' का पात्र राजेन्द्र राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए कहता है—"राष्ट्र की जिन्दगी पर एक काली चादर की तह पड़ गई है।"[5] इसी प्रकार यशपाल के 'झूठा सच' में तथा 'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' (दो खंड) में साम्प्रदायिक विद्वेष तथा राजनीतिक दाव-पेंचों का चित्रण है। 'देश का भविष्य' खण्ड में लेखक ने समाज में व्याप्त अनाचार का चित्रण किया है तथा झूठे नेताओं के अनाचार की कली खोली है।

---

१. भगवतीचरण वर्मा – 'सामर्थ्य और सीमा', पृ० १४७.
२. वही, पृ० ११६.
३. वही, पृ० ११७.
४. मन्मथनाथ गुप्त – 'सागर संगम', पृ० १०९.
५. मन्मथनाथ गुप्त – 'रैन अंधेरी', पृ० १८.

काल प्रवाह में इतिहास की कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जो कई युगों का प्रतिनिधित्व करती हैं, साथ ही अकल्पनीय अनुभूतियों से साक्षात्कार करने में भी समर्थ होती हैं जिन्हे परवर्ती युगों की पीढ़ियां में युगों तक हम देखते हैं। 'झूठा-सच' इसी प्रकार का उपन्यास है, जिसमें स्वतन्त्रता के पश्चात् होने वाले, देश-विभाजन की विभीषिका से उत्पन्न परिस्थितियों का अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्विरोध का सफल अकन है, जो विस्फोट का प्रतीक है तथा जो सामाजिक पृष्ठभूमि में यातना भरी विदिघनापूर्ण गाथा है। सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से मानव-स्वभाव के विभिन्न रूपो का उदघाटन करने मे लेखक को अपार सफलता मिली है।

'झूठा सच' मे सामाजिक जीवन का, लाहोर की राजनीतिक-सामाजिक जिन्दगी का (पहल खण्ड म) स्वाभाविक चित्रण है, विभाजन से वहा के टूटते बिखरते जीवन का अकन है। दूसरे खण्ड म विभाजन क उपरान्त देहली के अस्त-व्यस्त जीवन का यथाय वणन है, जीवन की व्यथा स्थान-स्थान पर मुखरित है, साथ ही घटनाओ की तीव्रता, कटुता, पाशविकता भी उभर कर सामने आयी है।

'झूठा सच' मे स्त्री को लेकर पुरुष की विभिन्न प्रतिक्रियाओ का वर्णन है— तारा, कनक आदि की भाग्य विडम्बना का वणन है। पूरा उपन्यास सामाजिक जीवन के सश्लिष्ट यथाय को बहुत गहराई से उभारता है।[1] लेखक ने स्त्री क शोषण, उत्पीडन तथा उसके साथ हुए पाशविक-व्यवहार का वर्णन किया है। तारा सय वैसी ही अनेक नारियों ने पुरुषो की पाशविकता को सहा है। तारा सोचती है— "पुरुष को मनुष्य बना सकने के लिये स्त्री को कितना सहना पडेगा।" यह पूरे उपन्यास मे ध्वनित है। नेमीचन्द जैन का मत है—"यशपाल इन्सान के मन म गहराई में उतरने की चेष्टा नही करते, केवल बाह्य आचरण के वणन द्वारा आतरिक जीवन की अभिव्यक्ति करके सन्तुष्ट हो जाते हैं और यदि प्रयत्न करते भी हैं तो आरोपित लगन लगता है। वह ऐसा लगने लगता है जैसे पूव कल्पित ढाँचे म बन्धा हुआ हो।'[2]

तारा की अप्रत्याशित तथा मानवीय बर्बरता का उद्घाटन करने वाली उसकी तथाकथित सुहागरात गहनतम भावो को अभिव्यक्ति देने वाले स्थलों मे से है। सोमराज तारा से कहता है—"भूखे मास्टर की औलाद तेरी यह हिम्मत कि मुझ से शादी करन मे मिजाज दिखाये। देखूँगा तुझे गली-गली कुत्ते और गधे से न रौंदवा दिया।" इसके अतिरिक्त अधिकांश परवर्ती जीवन बाह्य घटनाओ का पुज तथा नियति की विडम्बना मात्र जान पडता है।

---

१. डा० रामदरश मिश्र—हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १३०.
२. नेमीचन्द जैन—अधूरे साक्षात्कार, पृ० ८१.

यशपाल की रचनाओं में रोचकता, मार्मिक व्यंग्य, समाज के प्रमानवीय विकृत रूप तथा ऊपर से सस्कृत, शिष्ट स्वस्थ दिखने वाले गलत रूप का उद्घाटन करने की क्षमता है, परन्तु जीवन को मानवीय संवेदना से परिपूर्ण नहीं कर पाते। यशपाल ने विभाजन तथा उसकी परवर्ती परिस्थितियों से उत्पन्न सघातों के आयामों को प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा ने 'भूले बिसरे चित्र' में १८८५ से १९३०-३१ तक के आन्दोलनों को ज्वालाप्रसाद के माध्यम से चित्रित किया है। उन्होंने जिंदगी के उतार-चढ़ाव देखे हैं, भोगे हैं, परन्तु जीवन के नवीन मूल्यों के समक्ष वह विवश है। ज्वालाप्रसाद उपन्यास में नामजद नायब तहसीलदार के रूप में दिखाई देते हैं, वही अंत में कांग्रेसी जुलूस में शामिल होकर जेल जाते हुए अपने पौत्र नवल को विवशता से देखते रह जाते हैं। १८८५ से १९३१ तक का काल-खण्ड ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। देश नवीन चेतना की उमग संजोये नई करवट ले जाग उठा है। सामाजिक चेतना का शिलान्यास इसी कालखण्ड में हुआ है। आज की हमारी मान्यताएँ, विश्वास, सफलता, असफलता इसी चार पीढ़ियों के कालखण्ड से बंधी हैं। प्रेमीचन्द जैन के अनुसार इतना होने पर भी वर्माजी ने जिस बाह्य तथा आन्तरिक जीवन का, विश्वासों-धारणाओं का, सामाजिक व्यक्तिगत सम्बन्धों का चित्रण इस खण्ड में किया है, वह उस युग की छाप मन पर नहीं छोड़ पाता। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही युग में जीवित पीढ़ियों की जीवन-यात्रा है, क्योंकि आज भी किसी भी उपन्यास में सभी पात्र एक साथ मिल जाएँगे। यह उपन्यास युग के जीवन का सार्थक समग्र रूप उपस्थित नहीं करता—वह दास्तानों का अम्बार है, जो अपनी अनुभूतियों में गहरी नहीं है। "उपन्यास में मानवीय स्थितियों का चित्रण नहीं है, केवल घटनाओं की प्रधानता है। आदमी कुछ नहीं करता जो कुछ कराती है वे परिस्थितियाँ करातीं हैं।" यह सरल दर्शन लेकर वर्माजी चलते हैं।

इस प्रकार समाज का उतार-चढ़ाव उनके मूल्यों को अंकन उपन्यासों में पाया जाता है, हर युग का अपना दर्शन है। युग-धर्म है। उसी की अभिव्यक्ति उपन्यासकार किसी न किसी रूप में अपनी कृति में करता है, क्योंकि वह अधिक संवेदनशील है। यशपाल के उपन्यासों में राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण पाया जाता है। जो अनुभूतियाँ उन्हें विलोड़ित करती हैं, उन्हीं का अंकन वह अपने उपन्यास में करने का प्रयास करते हैं।

रांगेय राघव कृत 'हुजूर' उपन्यास में समाज के दारिद्र्य तथा अत्याचारों का मार्मिक चित्रण है। इसमें लेखक समाजवादी दृष्टिकोण का परिचय देता है। इस उपन्यास का नायक एक विलायती कुत्ता है, जो अनेक वर्गों के स्वामियों के यहाँ प्राप्त होने वाले अनुभवों को तिक्त व्यंग्यों द्वारा व्यक्त करता है। अन्त में एक भिखारिन के पास बैठ अवलोकन करता हुआ सोचता है—"युगों से चली आ रही शासन नीति में कोई अन्तर नहीं पाया, केवल स्वतन्त्रता के बाद अंग्रेजों के स्थान पर

भारतीय नेता और अफसर हैं, शोषण का चक्र शाश्वत रूप से चलता ही जा रहा है, इसमें कोई अन्तर नहीं आया।" वह सोचता है—"जब तक कि श्रम करने वाले को ही समाज में उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं मिलेगा, इंसान और उसकी दुनिया निरन्तर ऐसे ही भटकती रहेगी।"[1]

(ख) सामाजिक पर्यावरण और अन्तःक्रिया

आज सामाजिक पर्यावरण में मानसिक यंत्रणा का आधिक्य दिखाई देता है। विकृतियों का वीभत्स रूप में यथातथ्य चित्रण कर देने मात्र से हमारे रुग्ण कुंठाग्रस्त और टूटे फूटे अस्तित्व को पराजित भावना से मुक्ति नहीं मिल सकती, जब तक कि जीवन के विकृत और अनपेक्षित आयामों को एक निश्चित और आस्थावान धरातल प्राप्त नहीं होती।"[2] आज के अनास्थावादी वातावरण के कारण निराशा का घना आवरण उपन्यासकार की चेतना पर पड़ा हुआ है। वर्तमान सामाजिक पर्यावरण के प्रति इनके मन में घृणायुक्त उत्पीडन है। इन्हें सारा पर्यावरण एक रक्त शापी वृक्ष जान पड़ता है और अपने परिवेश से अनुकूलन नहीं कर पाते। समाज में परिवर्तन लाने की चेष्टा करने वाले उपन्यासकार स्वयं भी किसी न किसी कुंठा (फ्रस्ट्रेशन) से ग्रसित हैं—"यदि उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाये तो यही गांठ है जो उन्हें क्रांतिकारी चादर ओढ़ने के लिये बाध्य करती है।"[3]

दूसरे महायुद्ध के बाद हमारे उपन्यास साहित्य में एक असीम निराशा परिलक्षित होती है, जिसका कारण समाज एवं नैतिकता है। युद्ध के साथ मनुष्य की निकृष्टतम समाज द्रोही प्रवृत्तियों का नग्न रूप समस्त सामाजिक परम्पराओं को चीर फाड़ कर उभर आया है और लेखक अपने को असहाय, निरीह, निहत्था महसूस करने लगा .. .. उसके पुराने नैतिक मानदण्ड ढह गये नया कुछ अभी तक बना नहीं, निराशा और कुंठा अपने बाह्य और आंतरिक विश्व के बीच एक भयानक पार्थक्य के अस्तित्व से वह हताश हो उठा।[4]

श्रीपतराय जी की उपर्युक्त विचारधारा में काफी सच्चाई है, क्योंकि जब लेखक अपने को परिवर्तन के विरुद्ध आवाज उठाने में असमर्थ पाता है, तो उसे नैराश्य कुंठा घेर लेते हैं। यह मन स्थिति साहित्य और समाज के लिये स्वस्थ नहीं।

आज का उपन्यासकार यदि दुःखवाद के पीरामिड ही खड़े करता रहेगा तो सृजन शक्ति का क्षय ही होगा। सार्त्र जैसे मनीषियों ने भी दुःखवाद को महत्त्व दिया

---

१ रांगेय राघव—'हुजूर', पृ० ११८

२ सीताराम शर्मा—स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य, पृ० ८६.

३. वही, पृ० ८७.

४ वही, पृ० ८८.

है। आज के वैज्ञानिक युग में विषमताओं के कारण मानव के पास पहले ही दुःख का अभाव नहीं है, फिर दुःखवाद के आकर्षक झुनझुने से लोगों को अधिक देर बहलाया नहीं जा सकता। आज की बदलती परिस्थितियों के दमघोटु वातावरण ने मानव के जीवन में विचित्र बिखराव उत्पन्न कर दिया है। आज जिन्दगी की कड़वाहट सबसे अधिक मध्यवर्गीय व्यक्ति को पीनी पड़ती है, क्योंकि न तो वह उच्च-वर्ग का अंग बन सकता है न अपने अहं के कारण निम्नवर्ग वालों से मिल सकता है। थोथी अहमन्यता (फाल्स प्रेस्टीज) का जुआ इच्छा रहते अपनी गर्दन से नहीं निकाल पाता, वैयक्तिक भावनाएँ जितनी तेजी से बदलीं, सामाजिक प्रतिरोधों ने उतना ही दबाने की कोशिश की। ऐसी अवस्था में दमित भावनाओं ने कुंठा का रूप धारण कर लिया।

जीवन की गति तीव्र है उसके साथ न बदल पाना, परिस्थितियों के साथ समायोजन न कर पाना दुर्बलता है, यह सत्य है कि वर्तमान युग की विषम परि-स्थितियों की कड़वाहटें न चाहते हुए भी हमें अक्सर पीनी पड़ती हैं। यह कड़वाहट हर मध्यमवर्गीय व्यक्ति जानता है, क्योंकि उसे जिन्दगी की कदमकदम में विरोधी परिस्थितियों से टकराना पड़ता है और इस टकराव से मानव का साहस टूटता है, परन्तु यह नैराश्य विषम परिस्थिति का इलाज नहीं है। संसार में दुःख ही दुःख है, यह सत्य है, परन्तु सदैव उसी की याद में आसक्त रहना कहाँ की बुद्धिमानी है। जीवन की यथार्थ, तिक्तता से मुख नहीं फेरा जा सकता, परन्तु जीवन की लाख विकृतियों के बावजूद भी मानव की अपराजित शक्ति ही सर्वोपरि है।

द्वितीय महायुद्धोपरान्त दुःखद परिणामों ने सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक जीवन के अन्धकार ने सामाजिक ढाँचे पर लगातार आघात किये तज्जन्य कड़वाहट को शिव की भाँति पान करने के लिये साहित्यकार बाध्य था। साथ ही जर्जरित मान्यताओं का खुलकर विद्रोह करने का उसमें साहस नहीं जुट पा रहा था, जिससे साहित्य में कोरी निराशा ही निराशा धनीभूत होती रही। वही सर्वहारा वर्ग के आक्रोश के रूप में समक्ष आई, जिसमें एक प्रकार की साहित्यकार की ही खोज थी।

यह आवश्यक है कि पर्यावरण की दमघोटू घुटन में संवेदनशील साहित्यकार प्रभावित हुआ, परन्तु यथार्थ स्वीकृत संघर्ष की अभिव्यक्ति के साथ आशावान आस्था के स्वर भी नहीं टूटने चाहियें। समाज की रुग्णता तथा कुण्ठाओं से आहत संवेदना में स्वस्थ दृष्टिकोण का होना भी आवश्यक है। नये परिवेश में नये रूप में विकास करने के प्रति पूर्ण आस्था होनी चाहिये। प्रेमचन्द ने भी कहा है "जो साहित्य हममें शक्ति और गति पैदा कर सके, जिससे हमारा सौन्दर्य-प्रेम जागृत न हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाईयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता उत्पन्न न करे, वह साहित्य नहीं है। एक सम्पूर्ण युग के माध्यम से भविष्य और भूत के तमाम युग बोलते हैं।"

समय के परिवर्तन के साथ ही जीवन के नये रूप, नयी समस्याएँ सामने आती हैं, उपन्यासकार जीवन का यथार्थ चित्रण करने का प्रयास करता है। अज्ञेय जी "शेखर : एक जीवनी" मे व्यक्ति के साथ युग-संघर्ष को दर्शाते हुए लिखते हैं—"शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम, निजी दस्तावेज (ए रिकार्ड आव् पर्सनल सफरिंग) है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है। उसमे (शेखर मे) मेरा समाज और मेरा युग बोलता है, वह मेरे और शेखर के युग का प्रतीक है।"[1]

अमृतलाल नागर अपने उपन्यास 'अमृत और विष' मे लिखते हैं—"अपने बचपन के दिन याद करता हूँ तो लगता है कि वह दीन-दुनियाँ ही और थी, यह माना कि बहुत-सी गलियाँ और मकान अभी भी ज्यो के त्यो मौजूद हैं, पुराना लिबास, शहरी रहन-सहन अब भी बहुत कुछ वही नजर आ जाता है, परन्तु इस सबके बावजूद हिन्दुस्तान अब वह नही रहा जो आज से पचास पचपन वर्ष पहले मेरे होश में समाया था।"[2]

उपन्यास में सामाजिक जीवन मुखरित होता है, समय के बदलते मापदण्ड व्यक्त होते हैं, परन्तु सामाजिक परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती है, अन्दर से बदलते हुए भी ऊपर से समाज रूढ़िग्रस्त ही दिखाई देता है। नागर जी लिखते हैं—"हमारी सामाजिकता मे लड़के-लड़कियो का दोस्त बनकर रहना बुरा माना है। जाति-गत बन्धनों से भी नौजवान लड़के लड़कियाँ अधिकतर सनसनाये थर्राये हुए रहते हैं, वे विपरीत परिस्थितियाँ यदि हमारे समाज से चली जाएँ तो मेरे भवानी जैसे अनगिनत नौजवानो को इस तरह विकृत विद्रोही बनने की नौबत न आये—क्या करूँ कि ऐसा सुनहरा दिन हमारे समाज मे जल्दी से आ जाये।"[3]

हिन्दी उपन्यासो का बहाव विभिन्न रूपा नदी के समान बदलता रहा है। प्रारम्भिक उपन्यास उपदेशात्मक थे, उनमे भारतीय परम्परागत विशिष्टताएँ परिलक्षित होती हैं। उपदेशात्मक उपन्यासों म नैतिक अनैतिक तत्त्वो का बौद्धिक विश्लेषण पाया जाता है। 'परीक्षा गुरु' मे सुधारवादी रीति की, सत्-असत् के संघर्ष की अभिव्यंजना परिलक्षित होती है। इसके पात्रों की भी बाह्य परिस्थितियों के प्रति नैतिक-अनैतिक प्रतिक्रिया हैं। 'ब्रजकिशोर परीक्षा-गुरु का आदर्श पात्र है, 'जो मदनमोहन (नायक) को सन्मार्ग पर लाता है।"[4] वह सोचता है—"यदि मुझसे इस समय मदनमोहन की सहायता न हो सकी तो मैंने ससार मे जन्म लेकर क्या

१ अज्ञेय—'शेखर : एक जीवनी', भूमिका, पृ० ६
२. अमृतलाल नागर—'अमृत और विष', पृ० १७०.
३. अमृतलाल नागर—'अमृत और विष', पृ० १७६, १७७
४ डा० चण्डीप्रसाद जोशी—'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० २८

है। आज के वैज्ञानिक युग में विषमताओं के कारण मानव के पास पहले ही दुःख का अभाव नहीं है, फिर दुःखवाद के आकर्षक झुनझुने से लोगों को अधिक देर बहलाया नहीं जा सकता। आज की बदलती परिस्थितियों के दमघोटू वातावरण ने मानव के जीवन में विचित्र खिंचाव उत्पन्न कर दिया है। आज जिन्दगी की कड़वाहट सबसे अधिक मध्यवर्गीय व्यक्ति को पीनी पड़ती है, क्योंकि न तो वह उच्च-वर्ग का अंग बन सकता है न अपने अहं के कारण निम्नवर्ग वालों से मिल सकता है। थोथी अहंमन्यता (फाल्स प्रेस्टीज) का जुआ इच्छा रहते अपनी गर्दन से नहीं निकाल पाता, वैयक्तिक भावनाएँ जितनी तेजी से बढ़ीं, सामाजिक प्रतिरोधों ने उतना ही दबाने की कोशिश की। ऐसी अवस्था में दमित भावनाओं ने कुंठा का रूप धारण कर लिया।

जीवन की गति तीव्र है उसके साथ न बदल पाना, परिस्थितियों के साथ समायोजन न कर पाना दुर्बलता है, यह सत्य है कि वर्तमान युग की विषम परिस्थितियों की कड़वाहटें न चाहते हुए भी हमें अपार पीनी पड़ती हैं। यह कड़वाहट हर मध्यमवर्गीय व्यक्ति जानता है, क्योंकि उसे जिन्दगी की कशमकश में विरोधी परिस्थितियों से टकराना पड़ता है और इस टकराव से मानव का साहस टूटता है, परन्तु यह नैराश्य विषम परिस्थिति का इलाज नहीं है। संसार में दुःख ही दुःख है, यह सत्य है, परन्तु हरदम उसी की याद में आसक्त रहना कहाँ की बुद्धिमानी है। जीवन की यथार्थ, तिक्तता से मुख नहीं फेरा जा सकता, परन्तु जीवन की समस्त विकृतियों के बावजूद भी मानव की अपराजित शक्ति ही सर्वोपरि है।

द्वितीय महायुद्धोपरान्त दुःखद परिणामों ने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन के अन्धकार ने सामाजिक ढाँचे पर लगातार आघात किये तज्जन्य कड़वाहट को शिव की भाँति पान करने के लिये साहित्यकार बाध्य था। साथ ही जर्जरित मान्यताओं का खुलकर विद्रोह करने का उसमें साहस नहीं जुट पा रहा था, जिससे साहित्य में कोरी निराशा ही निराशा घनीभूत होती रही। वही सर्वहारा वर्ग के आक्रोश के रूप में सामने आई, जिसमें एक प्रकार की साहित्यकार की ही खीज थी।

यह आवश्यक है कि पर्यावरण की दमघोटू घुटन से संवेदनशील साहित्यकार प्रभावित हुआ, परन्तु यथार्थ स्वीकृत संघर्ष की अभिव्यक्ति के साथ आशावान आस्था के स्वर भी नहीं टूटने चाहिये। समाज की रुग्णता तथा कुण्ठाओं से आहत संवेदना में स्वस्थ दृष्टिकोण का होना भी आवश्यक है। नये परिवेश में नये रूप में विकास करने के प्रति पूर्ण आस्था होनी चाहिये। प्रेमचन्द ने भी कहा है "जो साहित्य हममें शक्ति और गति पैदा कर सकें, जिससे हमारा सौन्दर्य-प्रेम जागृत न हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाईयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता उत्पन्न न करे, वह साहित्य नहीं है। एक सम्पूर्ण युग के माध्यम से भविष्य और भूत के तमाम युग हैं।"

समय के परिवर्तन के साथ ही जीवन के नये रूप, नयी समस्याएँ सामने आती हैं, उपन्यासकार जीवन का यथार्थ चित्रण करने का प्रयास करता है। अज्ञेय जी "शेखर एक जीवनी" में व्यक्ति के साथ युग-संघर्ष को दर्शाते हुए लिखते हैं—"शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम, निजी दस्तावेज (ए रिकार्ड आव् पर्सनल सफरिंग) है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है। उसमें (शेखर में) मेरा समाज और मेरा युग बोलता है, वह मेरे और शेखर के युग का प्रतीक है।"[1]

अमृतलाल नागर अपने उपन्यास 'अमृत और विष' में लिखते हैं—"अपने बचपन के दिन याद करता हूँ तो लगता है कि वह दीन-दुनियाँ ही और थी, यह माना कि बहुत-सी गलियाँ और मकान अभी भी ज्यों के त्यों मौजूद हैं, पुराना लिबास, शहरी रहन-सहन अब भी बहुत कुछ वही नजर आ जाता है, परन्तु इस सबके बावजूद हिन्दुस्तान अब वह नहीं रहा जो आज से पचास पचपन बरस पहले मेरे होश में समाया था।"[2]

उपन्यास में सामाजिक जीवन मुखरित होता है, समय के बदलते मापदण्ड व्यक्त होते हैं, परन्तु सामाजिक परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती है, अन्दर से बदलते हुए भी ऊपर से समाज रूढ़िग्रस्त ही दिखाई देता है। नागर जी लिखते हैं—"हमारी सामाजिकता में लड़के-लड़कियों का दोस्त बनकर रहना बुरा माना है। जातिगत बन्धनों से भी नौजवान लड़के लड़कियाँ अधिकतर सनसनाये थर्राये हुए रहते हैं, वे विपरीत परिस्थितियाँ यदि हमारे समाज से चली जाएँ तो मेरे भवानी जैसे अनगिनत नौजवानों को इस तरह विकृत विद्रोही बनने की नौबत न आये—क्या करूँ कि ऐसा सुनहरा दिन हमारे समाज में जल्दी से आ जाये।"[3]

हिन्दी उपन्यासों का बहाव विभिन्न रूपा नदी के समान बदलता रहा है। प्रारम्भिक उपन्यास उपदेशात्मक थे, उनमें भारतीय परम्परागत विशिष्टताएँ परिलक्षित होती हैं। उपदेशात्मक उपन्यासों में नैतिक अनैतिक तत्वों का बौद्धिक विश्लेषण पाया जाता है। 'परीक्षा गुरु' में सुधारवादी रीति की, सत्-असत् के संघर्ष की अभिव्यंजना परिलक्षित होती है। इनके पात्रों की भी बाह्य परिस्थितियों के प्रति नैतिक-अनैतिक प्रतिक्रिया हैं। ब्रजकिशोर परीक्षा-गुरु का आदर्श पात्र है, 'जो मदनमोहन (नायक) को सन्मार्ग पर लाना है।'[4] वह सोचता है—"यदि मुझसे इस समय मदनमोहन की सहायता न हो सकी तो मैंने संसार में जन्म लेकर क्या

१ अज्ञेय—'शेखर : एक जीवनी', भूमिका, पृ० ६
२. अमृतलाल नागर—'अमृत और विष', पृ० १७०.
३. अमृतलाल नागर—'अमृत और विष', पृ० १७६, १७७
४. डा० चण्डीप्रसाद जोशी—'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० २८

किया ?"[1] परन्तु सुधारवादी युग के समकक्ष तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों के *पात्र नैतिक-अनैतिक मूल्यों की प्रतिक्रियाओं से बाध्य नहीं हैं। उनकी सामान्य मानवीय* भावनाएँ हर्ष, विषाद सामान्य रूप से अभिव्यक्त हुई हैं।

प्रेमचन्द कालीन उपन्यासों में बाह्य परिस्थितियों की सहज प्रतिक्रिया के साथ मानव के अभ्यन्तर को मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति दी जाने लगी। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' में मृणाल के आन्तरिक स्वरूप को अभिव्यक्ति मिली है। कालान्तर में मानव की मानसिक परतों को उघाड़ने में ही उपन्यासकार की सार्थकता समझी जाने लगी।

सामाजिक संघर्ष की छाया में भागते-दौड़ते पात्र, कथानक के स्थान पर उपन्यास का आधार बन गये। उनके चेतन-अचेतन धागों से निर्मित जीवन की झाँकी प्रस्तुत करना उपन्यासकार का लक्ष्य बन गया है। इसके दर्शन जैनेन्द्र अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर, लक्ष्मीनारायण लाल और नरेश मेहता में होते हैं।

सुधारवादी उपन्यासकारों की दृष्टि जीवन की यथार्थता की ओर नहीं थी, वे तो सायास सुधारवादी, सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण बनाये हुए थे। ऐसे लेखकों की लेखनी की रेखाओं में, बन्दी पात्रों में लेखक की पूर्वाग्रह युक्त विचारधारा ही प्रकट होती है। ऐसे सिद्धान्तवादी उपन्यासकारों के पात्र एक साँचे में ढले से प्रतीत होते हैं और वे 'टाइप्स' अथवा यांत्रिक से प्रतीत होते हैं। किशोरीलाल, लाला श्रीनिवास दास आदि के पात्र ऐसे ही हैं।

इसके उपरान्त हिन्दी उपन्यास का नवजीवन प्रारम्भ हुआ, जिसमें किसी विशिष्ट सामाजिक उद्देश्य को अभिव्यक्त करना उपन्यासों का उद्देश्य बन गया। इस काल के उपन्यास घटनाप्रधान न होकर समस्याप्रधान होने लगे।

प्रेमचन्द का युग नवीन जागरण का युग था। १९वीं शताब्दी के सुधारवादी आन्दोलन में जन-मानस का दृष्टिकोण व्यापक होने लगा, व्यष्टि से समष्टि की ओर क्रान्तिकारी विचारधारा स्पष्ट होने लगी। सुधारवाद, राष्ट्रवाद, समाज कल्याण, परम्परागत रूढ़ियों के प्रति विरोध, आदि भाव इस युग में प्रमुख थे। यही कारण है कि प्रेमचन्द के पात्र एकान्तिक भावानुभूतियों को अनावृत कर अपने व्यक्तित्व के स्थान पर सामाजिक विशालता को अभिव्यक्त करते हैं "एक अजगर की तरह *खेती, होरी को निगल जाती है। इसके अतिरिक्त बिरादरी का शासन, दंड का* भुगतान, गाय का अन्त, अपने ही खेत में होरी की चाकरी; व्यक्तिगत घटनाएँ नहीं हैं, सामयिक तथा सामाजिक घटनाएँ हैं।"[2] प्रसाद, निराला, चतुरसेन शास्त्री आदि की भी यही विशिष्टता है।

---

१. लाला श्रीनिवास दास—'परीक्षा गुरु', पृ० १५०.

२. इन्द्रनाथ मदान—आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० १९.

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में युग-चेतना तथा पारिवारिक-सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। प्रेमचन्द का ग्रामीण जीवन के प्रति अधिक मोह है, मध्य या निम्न वर्ग के प्रति उनकी प्रबल सहानुभूति है। डा० रामविलास शर्मा के अनुसार 'गोदान' किसान महाजन संघर्ष का उपन्यास है।[1] इसमें ग्रामीण समाज का समग्र चित्रण है। शिवरानी प्रेमचन्द के अनुसार—"प्रेमचन्द जी अपने अन्तिम दिनों में देहातों में जाकर सुधार का कार्य करना चाहते थे।"[2] उनका आदर्शवाद मानवतावाद से ओतप्रोत है। उनकी दृष्टि व्यापक है और उसके घेरे से कोई भाव अछूता नहीं रहा। प्रेमिका, वेश्या, विधवा, सधवा, विमाता, किसान, मजदूर, मिल मालिक, अफसर, क्लर्क, वकील, डाक्टर, मास्टर आदि नित्यप्रति के सम्पर्क में आने वाले सभी प्रकार के लोग उनकी लेखनी के स्पर्श से अछूते नहीं रहे। यह प्रारम्भिक काल के उपन्यास चार्ल्स डिकिन्स के उपन्यासों के अनुरूप है। जिस प्रकार डिकिन्स के उपन्यासों में तत्कालीन इंगलैंड के विशिष्ट वर्गों का अंकन है, उसी प्रकार प्रेमचन्द की सहानुभूति भी विशिष्ट वर्ग (मध्य या निम्न) के साथ है। १९४७ के उपरान्त के हिन्दी उपन्यासों में समाजवादी रूप के साथ व्यक्ति के अन्तर्मन के असख्य जागरूक चेतना के स्फुरण भी प्रस्फुटित होने लगे। देश का विभाजन हुआ, भाषा के सम्बन्ध में झगडे चले, किसान कैसे मुक्त हो मानव क्षमता का भोग कैसे हो, आदि प्रश्न उपन्यासकारों को स्पर्श करने लगे। व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की चेतना का केन्द्र मध्य वर्ग रहा है। अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि ने मनोविज्ञान और कुण्ठाओं से भरे मध्यवर्गीय जीवन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। समाज और व्यक्ति को देखने का दृष्टिकोण मध्यवर्गीय चेतना से आक्रान्त था।

स्वाधीनता पूर्व प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में आदर्श आस्था और व्यक्तिगत गुणों पर अधिक बल दिया जाता था। 'सूरदास', सुमन' ऐसे ही व्यक्तित्व हैं, जिनकी जीवनी पर आस्था है। सत्य के प्रतीक हैं, परन्तु मार्क्सवाद ने आस्थावादी 'प्लेटोनिक' समाज के स्थान पर समाजवादी समाज की आस्था को प्रश्रय दिया। रूढ़ियों या धार्मिक विश्वास को झटके से तोड़कर संस्कार-मुक्त समाज को महत्त्व दिया। यशपाल का इस क्षेत्र में प्रमुख स्थान है।

यौन भावना का स्पष्ट चित्रण सभ्य समाज में वर्जित रहा है। प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासकारों ने मर्यादित तथा परम्पराओं से स्वीकृत आवृत्त रूप को ही प्रस्तुत किया है। परन्तु मनोविज्ञान ने मानव-मन के असंख्य चेतन-अचेतन स्तरों के उद्घाटन के साथ यौन-भावना को भी उन्मुक्त कर दिया। यही कारण है कि आज उपन्यासकार ने भूख के समान यौन को भी दुर्निवार प्रवृत्ति मान लिया है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल

---

1. डा० रामविलास शर्मा—प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० ११९
2. शिवरानी प्रेमचन्द—प्रेमचन्द घर में, पृ० १७२

जोशी आदि इस क्षेत्र में प्रमुख हैं। जैनेन्द्र व्यक्तिगत जीवन का चित्रण करने, बाहर से भीतर की ओर आये हैं। इनके पात्र मानसिक द्वन्द्व के शिकार हैं। उसमें प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा के साथ वासनात्मक प्रवृत्ति की भावना भी दिखाई देती है, जिसे अपने ढंग से वह कहने का प्रयास करते हैं।

अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' तथा 'अपने अपने अजनबी' में अहंभाव को विकसित किया गया है, नायकों के मनोभावों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। 'शेखर : एक जीवनी' के शेखर और 'अपने अपने अजनबी' की योके समाज के प्रति विद्रोहात्मक भावनाओं से परिपूर्ण हैं। शेखर को सबका प्यार चाहिये, परन्तु केवल वासनामय प्रेम ही नहीं वरन् संवेदनशील भी। 'नदी के द्वीप' में पारिवारिक तथा सामाजिक बन्धनों की उपेक्षा रेखा और भुवन ने की है।

इलाचन्द्र जोशी पर फ्रायड, एडलर, युंग का अत्यधिक प्रभाव है, जिन्होंने नये सिद्धान्तों की खोज की। इन नये सिद्धान्तों में से प्रमुख बात अवचेतन मन की खोज है।[1] यौन समस्या उनके उपन्यासों में उभर कर सामने आती है। इनमें सेक्स जीवन की मूल प्रेरणा प्रतीत होती है। इनके नारी पात्र पुरुष की अपेक्षा अधिक संघर्षी तथा आत्मविश्वास से परिपूर्ण हैं।

यशपाल के उपन्यासों में सेक्स और काम-पीड़ा की समस्या प्रधान है, परन्तु वह इसी तक ही सीमित नहीं रहते, व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं— "पुरुष जब असभ्य था स्त्री को छीन लेता था अब उसका कन्यादान करता है।"[2] यशपाल स्त्री को मानवी ही देखना चाहते हैं, न उसे भोगदासी देखना चाहते हैं न ही उसे देवी कहकर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण उन्हें मान्य है। वे व्यंग्य करते हुए कहते हैं —"वह पूजा की पात्र है, परन्तु पूजा के पात्र जितने देवी-देवता होते हैं वे सब मन्दिर में बन्द रहते हैं और चाबी पुजारी की जेब में रहती है।"[3]

अश्कजी ने निस्संकोच काम-वासनाओं का चित्रण किया है। 'गिरती दीवारें' में चेतन कुंठित वासनाओं से आक्रान्त है जो कभी-कभी उग्र रूप से उभर कर सामने आती है। इस प्रकार सेक्स के चित्रण में उपर्युक्त उपन्यासकारों ने प्रेमचन्द युगीन मूल्यों की अवहेलना की है, परन्तु युग परिवर्तन के साथ-साथ युगीन परिस्थितियाँ, मान्यताएं भी परिवर्तित होती हैं और इस बदले हुए परिप्रेक्ष में युग की माँग की पूर्ति

---

१. इलाचन्द्र जोशी—'विश्लेषण' पृ० १०६.

२. यशपाल—'चक्कर क्लब', पृ० ८१.

३ वही, पृ० ७८.

करने का प्रयास इन लेखकों ने किया है। सामाजिक पर्यावरण के अनुरूप ही अन्तः क्रियाएं होती हैं। उपन्यासकार भी अपने पात्रों के माध्यम से उन्हीं अन्तःक्रियाओं को मुखरित करता है। अमृतलाल नागर ने अपने प्रमुख उपन्यास 'अमृत और विष' में कहा है—"नौजवानों की आशाओं, आकाक्षाओं और कुंठाओं को चित्रित करना ही मेरा प्रमुख उद्देश्य होगा। आखिर आने वाली दुनिया है तो उन्हीं की।"[1]

मनुष्यों की अन्तःक्रियाएँ ही समाज है, जिसे मैकाईवर ने 'सोशियल इंटर-एक्शन' कहा है। यह इंटरएक्शन या अन्त क्रियाएँ युग के परिप्रेक्ष मे जानी जाती हैं। आज व्यक्तिवादिता ही प्रमुख है। आज व्यक्ति का समाज मे मूल्यांकन उसके व्यक्तिगत कृत्यो पर निर्भर है। व्यक्ति के व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि हैं। इसलिए 'अमृत और विष' का उमेश अपने व्यक्तिगत हित के लिए परिवार को छोड जाता है। '"उमेश अपने स्वार्थवश ही मुझे छोडकर गया होगा। मेरे कल के भाषण के प्रति सरकारी रोष में वह अपने आपको बचाना चाहता होगा. ...... भवानी (मझला लडका) मे बडप्पन की बू, फैशन की भूख, चुटकी बजाकर ढेर सारी रकम पैदा कर लेने की भूख, औरत को ललचा कर अपने वश में करने का दम्भ, दूसरों के सामने शाही खर्च करने की शेखी...... ये इच्छाएँ हमे नचा रहीं हैं।'[2] आज के युवक की अपनी इच्छाएँ-आकाक्षाएँ हैं, इसी से रमेश भविष्य के लिये चिन्तित है। वह माँ-बाप को अपने भविष्य के लिये छोड कर चला जाता है। भवानी भी स्व के लिये घर छोडता है, क्योकि आज परिवार से व्यक्ति का स्तर निर्धारित नहीं होता, कार्य(रोल) से ही समाज मे व्यक्ति की स्थिति निश्चित होती है। यही कारण है कि अपना सफल जीवन बनाने के लिये सरकार विरोधी पिता से विलग होने मे उसे क्षण भर भी नही लगता। आखिर उसे आई. ए. एस. बनना है, अपने स्वार्थ के लिये बेटा बाप को छोड जाता है।

आज व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से देखता है, जीवन को देखने का प्रयास करता है, परिवार के लिये व्यक्तिगत सुखों का बलिदान नही कर सकता। आधुनिक पर्यावरण में व्यक्तिगत हितो का अधिक महत्त्व है, जिन्होंने मानव को आत्मकेन्द्रित बना दिया है, इसीलिये उसकी प्रतिक्रिया भी उसी के अनुरूप है।

प्रत्येक प्राणी आत्मकेन्द्रित होता है। वह दूसरों के लिये त्याग करता है, परन्तु उसमें भी उसका स्वार्थ अन्तर्निहित है। यदि उसके त्याग को अपेक्षित मान्यता न दी जाये तो उसे भी दुःख होता है, उसे भी आत्मसन्तोष तभी होता है यदि उसे मान्यता दी जाये।

मनुष्य कितना ही उदारवादी क्यों न हो, जब उसके घर की कोई समस्या होती है तो वहाँ वह सकीर्ण बन जाता है। 'कब तक पुकारूँ' के ठाकुर विक्रमसिंह

---

१. अमृतलाल नागर—'अमृत और विष', पृ० ५३.
२. वही, पृ० ५४–५५.

जो, अहिंसा-न्याय के लिये चिल्लाया करते हैं, चंदा को अपने इकलौते पुत्र नरेश से प्रेम-सम्बन्ध जानकर भड़क उठते हैं, ठाकुरों से ये नीच लोग कैसे सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। उनकी पत्नी, चन्दा को निर्ममता से पीटती है, परन्तु उस समय उनकी (ठाकुर विक्रमसिंह की) अहिंसावादी नीति मुखरित नहीं होती। गांधी की तस्वीर उनके सामने हंस उठती है। "वह नंगा सामने खड़ा था, खानदान की इज्जत की धूल पर वह मनुष्यता का प्रतिनिधि खड़ा जैसे उनके मनुष्यत्व को बार-बार ललकार रहा था।"[1] 'ठाकुर सामाजिक परिवर्तन से अप्रभावित नहीं है, परन्तु वह रूढ़ियों में विवश होकर क्रन्दन कर रहा है। उनकी परम्परागत कायरता, लोक-लज्जा का भय, मनुष्यत्व छोड़ने के लिये उन्हें बाध्य करता है। वे उद्भ्रान्त हो उठते हैं और सम सता का न्याय नहीं दे पाते।"[2]

मानव जब अपने कृत्य को गलत समझने लगता है, केवल स्वार्थ या भय से विरक्त रहता है, तब उसका विश्वास कुछ दूसरा हो जाता है, तब वह सचमुच निर्बल हो जाता है।

अपने सामाजिक परिवेश से बंधा मानव अपनी आत्मा के गम्भीर विषाद से व्याकुल होता है, परन्तु फिर भी अहंकार, धन का, तन का, जाति का, ओहदे का, उसे घेरे है, वह उससे उभर नहीं पाता। तर्क और सत्य की दीप्ति को वह नहीं पाता, क्योंकि यह आलोक उसके स्वार्थों का पर्दाफाश करता है।

मानव में अपने स्वार्थों के लिये घृणा का समुद्र हिलोरें लेने लगता है परन्तु मनुष्यता शाश्वत है, उसका यान थपेड़े खाकर भी डूब नहीं सकता। नये समाज का नया स्वप्न उसके नयनों में प्रति पल, प्रति क्षण साकार हो उठता है, क्योंकि पीढ़ी दर पीढ़ी हम निरन्तर गतिशील हैं। मानवता युगयुगान्तर से घृणा के तम को मिटाने के लिये उत्कट लालसा लिये प्रयत्नशील रही है विषमता को आज, मानवीयता के नये मूल्यों के लिये समाप्त करने का सतत् प्रयास जारी है।

व्यक्ति समाज का प्राणी है, परन्तु प्रथम वह व्यक्ति है। वह समाज की इकाई होने के साथ अपने में भी पूर्णता रखता है, जिसे नागरजी ने 'बून्द और समुद्र' में अभिव्यक्त किया है। व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन आधुनिक युग की देन है। सामन्ती युग में व्यक्ति का जीवन सामाजिक मर्यादाओं की अटूट शृंखला में बन्धा हुआ था। व्यक्ति की अन्तःक्रियाओं को, युगीन पर्यावरण को, उपन्यासों के माध्यम से देखा जा सकता है।

(ग) नये कथा-साहित्य में बदलते गांव

गावों के जीवन को नियन्त्रित करने वाली धुरी धर्म को माना जाता रहा है, जिसे कार्ल मार्क्स ने जनता की अफीम (ओपियम आव् मासेस) कहा है। लोगों को

१. रांगेय राघव—'कब तक पुकारूं', पृ० ५११.
२. वही, पृ० ५१३.

रूढ़िवादी, अन्धविश्वासी बनाये रखने में तथा सामाजिक समस्याओं जैसे बाल-विवाह, दहेज, विधवा-विवाह आदि की वृद्धि करने में धर्म बहुत सहयोगी रहा। आधुनिक काल में नगरीकरण, औद्योगीकरण के प्रभाव से गांव अछूते नहीं रहे। इसी से शहरों की समस्याओं को ग्रामवासी भी अनुभव करने लगे हैं।

आज मानव अजीब कशमकश में है। एक ओर तो वह भारतीय जीवन और उसकी परम्परागत सांस्कृतिक विरासत से विलग नहीं होना चाहता, दूसरी ओर पश्चात्य जीवन दर्शन से आकर्षित हो रहा है, इसलिये एक विकट समस्या उपस्थित हो जाती है कि किस जीवन दर्शन को अपनाए। मानव सही रूप से सही क्या है, निर्णय नहीं कर पाता इसलिये अनुभूतियाँ दम तोड़ने लगती हैं, और वह केवल लुटा-लुटा सा अवाक अपनी दशा को देखता रहता है। प्रेमचन्द जी का होरी मरणोन्मुख युग का प्रतिनिधि है, उसके जीवन की असफलताएँ उसके युग की असफलताएँ हैं। आज का किसान होरी की तरह नहीं वरन् गोबर, बलचनमा (नागार्जुन) की तरह है। होरी 'यह पथ बन्धु' था के नायक श्रीधर की तरफ साधारण निरीह प्राणी है, साथ ही महानात्मा है। उसके जीवन की असफलता मानो उसके लक्ष्य की विशालता की द्योतक है। वह श्रीधर की तरह अकेले ही परिस्थितियों से लड़ता है।

एक ओर विकृतियों का आतंक जन्य प्रभाव हम पर हावी था, तो दूसरी ओर हमारी सांस्कृतिक चेतना हमें युग के दायित्व से सम्बन्धित करती रही। "अजीब सी हालत में त्रिशंकु की सी अवस्था और इसमें फंसे हम....दिग्हारा से। एक ओर दृष्टि की व्यापकता (ब्राड विजन) अपनी ओर खींचती है और सड़ी-गली परम्पराओंका मोह, निर्भीक स्वीकृति का अभाव और बहुत से नकारात्मक क्षणों (नगेटिव मोमेंट्स, के अधिकारी मूल्यों के प्रति चला आ रहा हमारा लगाव, हमें बाध्य करता रहा कि हम अपनी गर्दन अपने आप ही में सिकोड किसी भी निष्क्रिय कछुए की तरह खामोश और स्पन्दनहीन दशा में पड़े रहे। इसके अलावा सैकड़ों प्रकार की आर्थिक विचारधाराओं ने भी हमें कम प्रभावित नहीं किया है।"[1] प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों के लिये वही काम किया जो रूसी किसानों के लिये टालस्टाय ने और पहले से चले आये आदर्शवाद को बुद्धिवाद से पुष्ट किया। जीवन सतत् प्रवाह का नाम है, समाज में होने वाले परिवर्तनों से, वा निरपेक्ष परिवर्तन से मापदण्ड बदलते हैं। आधुनिकता को सभ्यता से आजकल सम्बन्धित किया जाता है। ये दोनों सापेक्ष शब्द कुछ हद तक ठीक हैं, क्योंकि सभ्यता के मापदण्ड शीघ्रता से परिवर्तित होते हैं और इन बदलते मापदण्डों से सभ्यता को विलग नहीं किया जा सकता। हमारी आज जो धारणाएँ स्वीकृत की जाती हैं, हो सकता है कल उन्हें अभिमत प्राप्त न हो या नवीन दृष्टिकोण से देखा जाये, इसलिए यह कहा जाता है कि आधुनिकता केवल सभ्यता से ही जुड़ी हुई नहीं है।

---

१. सीताराम शर्मा—स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य, पृ० ३६.

"आधुनिकता कोई आरोपित वस्तु नहीं है, यह तो देश-काल-अनुभूति, स्थिति की अभिव्यक्ति है। इसलिए आधुनिकता केवल सभ्यता में नहीं व्यक्त होती वरन् मानवीय संस्कृति के उपकरणों में अभिव्यक्ति पाती है। यह उपकरण, विचार और धारणा के आधार पर बनते हैं।"[1]

आधुनिकता गलित रूढ़ियों का बहिष्कार कर नई मान्यताएँ स्थापित करती है। यह विरोध इसलिए नहीं है कि कोई वस्तु प्राचीन है इसलिए बहिष्कार किया जाये, वरन् इसलिए कि वर्तमान व्यवस्था की चौखट में वह फिट नहीं बैठती। विद्रोह के पीछे सांस्कृतिक चेतना को नष्ट करने की इच्छा नहीं है, वह तो सर्जनात्मक रूप में संस्कृति के हित का विचार करता है। साहित्यकार युगीन परिस्थितियों के बहाव में बहता हुआ अपने साहित्य में युग को मुखरित करता है। किसी घटना विशेष की क्रिया-प्रतिक्रिया मानव पर क्या हुई है, साहित्यकार उसे स्पष्ट करता है। वह मानव के संघर्ष, क्रिया, प्रतिक्रियात्मक स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। वास्तव में प्रत्येक युगीन मान्यताएँ, परम्पराएँ टूटती हैं, बिखरती हैं। परन्तु उन्हीं में से नवीन मूल्य विकसित होते हैं, उन्हें साहित्यकार अपनी अभिमति देता है, वह स्वयं किन्हीं मूल्यों को बनाता-बिगाड़ता नहीं है, उन्हें और आगे को उभार कर प्रकट करता है।

साहित्यकार समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया का बिम्ब अपने साहित्य में दर्शाता है। वह सर्जक है, सृजनात्मक प्रवृत्ति के द्वारा समाज का यथातथ्य चित्रण करता है। ऐसे ही साहित्यकारों के प्रभाव से गाँव अछूते नहीं रहे और शहरी प्रतिक्रियाओं का प्रभाव उन पर पड़ता रहा और वह नवीन चेतना ले कर जागृत हो उठे। श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' उपन्यास में गाँव नवीन चेतना से पूर्णतः प्रभावित हैं। साहित्यकारों पर नयेपन का भूत सवार है, हमारे नये लेखकों में नई दिशा के अन्वेषण तथा अनुकरण की प्रवृत्ति भी है। अन्वेषण का सम्बन्ध अन्तर्मुखता से है। इसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से शिल्प की ओर ध्यान दिया जाने लगा। आंचलिक साहित्य में साहित्यकार शिल्प का सहारा लेने लगे।

भारत में आंचलिक शिल्प की दो धाराएँ पाई जाती हैं—पहली पश्चिम के अनुकरण की, जिसमें नयापन है, जिसे हम फणीश्वरनाथ रेणु के प्रस्तुतीकरण में पाते हैं, जो ग्रामीण जीवन के परिवर्तित स्वरूप को बड़े चमत्कारिक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। उनकी अनुभूतियों का पाठक भी सहभोक्ता बन जाता है। आंचलिकता की गहराई जो रेणु के पात्रों में पाई जाती है, शायद ही किसी अन्य कथाकार में इतनी सशक्त हो। रेणु के पात्रों में एक अञ्चल का सीमित चित्रण है, साथ ही सम्पूर्ण राष्ट्र-जीवन की ध्वनि पर्याप्त रूप में विद्यमान है। "मनुष्य के अन्तस्तल स्तरों का अंकन कर रेणु टॉलस्टाय और गेटे के अधिक निकट आ गये हैं।"[2] दूसरी विचारधारा अपा

---

1. सीताराम शर्मा—स्वातन्त्र्योत्तर कथा, साहित्य पृ० ४९.
2. 'आलोचना' त्रैमासिक २४, पृ० ७०, सं० शिवदानसिंह चौहान

विचारो के प्रति विशेष आग्रह है, जो लेखक की शक्ति-अशक्ति की प्रतीक है। कुछ आचलिक उपन्यासो का दायरा किसी गाव विशेष का न होकर सारे हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व करता है। जैसे 'परती परिकथा' का पोढियो का सदर्भ सिर्फ मिथिला तक ही सीमित नही है, भारत के हर अन्चल का है।

ऐस उपन्यासों मे आचलिकता के प्रच्छन्न कोने तक पहुँचकर जन जीवन को स्पर्श करने का प्रयत्न किया जाता है। भारत के ग्रामों का बारीकी से चित्रण है रेणु ने अपने पात्रो के माध्यम से जीवन की एक सर्वांगीण झाँकी प्रस्तुत की है। "हर व्यक्ति, समाज का हर वर्ग, हर राजनीतिक दल अपने वर्तमान आचरण और भूमिका का सही चित्र देख सकता है।"[1]

आचलिकता का सही रूप लोकगीतो, लोक कथाओ मे मिलता है, आचलिक साहित्य मे ईमानदारी से अन्चल के जन-जीवन का चित्रण पाया जाता है। आचलिक कथाकार कथानक से अधिक लोक-जीवन मे प्रविष्ट होने का प्रयत्न करता है। आचलिक उपन्यासकार अधिक शिल्पी है।

'यह पथ बन्धु था' मे भी आंचलिकता सहज स्वाभाविक रूप मे व्यक्त हुई है, जो साधन है साध्य नहीं। प्रकृति और जन-जीवन दोनो के दर्शन हमें बडी सूक्ष्मता, चित्रात्मकता से होते हैं। भाव-सूत्रों को बिम्बात्मकता से आलोकित किया है। रेणु की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' का हीरामन एक अविस्मरणीय छाप छोड जाता है, जो भूलाए नही भूलता, उसका भोलापन ग्रामीण जीवन की सचाई का प्रतीक है।

समय के परिवर्तन के साथ नई समस्याएँ सामने आती है। उपन्यासकार यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न करता है, इसलिए नई समस्याओ के साथ उपन्यास के नये रूप सामने आते हैं। नवीनतम उपन्यासों, जैसे 'परती: परिकथा', 'मैला आचल', 'बलचनमा', 'राग दरबारी', 'जल टूटता हुआ' आदि, का सम्बन्ध विशिष्ट जनपदो और अन्चलो से है। विशिष्ट जनपदों का विवरण होने से उनके पात्र भी उन जनपदो के टाइप हैं। पुराने जमीदार, किसान, मजदूर, साम्यवादी, सोशलिस्ट, पुराने और नये कांग्रेसी, अर्द्ध शिक्षित, ग्रामीण, ग्राम बालाओ के न जाने कितने टाइप हमे इन उपन्यासों में देखने को मिलते हैं। आचलिकता के विवरण मे व्यक्ति के स्थान पर इन उपन्यासो मे नवीन सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक सघर्षों को विशेष महत्त्व दिया गया है। आचलिकता की पीठिका पर असम्पृक्त सामाजिक चरित्र को प्रमुखता दी गई है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय ग्राम-समाज ने करवट बदली नई स्वासें भरी, जिनमे स्वतंत्रता-प्राप्ति की प्रतीति थी जनता ने दासता का जुआ उतार फेंका। देश में नई-नई योजनाएँ चल रही थी, देश का धन देश के काम आ रहा था। नया

---

१. डा० बेचन-आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास, पृ० १६७.

वातावरण नये दायित्व, नये दबाव लेकर आया। रूढ़ियों से बद्ध जीवन को उन्मुक्त होने का अवसर मिला, पिछड़े हुए लोगो को उन्नति का मौका मिला, सामाजिक उत्थान की भावनाओं को लेकर गावो मे पचायतें, न्याय पचायतें, पचायत समितियाँ बना दी गई। लाखों रुपये सरकार ने व्यय किये, परन्तु सफलता निःस्वार्थता के अनुदान मे ही मिली।

किसानों, मजदूरों के कल्याण के लिए कई समितियाँ बनीं। किसानों को खेती सम्बन्धी सुझाव देने के लिए बड़े पैमाने पर कार्य किये जाने लगे। अच्छे बीज, खाद, हल आदि के बारे मे उन्हें सुझाव देने के लिए 'ग्राम सेवक' नियुक्त किये गये, स्वच्छता सम्बन्धी ज्ञान के लिये सेनेटरी इन्सपेक्टर आदि नियुक्त हुए, साक्षरता के लिए प्रौढ़ शालाएँ खोली गई, ग्राम-सेविकाएँ तथा ग्राम-काकियाँ महिलाओं का ज्ञान वर्धन करने लगी। किसानों को अच्छी फसल पैदा करने पर पारितोषिक दिये जाने लगे। "किसानों को प्रोत्साहित करने के लिए सरकारी कर्मचारी तथा विशेषज्ञ उनको कामों मे निर्देशित करने लगे।"[१] सहकारिता की भावना भरने के लिये कई प्रकार के सहकारी प्रतिष्ठान स्थापित किये जाने लगे।.......सहकारी कृषि, सहकारी बैंक आदि। पशुओं की अच्छी नस्ल के लिए पशु-पालन विभाग' की ओर से पशु-चिकित्सालय खोले गये तथा पशुओ के संवर्द्धन और सरक्षण के प्रयत्न किये जाने लगे। पशु मेलों के द्वारा अच्छे गाय-बैल, भेड, ऊट आदि के मालि. को पारितोषिक दिये जाने लगे। इन पंचायत समितियो के द्वारा ग्रामीण जन-जीवन मे चेतना आई, वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गये। समय की झाँकी उपन्यासों मे भी स्पष्ट होने लगी, जिसे हम रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' तथा श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' में देखते हैं।

स्वतन्त्रता के बाद प्राचीन समस्याओं को वर्तमान दृष्टिकोण से देखा जाने लगा, साथ ही नई समस्याओ पर विचार किया जाने लगा। विकास के चरण को अबाध गति से बढ़ने से रोकने में 'ह्युमन फैक्टर' का भी बहुत बड़ा हाथ है, जैसे गोबर का खाद बनाने के लिये लोग इसलिये तैयार नहीं होते, क्योंकि उन्हें जलाने के लिए कण्डे चाहिए, साथ ही खाद के गड्ढे घर से दूर होने के कारण घर की स्त्रियाँ वहां गोबर फेंकने नही जा सकती थीं और पुरुष वर्ग के लिए यह कार्य उनकी मर्यादा के प्रतिकूल था, इसलिए लोग गोबर के कण्डे बनाना उचित समझते थे।"[२] इस नई चेतना ने ग्रामीण जीवन में कई नई समस्याएँ खड़ी कीं, जैसे अनिवार्य शिक्षा के अन्तर्गत बच्चों को स्कूल भेजना आवश्यक था, परन्तु गाय, बकरी चराने के लिये बच्चों को भेजा जाता है, उनके स्थान पर कौन काम करे; परन्तु बच्चों को स्कूल न भेजने पर माता-पिता को पंचायतों में जवाबदेही करनी पड़ती, इसलिए वे अपने बच्चों की संख्या बताने से कतराते।

---

१. श्री एस० सी० दुबे-'इण्डियाज् चेन्जिग विलेजेज, (१९५८), पृ० ११२.
२ वही, पृ० १३५.

प्रभाकर माचवे के 'परन्तु' उपन्यास मे नैतिक पतन का सजीव वर्णन है। आर्थिक विषमता के कारण विधवा हेमवती को सतीत्व नष्ट करने के लिए बाध्य होना पडता है। नगरीकरण के प्रभाव से प्रभावित ग्रामो के आपसी सम्बन्धों मे भी शुष्कता, स्वार्थपरता उभरने लगी।

इस मशीन युग में मानव का भी यन्त्रीकरण हो गया है। 'साचा' उपन्यास में समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, मशीनीकरण के विरुद्ध आवाजउठाई गई है। यह प्रभाव गावों मे पूर्णतया परिलक्षित होता है। गावों के लोग प्रेमचन्द-युग से भिन्न हैं, वे अब भोलेभाले निरीह प्राणी नही रहे। यह ठीक है कि शहरो के अनुरूप इनका कृत्रिम यन्त्रीकरण (मेकेनाइजेशन) नही हुआ। यन्त्रीकरण के विरुद्ध प्रभाकर माचवे ने 'साचा मे कहा है–"साँचे मे आप मिट्टी के लोंदो को डाल लीजिए आत्मा का यन्त्रीकरण सम्भव नही।"[१] जीवन की जीवतता भी शेष रहे और इसका समूहीकरण भी हो जाये, यह सभव नही। आज के इस यत्र-युग मे मानवीय मूल्यों का विघटन होने लगा है। गावों के जन-जीवन में भी एक प्रकार का बिखराव दिखाई देने लगा।

स्वतन्त्रता के बाद व्यक्ति स्वतन्त्र तो हुआ है, परन्तु समाज के साथ उसका कर्त्तव्य बढ़ गया है। धार्मिक रूढियो के विशृ खल होने से भी व्यक्ति ने समाज मे एक उदारता का परिचय दिया है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध नवीनता लिये हुए भी पनपते रहे, जिसमें धर्म का अ कुश क्षीण हो रहा था, ग्रामीण जनता को धर्म के नाम पर आज गुमराह नहीं किया जा सकता, परन्तु गावों में राजनीति ने अपने पैर मजबूती से जमा लिये हैं। चुनावों की सरगर्मी छोटे से गाव मे भी देखी जाती है, वहाँ भी अवाछनीय स्वार्थों से बन्धा जन-जीवन, आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाता रहता है।

श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' उपन्यास में एक बडे नगर से कुछ दूर बसे हुए गाव का चित्रण है, जिसमें बीस वर्षों के विकास के घोषनाद के होने हुए भी वहाँ की स्वार्थपरता के शिकार जन जीवन का अकन है। वोट लेने से पूर्व नेताओ के आश्वासन, सुधार आदि अभियान शुरू हो जाते हैं। उसी प्रकार फिर वे निर्वाचित होने के लिए रामदीन के भैया ने भी गाधी चबूतरे का जीर्णोद्धार करवाया। "शायद चुनाव कानून मे लिखा है या पता नहीं क्यो सभी बडे नेता चुनाव के कुछ महीने पहले अपने-अपने चुनाव क्षेत्रों का सुधार कराते हैं। कोई नये पुल बनवाता है, कोई सड़कें बनवाता है, कोई गरीबों को अन्न और कम्बल दान करता है। उसी हिसाब से रामदीन के भैया ने चबूतरे के आस पास का नक्शा बदलने की कोशिश की थी।"[२]

इस प्रकार राजनीति ने गावों को भी अपना अड्डा बना लिया है। भारत के गांवो में जहां लोग दैवी प्रकोप से त्रस्त थे, वहाँ एकता थी, सभी के सुख-दुःख के

१. प्रभाकर माचवे–'सांचा' (प्रथम सस्क० १९५५), पृ० १६१
२. श्रीलाल शुक्ल–रागदरबारी' पृ० २६०.

तार सौहार्द के तन्तुओं से बन्धे थे, परन्तु यहाँ भाव व्यक्तिवादिता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' में अभिव्यक्त किया गया है कि एकता का प्रश्नीर टूट रहा है। ऊपर से एकता का कृत्रिम आवरण है, जो जगह जगह से दरक रहा है। समानान्तर धारा से धारा विच्छुड़ रही है, बांध जिस प्रकार जल को अधिक पर एक दिशा में नहीं कर पाता, इसी प्रकार गावों की टूटन को भी सारी ढाचा बांध नहीं पा रहा।"[1] आज के उपन्यासों में इन बदले हुए गावों के स्वरूप को अभिव्यक्ति मिली है, जिसे हम 'परती: परिकथा', 'मैला आंचल', 'जल टूटता हुआ', 'राग दरबारी' आदि में देखते है।

(घ) नगर और समाज

समाज में व्यक्तियों की विभिन्न भूमिकाएं होती है, उन्हीं के अनुरूप उनका मूल्यांकन किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के कार्य अलग-अलग होते हैं, समाज में इन्हीं कार्यों के अनुरूप सामाजिक स्थितियां होती हैं और इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप वह अपनी भूमिकाएं निभाता है। आदिम और जटिल समाजों में आयु, लिंग, परिवार, ज्ञान, व्यवसाय के आधार पर व्यक्तियों और समूहों का विभिन्नीकरण (डिफरेंशिएशन) किया जाता है। प्रत्येक समाज अनेक प्रकार के समूहों में विभक्त है, प्रत्येक समूह में विशेषीकरण का विकास होता है। आधुनिक जटिल समाजों में जनसंख्या का विभिन्नीकरण बहुत अधिक होता है, जिसका मुख्य कारण श्रम-विभाजन है। वृद्धि और विशेषीकरण की आवश्यकता तथा विभिन्नीकरण के कारण श्रम-विभाजन का जन्म होता है। श्रम-विभाजन के कारण व्यक्ति विभिन्न कार्यों को करने के लिए विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों को उनके कार्यों और परिस्थितियों के आधार पर जातियों और वर्गों में विभक्त किया जाने लगा। गांवों की अपेक्षा विभिन्नीकरण नगरों में अधिक पाया जाता है। नगर तथा ग्राम में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है, परन्तु ग्रामीण और नगर-निवासियों के समुदायों के व्यवसाय, रहन-सहन, विचार, रीति-रिवाजों, वेश-भूषा, सामाजिक मूल्यों के आधार, पर भेद किया जाता है। सामाजिक-स्तरण ग्रामों में वंश परम्परा पर आधारित होते हैं। अधिकतर अभी भी वही स्थिति पाई जाती है, जबकि नगरों में सामाजिक-स्तरण परम्परागत अधिक होता है।

राही मासूम रजा के उपन्यास 'टोपी शुक्ला' में बलभद्र नारायण शुक्ला टोपी अपने मित्र इफ्फन के साथ अलीगढ़ में रहता है। चर्चा का विषय होते हुए भी वह उनका साथ नहीं छोड़ता, परन्तु गांवों में शायद उसके लिए एक दिन भी साथ रहना सम्भव न होता, क्योंकि ब्राह्मण का मौलाना टोपी शुक्ला नाम से परिचय देना भी वहाँ की जनता के लिए अग्राह्य होता। इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सबहीं नचावत राम गोसांई' में एक दर्जी का कवि झंझावात के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त

---

[1] रामदरश मिश्र— 'जल टूटता हुआ' भूमिका से।

करना शहर में ही सम्भव है, गाव मे कोई उसे यह आदर देने को तैयार न होता, क्योंकि नगरो मे सामाजिक स्तर वश पर आधारित नही होता। "झझावात बड़े लोगों के साथ उठता-बैठता भी है। रूस जाने के लिए उसकी मदद प्रोफेसर यादव करते हैं। बाकी सब मित्र जैकृष्ण करने को तैयार हैं, सुनकर झझावत खड़े ही खड़े नाचने की मुद्रा मे चक्कर लगाने लगता है।"[1] इस प्रकार की प्रगति गावों मे सम्भव नही हैं।

ग्रामीण समुदायो मे सामाजिक विभिन्नीकरण की प्रक्रिया भी उतनी जटिल नहीं होती, जितनी शहरों मे होती है, क्योंकि नगरो मे वर्गों की अधिकता पाई जाती है और कार्यों का विशेषीकरण जटिल होता है। कहा जाता है कि ग्रामीण समुदाय एक घड़े में शान्त जल के समान है और नागरिक समुदाय पतीली मे उबलते हुए पानी के समान है। परन्तु नगरो के विभिन्नीकरण का लाभ भी है। इसमे असमान योग्यताओं के व्यक्तियों और श्रेणियों को समाज मे स्थान प्राप्त होता है, जिससे सामाजिक कार्य व्यवस्थित रूप से हो सकते हैं। इसमें श्रेष्ठ योग्यता तथा निम्न योग्यता वाले व्यक्ति साथ-साथ रह कर कार्य कर सकते हैं, क्योंकि समाज मे विशेषीकृत विभिन्नीकरण विद्यमान है। समाज म योग्यता एव परिश्रम द्वारा व्यक्ति किसी भी सामाजिक श्रेणी को प्राप्त कर सकता है। जटिल समाजों में जाति व्यक्ति की उन्नति में इतनी बाधक नही होती, जितना कि ग्राम-समाज मे। वहाँ जाति एक प्रमुख बन्धन है। 'जल टूटता हुआ' मे शुक्ला और पाठक ब्राह्मण होते हुए भी विवाह सम्बन्ध सुगमता से नहीं तय कर पाते, क्योंकि जातीय स्तरण मे वह ऊँचे-नीचे माने जाते हैं।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण :

नगरीकरण मे सामाजिक एकीकरण (इन्टेग्रेशन) पाया जाता है, क्योंकि विभिन्नीकरण के द्वारा विभिन्नता के कारण व्यक्तियो की क्रियाओं मे एकीकरण स्थापित होता है, क्योंकि विभिन्नीकरण की प्रक्रिया मे व्यक्ति बिना दूसरो के सम्पर्क मे आये सामाजिक कार्यों को नही कर सकता। व्यक्तियो के सम्बन्ध यद्यपि जातीय होते हैं तथापि व्यक्ति एव समूहों में परस्पर निर्भरता के कारण उनमे सौहार्द्र की भावना पनपती है और सामाजिक सम्बन्ध दृढ़ होते हैं।

'हम सामाजिक जीवन को दो व्यापक रूपो मे देख सकते हैं, जिन्हें हम गाँवों व नगरो के नाम से परिभाषित करते हैं। शताब्दियो से मनुष्य के वास के दो साधारण और मोटे प्रकार गाव और नगर रहे हैं, फिर भी यह नहीं कह सकते कि अमुक स्थान मे नगर प्रारम्भ होता है। नगर और गाव मे केवल अशों का अन्तर है (डिफरेंस आफ डिग्री)। यदि कलकत्ता या बम्बई से १०, २०, २५ मील दूर कुछ लोगों ने जगल मे कोई विशाल भवन बनाकर रहना शुरू कर दिया है तो उसको एकात नहीं

---

1. भगवतीचरण वर्मा–'सबहिं नचावत राम गोसाईं' (१९७०), पृ० २२०.

रीतियाँ सभी विषयों में भारी भेद मिलता है, जबकि गाँवों में इतना विभेदीकरण नहीं होता।

प्रभाव और परिणाम :

नगर तथा गाँव दोनों समुदाय ऐसे हैं जिनमें गत्यात्मकता है, जिनमें सतत परिवर्तनशीलता पाई जाती है। सभी देशों में ग्रामीण जीवन नगरों के सम्पर्क में आ रहा है, तथा औद्योगीकरण का प्रभाव दिनों दिन बढ़ रहा है। इसलिए गाँव के जीवन का भी शनैः-शनैः नगरीकरण हो रहा है तथा गाँवों से जनसंख्या और साधनों का शोषण कर नगरों का विकास द्रुतगति से हो रहा है। नगरों में, गाँवों से पले लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है और जब वह किसी अवसर पर अपने पुरातन स्थान पर जाते हैं तो नगरों की सभ्यता का प्रभाव गाँव वालों पर छोड़ जाते हैं। इस प्रकार नगर एवं गाँवों के जीवन का भेद धीरे-धीरे धूमिल होता जा रहा है।

नव पाषाण युग के उत्तरार्द्ध में संसार के अधिकांश भागों में नागरिक समुदायों की स्थापना हुई। मैसोपोटामिया, मिश्र, भारत और चीन में ईसा से ५००० वर्ष पूर्व अनेक नगर बसे थे। फिर भूमध्य सागर के आस-पास और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अगले ४ ०० वर्षों में अनेक विशाल नगरों का विकास हुआ। भारत में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में ज्ञात होता है कि सिन्धु घाटी में ईसा से ४००० वर्ष पूर्व काफी उन्नत नगरीय सभ्यता मिलती थी। तुर्की, चीन, पेरू और मैक्सिको में विशाल नगरों का विकास ईसा के जन्म से पूर्व हो चुका था। "इससे ज्ञात होता है कि *नगरीय जीवन का विकास आवश्यकतावश यन्त्रप्रविधि पर निर्भर नहीं है*। आधुनिक यन्त्र प्रविधि के विकास से हजारों वर्ष पूर्व नगरीय केन्द्र स्थापित हो चुके थे। हाँ, यन्त्र-प्रविधि के विकास और बड़े कारखानों की स्थापना ने आधुनिक समाज में नगरों के तीव्र विकास में निःसन्देह भारी योग दिया।"[१] गाँवों से श्रमिकों का विशाल संख्या में निष्क्रमण हुआ है। वे औद्योगिक नगरों में बस गये हैं। नगरीय विकास का प्रधान कारण एक ऐसी सांस्कृतिक रूप-रेखा है जो जीवन निर्वाह अथवा विलासिता के पर्याप्त साधनों की उत्पत्ति के लिए सम्भव हो सके ताकि जनसंख्या का एक भाग कृषि के अलावा अन्य कार्यों को कर सके और वह दूसरों के द्वारा उत्पन्न *भोजन बड़े नगरीय समूहों में सुलभता से प्राप्त कर सके।*[२]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से नगर, जीवन का एक ढंग है।

---

१ रामपालसिंह गौड़—समाजशास्त्र परिचय (१६६६), पृ० २११.

२. Gillin & Gillin—*Cultural Sociology*, *P. 279* (New York MacMillan, 1948).

शहरी व्यक्ति में बाह्य अनुरूपता की कला आ जाती है और उसमें आन्तरिक द्वंद्वों तथा मनोदशा को प्रच्छन्न रखने में समर्थ छिछली शिष्टता भी आ जाती है। विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न प्रकार जीवन बिताना वह सीख जाता है और समयानुसार अनभिज्ञता और विशेष मैत्री से लाभ भी उठा सकता है। यह नगरीय पद्धति के एक निराले पर्यावरण की उपज है, परन्तु यह प्रभाव केवल नगरों तक ही सीमित नहीं रहता, नगरों से दूर गांवों और पुरवों की अपेक्षा सरल निवासियों पर शहरीयत का रंग आसानी से चढ़ जाता है। आधुनिक सभ्य देशों के ग्रामीण लोगों में नगरीकरण का शीघ्रता से प्रसार हो रहा है, जिसे हम प्रेमचन्द के गोदान से लेकर नवीनतम उपन्यास 'राग दरबारी', जल टूटता हुआ तक में देख सकते हैं। 'जन संख्या की दृष्टि से एक देश अधिक नगरीय होते हुए भी सामाजिक रूप से दूसरे देश की अपेक्षा अधिक ग्रामीण हो सकता है। चिली और कनाडा की तुलना में कनाडा की अपेक्षा चिली की जनसंख्या का अधिक प्रतिशत नगरों में रहता है परन्तु उसके निवासी हर विचार से नगरीय प्रभावों में कम रंगे हैं।'[1]

औद्योगिक क्रान्ति तथा विज्ञान के विकास के कारण उच्च जीवन स्तर को नगर का प्रभाव नहीं कहा जा सकता, नगर तो स्वयं इसका परिणाम है। किंग्सले डेविस का कथन है कि यदि हम नगर प्रभावों के प्रश्न को छिछले अवैज्ञानिक और कल्पना के स्तर पर सुलझाना चाहेंगे तो सदैव वैसी ही भारी गलती करेंगे जैसी डेविस मम्फोर्ड ने की है। मम्फोर्ड आधुनिक महानगर के दोषी क्षेत्रों की सूची में व्यापारचक्र, समाज्यवादी युद्ध नौकरशाही मानसिक उपक्रम और समाज की सभी उन्नत क्रियाओं का पक्षाघात (लकवा) सम्मिलित करते हैं।[2]

नगरों के सामाजिक प्रभावों के लिए कुछ लोगों का विचार है कि नगरीय जीवन और नवीन शायद कृत्रिम भी है किन्तु मानव-समाज के लिए असामान्य या कृत्रिम अथवा अस्वाभाविक कहना अवैज्ञानिक है। ये धारणाएँ आदर्शात्मक या आध्यात्मिक हैं। न तो नगरीय जीवन कोई नवीन या अनोखी वस्तु है और न समाज के विकास में कोई अस्वाभाविक अवस्था। सामाजिक विकास में नगर का जन्म और उन्नति उतनी ही स्वाभाविक है जितना परिवार या धर्म।

भविष्य

नगरों के भविष्य के बारे में लोगों की धारणा बनती जा रही है कि इनका विकेन्द्रीकरण होना चाहिये। कुछ हद तक यह प्रक्रिया कार्यान्वित होती भी दिखाई देने लगी है अर्थशास्त्र के अनुसार 'ला आव डिमिनिशिंग रिटर्न' लागू हो जाता है। इसी प्रकार जनसंख्या के घनत्व के कारण विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया लागू हो रही है।

---

1 Kingslay Davis–Human Society, P 317 (1955)

2 The Culture of Cities—Harcourt and Brace—New York PP 272-79 (1938)

संसार के अत्यधिक नगरीकृत देशों में नगरीय विकेन्द्रीकरण की जोरों से चर्चा चल रही है। नगरीय जीवन के कुछ दोषों से लोग इतना अधिक भयभीत हो गये हैं कि वे पुनः सरल-सजातीय और प्राथमिक सामाजिक समूहों के जीवन की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। अमरीका, इंग्लैण्ड आदि देशों में नगरीय विकेन्द्रीकरण के आन्दोलन को प्रशासकीय स्तर पर चलाया जा रहा है। अत्यधिक नगरीकृत देशों के विशाल नगरों के आस-पास के क्षेत्रों में विकास की गति जितनी द्रुत है, उतनी नगरों के केन्द्र में नहीं। इन दोनों क्षेत्रों (नगर और गाँव) के सम्मिश्रण से निर्मित उपनगरों से सारोकिन के अनुसार—"एक सामाजिक सांस्कृतिक संसार के एक नये रूप की सृष्टि होगी।"[1] उपनगरों के विकास से ग्राम-नगरीकरण का सम्मिलन हो रहा है। गाँव की संस्कृति अपने नवीन रूप में बनी रहेगी, उसकी समाप्ति नहीं हो सकती। नगर और ग्राम—दोनों का मेल उपनगरों में है। उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'सागर मनुष्य और लहरें' में नगर और ग्राम दोनों का मेल मिलता है। लेखक ने बम्बई के निकट बरसोवा उपनगर का विशद चित्रण किया है। नगरों में जनसंख्या के बाहुल्य के कारण महानगरों (बम्बई, कलकत्ता आदि) के निकट उपनगरों की स्थापना हो रही है। नगरों के विकेन्द्रीकरण से यह तात्पर्य नहीं है कि नगरीकरण में ह्रास या शिथिलता आ रही है। नगर-वृद्धि की अबाध गति से बढ़ रही है। मेकाइवर तथा पेज के अनुसार "पिछले १५० वर्षों में नगरीय उन्नति का आकार और वेग आधुनिक सामाजिक संगठन की प्रकृति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण कारण है। विशाल महानगर जैसे लन्दन, न्यूयार्क पेरिस, मास्को, बम्बई के प्रभाव और शक्ति अपने देशों की सीमाओं के पार बहुत दूर-दूर तक विकीर्ण होती है।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि नगरों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से ह्रास सम्भव नहीं। नगर और ग्रामीण जीवन में सदैव अन्तःक्रिया होती रहती है, वे एक-दूसरे से पृथक् होते हुए भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हैं। नगर के पास सम्पदा, शक्ति और विशिष्ट ज्ञान की प्रतिष्ठा है, वित्त की कुन्जी उसी के हाथ में है। ग्रामों के कच्चे माल का बाजार नगरों में है, वहीं उसके (ग्राम के) जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन उपलब्ध हैं। इसलिए नगरों के विकास की गति दिनों-दिन बढ़ रही है, परन्तु भविष्य में भी नगरों की अधिकतम प्रगति होने पर भी गाँव कायम रहेंगे, भविष्य में उनका निकटतम सामिप्य और अधिकतम सम्पर्क यह स्पष्ट कर देगा कि वे दोनों एक-दूसरे के सहोदर-पूरक और सहयोगी बन कर रहे। गाँव व नगर दोनों ही समाज हैं, जिनमें कोई भी न तो दूसरे से अधिक प्राकृतिक है और न ही बनावटी है।[3] "सच तो

१. Soroken—Society, Culture and Personality (New York P. 302—1947, quoted by MacIver and Page, Society, P. 341.

२. MacIver and Page—Society, P. 332.

३. MacIver & Page—Society, P. 322.

यह है कि आज के जीवन मे शहर और देहात दोनो के जीवन की इकाई अलग होते हुए भी इनका अलग-अलग रखना कठिन है।"[1] किन्तु इन दोनो की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। रावीजी गांवो तथा शहरों की विशेषताओं के सम्मिश्रण से नये नगर की स्थापना करना चाहते हैं, उन्होंने अपने उपन्यास 'नया नगर' में ऐसे ही नगर की कल्पना की है, जिनमें दोनों समाजो की विशेषताओं का सम्मिश्रण हो।

१. लक्ष्मीकान्त सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास' पृ० २११.

अध्याय ४

उपन्यास साहित्य और यंत्र-युग

(क) आर्थिक परिवेश में परिवर्तित सामाजिक सम्बन्ध

साहित्य समाज की अनुकृति है परिवर्तन और क्रान्ति का सबल वाहक है। मानवता के जीवन-दर्शन का चित्रण साहित्य-सृष्टि का विषय है। उपन्यास के माध्यम से जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति हो, यह उपन्यासकार की तर्क दृष्टि और उदात्त चेतना पर निर्भर करता है। आज के सजग उपन्यासकार नगरीकरण (अर्बनाइजेशन) और औद्योगीकरण की समस्याओं से अप्रभावित नहीं हैं। इन समस्याओं का सफल अंकन उनके उपन्यासों में परिलक्षित होता है।

आधुनिक जगत में यन्त्रों का अभूतपूर्व विकास हुआ है, उत्पादन के बड़े-बड़े कल-कारखाने, रेल, वायुयान, जलयान, तार-डाक, रेडियो, टेलिफोन, टेलिविजन, कैमरा, सिनेमा, छपाई की मशीनें, घरों में काम आने वाली बिजली की अनेक सुविधाएं आधुनिक सभ्यता की नई-नई और आश्चर्यचकित कर देने वाली वस्तुएं विज्ञान-युग की देन हैं। यातायात की सुगमता के कारण अत्यधिक दूर बसे स्थान भी बहुत निकट लगते हैं। तथा भिन्न-भिन्न प्रदेशों और संस्कृतियों के लोगों का परस्पर सम्पर्क सम्भव हो गया है। इस प्रकार जो लोग बहुत दिनों तक एक-दूसरे से अपरिचित थे, आपस में उनके आचार-विचार तथा प्रथाओं का आदान-प्रदान सरलता से होने लगा है। दूरस्थ प्रदेशों के निवासियों की उपलब्धियों और समस्याओं का प्रभाव हमारे समाज पर परिलक्षित होने लगा। विशाल संसार मात्र छोटा-सा परिवार बन गया है। इसी प्रकार रेडियो, तार, समाचार-पत्र और सिनेमा, टेलिविजन जैसे संदेश-वाहकों ने संसार में समाचार, विचार-प्रसारण को अत्यधिक शीघ्रगामी और सरल बना दिया है। संसार के अनेकों भागों की जानकारी सुगमता से हमें प्राप्त होती है। भारत में औद्योगिक विकास ने पूंजीवाद को जन्म दिया, जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित होने लगी और समाज मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित हो गया। मिल मालिक

तथा मजदूर वर्ग, जिसे शोषक और शोषित वर्ग भी कहा जाता है। इन दोनो वर्गों के मध्य विद्वेष की भावना पनपने लगी, क्योंकि अपने श्रम का विक्रय करके भी श्रमिक वर्ग को जीने की सुविधाएं बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती थी। उन्ह शहरों के घिनौने परिवेश मे अपना अभिशप्त जीवन बिताना पड़ता था, जबकि पूंजीपति धन के बल पर श्रम को क्रय करके अत्यधिक लाभान्वित हो रहे थे। इन दोनो के मध्य एक शिक्षित मध्यवर्ग था, जो आर्थिक दृष्टि से तो निम्न वर्ग के साथ था, परन्तु उसकी महत्वाकांक्षाएं उच्चवर्गीय स्तर का जीवन बिताने की थी जिससे उसकी स्थिति निम्नवर्ग से भी अधिक शोचनीय थी, क्योंकि निम्नवर्ग की आर्थिक स्थिति विषम होने के कारण इच्छाएं भी सीमित थी, साथ ही परिवार के सभी सदस्य काम करते थे। परन्तु मध्य वर्ग अपनी भूठी मर्यादा के कारण पिस रहा था, सयुक्त परिवार का बोझा ढोने में असमर्थ होने पर भी केवल पुरुष वर्ग ही अर्थोपार्जन म रत था, स्त्रियां घरेलू कार्यों के अतिरिक्त निष्क्रिय ही रहती। खोखल आर्थिक स्थिति मे भी मिथ्या प्रदर्शन और झूठी शान शौकत की लालसा इनकी हीन भावना (इन्फीरियोरिटी कम्प्लैक्स) की प्रतीक थी। इस मध्यवर्ग की बड़ी विषम स्थिति थी, क्योंकि उच्चवर्ग से इनका बौद्धिक स्तर तो ऊंचा था, परन्तु धनाभाव के कारण उच्चवर्ग इन्हे निम्न समझता था। इसलिये उच्चवर्ग के वैभव के प्रति इनमे असन्तोष था और झूठे दिखावे से अपने को भुलावे मे डाले रखना चाहते थे। इनका अह न तो इन्हें निम्नवर्ग से मिलने देता था और न ही यह उच्चवर्ग के सामाजिक स्तर को प्राप्त कर सकते थे। यह वर्ग (मध्यवर्ग) जर्जर, रूढ, प्राचीन परम्परागत जीवन मूल्यों तथा प्रथाओं को कलेजे से चिपकाये रहता था। 'यह वर्ग भूठी मर्यादा का शव कधे पर लादे घूमता है।"[1] दूसरे महायुद्ध के पश्चात् मनुष्य के जीवन म बड़ा परिवर्तन आया। उसके सारे नैतिक मापदण्ड बदलने लगे। आवश्यकताओं के लिये कदम-कदम पर उसे झुकना पड़ा, जिससे वह अपने को असहाय प्रतीत करने लगा। अपनी असमर्थता उसे कुण्ठित करने लगी, वह यह भूलने लगा कि उस विसगति स लडकर जीवन-मूल्यों की स्थापना करनी है। उसकी जीवन की निराशा तथा दुखो की लम्बायमान छाया ने उसकी चेतना को कुण्ठित कर दिया।

भौतिकवादी चेतना के कारण आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करने वाली धुरी अर्थ को महत्त्व दिया जाने लगा, जिसके कारण परम्परित मूल्यो के प्रति अनास्था बढने लगी। त्याग, सेवा, सहिष्णुता, धर्म तथा कर्त्तव्यपरायणता आदि को अर्थ प्रधान सस्कृति ने छिन्न भिन्न कर दिया। परिवर्तित आर्थिक परिवेश के कारण मध्यवर्ग कौटुम्बिक एव सामाजिक मर्यादा, आर्थिक अनिश्चितता की चक्की के दो पाटो म पिसने लगा, पून्जीपति वर्ग पैसे के बल पर अपने

---

१. डा० रामदरस मिश्र-हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, पृ० ५१.

आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता है। निम्नवर्ग की निम्न आर्थिक स्थिति के कारण उसकी आकांक्षाएँ होती ही नहीं। बाकी रहता है मध्य वर्ग, जिसमें विभिन्न आर्थिक स्तरों के लोग होते हैं और उनमें स्वाभाविक ईर्ष्या-द्वेष होता है तथा अर्थाभाव के कारण उनकी आकांक्षाएँ भी अपूर्ण रहती हैं। इस वर्ग के व्यक्ति अपनी ही ग्रन्थियाँ सुलझाने में उलझे रहते हैं और अन्ततः व्यक्तिवादी हो जाते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के समय बंगाल के अकाल तथा सन् १९४७ की क्रांति और देश के विभाजन ने लोगों के जीवन में उथल-पुथल उत्पन्न कर दी, जिससे देशव्यापी दंगे होने लगे। इस राजनीतिक क्षोभ ने जन-जीवन को झकझोर दिया। इसकी भयंकरता विश्व साहित्य में अभिव्यक्त है। १९४७ में भारत-पाकिस्तान को आजादी मिली, परन्तु स्वाधीनता की किरणें जन-मानस को आलोकित न कर सकीं। अनास्था, निराशा, बेरोजगारी की भावना से निराशा छा गई। लेखकों के भी दो वर्ग बन गये *निराशावादी तथा प्रगतिशील। साम्प्रदायिक दंगों,* अकाल, भुखमरी, राजनीतिक दमन आदि के विरुद्ध पहली बार साहित्य ने आवाज उठाई।

डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' में नवीन जीवन-मूल्यों से सामंजस्य न कर पाने के कारण उत्पन्न संघर्ष तथा यथार्थ से टकराने से उत्पन्न कुण्ठा का चित्रण है। यन्त्र-युग से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का मनोवैज्ञानिक अंकन तथा मध्यवर्गीय जीवन का उद्घाटन है। 'रोड़े और पत्थर' उपन्यास में यन्त्र युग की प्रमुख समस्या, जो आवास की है, पर प्रकाश डाला है। मकानों की समस्या ने बड़े शहरों में विकट रूप धारण कर लिया है, जिसने 'पगड़ी' की प्रथा को जन्म दिया। इसी समस्या की पृष्ठभूमि पर मध्यवर्गीय जीवन की विषमताओं और श्रमिकों के चरित्र पर भी प्रकाश डाला गया है। उपन्यास में इन सबकी व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति की गई है।

यन्त्र-युग से जहाँ बेकारी-बेरोजगारी की समस्या सामने आई है, वहाँ लोगों के दृष्टिकोण में भी आमूलचूल परिवर्तन हुआ है। रेलों तथा यातायात के साधनों से लोग एक दूसरे के निकट आये। फैक्ट्रियों में काम करने से खान पान के बन्धन शिथिल हुए और जाति प्रथा, रूढ़िवादिता आदि में भी विस्तृत दृष्टिकोण बनने लगा। पून्जीवाद के कारण शोषित, शोषक दो वर्ग बने, परन्तु शिक्षा के विस्तार के कारण शोषित वर्ग में चेतना आई। यह पून्जीवादी समाज द्वारा लगाये गये बन्धनों, बाधाओं को तोड़कर उन्मुक्त होने के लिये व्यग्र हो उठा, आधुनिक समाज की समस्त सुविधाओं का उपभोग करने के लिये बेचैन हो उठा परन्तु अपने सीमित क्षेत्र तथा आर्थिक विषमता के कारण आधुनिक उपकरणों की सुविधा उसकी पहुँच के बाहर थी, केवल कुछ गिने-चुने लोग, पून्जीवादी दुनिया के मालिक, आधुनिक जीवन के अद्भुत आविष्कारों का उपभोग कर सकते थे। जब जनसाधारण पूरी कशमकश के बाद भी इन उपलब्धियों को प्राप्त न कर पाता तो उसकी वितृष्णा बढ़

जाती, वह इस आर्थिक व्यवस्था मे विद्रोह कर उठता, जिसके फलस्वरूप हमे आज ट्रेड यूनियन मजदूर सघ आदि दिखाई देते हैं और वे हडतालो-अनशनो द्वारा अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिये आन्दोलन करते हैं, क्योंकि कुत्सित तथा आत्मा को गिराने वाले गन्दे घरो, गन्दी बस्तियो मे रहने की कठिनाइयाँ उन्हें बाध्य करती है कि वे भी अपने श्रम का उचित पुरस्कार पाकर स्वस्थ जीवन जी सकें। मानवता के विकास के लिए आर्थिक व्यवस्था की कुरीतिया को दूर करना अपेक्षित है। मानवता की रक्षा हेतु विशाल दृष्टिकोण आवश्यक है। जैसा कि स्तालिन ने कहा था–"मानवता का अभियन्ता बनकर अपने को सार्थक सिद्ध करना आवश्यक है।"

मानव के आर्थिक सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धो को प्रभावित करते हैं, धनाभाव के कारण कई कुरीतिया जन्म लेती हैं जैसे बाल-विवाह, अनमेल विवाह, बहु विवाह आदि। धनाभाव के कारण 'होरी' 'सोना' का विवाह वृद्ध से करता है और कन्या का मूल्य लेता है। आर्थिक विषमता के कारण गोबर को जीविकोपार्जन के लिये शहर जाना पडता है, वहाँ के वातावरण मे वह प्रभावित होता है। आर्थिक परिवेश सामाजिक सम्बन्धों को परिवर्तित करता है। जाति-प्रथा से वर्ग-प्रथा के विकास मे भी आर्थिक स्थिति का महत्त्वपूर्ण हाथ है। आर्थिक विषमताएँ व्यक्ति के विकास मे जब बाधक होती हैं तो वह कुण्ठित, विकृत तथा विद्रोही बन जाता है इसीलिये अमृतलाल नागर अपने उपन्यास 'अमृत और विष' में ऐसे नवयुवक का चित्रण करते हुए लिखते हैं-"मेरे सामने कुण्ठित नौजवान भारत बैठा था, जो बेकार है, दरिद्रता से नफरत करता है, उन्नतिशील जीवन चाहता है और न मिलने पर, दुत्कारे जाने पर अपने कुण्ठित आत्मसम्मान के लिए जीवन सुरक्षा के लिये कितना अविवेकी क्षुद्र और अन्धस्वार्थी हो जाता है। यह अभी अपराधी नहीं विकृत विद्रोही भर है।[1] यन्त्र-युग मे जहाँ भौतिक उपकरणो के कारण कई प्रकार की सुविधाएँ हुई, वहाँ बेकारी-बेरोजगारी बढी। थोडा सा पढ जाने पर व्यक्ति परम्परागत धंधो और बाबूगिरी के लिये नौकरी की तलाश मे भटकने लगा। यदि नौकरी कही मिल गई तो एक दबी घुटी जिन्दगी जीने के लिये बाध्य हुआ, न मिलने पर भटकन और बढी, साथ ही तिक्तता और निराशा भी। परन्तु, यह स्थिति उन लोगो की है जो मध्यवर्गीय झूठी शान-शौकत दिखाते हैं, जो थोडा-सा पढ जाने पर खेती या घरेलू धधो को करने मे अपने हाथ मैले नहीं होने देना चाहते,-न ही अपनी पैन्ट की क्रीज बिगडने देना चाहते हैं।

यन्त्रो के कारण कई प्रकार की सुविधाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। अधिक लोग खेती पर ही निर्भर नहीं रह सकते, जनसख्या की वृद्धि के कारण खेती पर अधिक दबाव नहीं दिया जा सकता, इसलिए कल-कारखानों द्वारा अधिक लोगों को कम स्थान पर धन्धा उपलब्ध हो सका। यन्त्रीकरण से जातीय जीवन मे भी

---

१. अमृतलाल नागर–'अमृत और विष,' पृ० ७००.

दस्तिवार परिवर्तन आया। जहाँ विभिन्न जातियाँ अपनी विभिन्न दस्तकारी हाथ से करती थीं, अब विभिन्न यन्त्र कार्य में लाये जाने लगे। इन यन्त्रों तथा उपकरणों का यह प्रसार हुआ कि जो धन्धे विशेष जाति समूहों के थे, अब समाप्त हो गये। उदाहरणार्थ बाटा कम्पनी ने चमार अथवा रैगर जाति के चमड़े के व्यवसाय को प्रभावित किया। इसी प्रकार नगरों में ड्राइ क्लीनर्स की दुकानों ने धोबियों के व्यवसाय को काफी प्रभावित किया। नगरीय जीवन में यन्त्रीकरण के कारण विभिन्न व्यवसाय जातीय आधार पर सम्पन्न नहीं होते वरन् एक ब्राह्मण भी जूतों की दुकान खोल सकता है। इस प्रकार यन्त्रीकरण ने भारतीय जातीय व्यवस्था में नई क्रान्ति उत्पन्न कर दी है, जो जातीय गतिशीलता का एक उदाहरण है।

यातायात और संचार के द्रुतगामी साधनों ने मानव समाज में एक व्यापक क्रान्ति कर दी है। भाप और विद्युत की शक्ति ने विशाल कल-कारखानों का विकास सम्भव कर दिया। उद्योगों की उन्नति ने प्रसार व साधनों का उत्तम उपयोग सम्भव कर दिया और विशाल जन-समूहों को रोजी प्रदान की है। अधिक मात्रा में उत्पादित वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर गरीबों को भी उपलब्ध होने लगीं, जिससे उनके जीवन स्तर में अप्रत्याशित उन्नति हुई। उद्योगों में यन्त्रीकरण का प्रभाव खेती पर भी पड़ा। खेती में यन्त्रों के प्रयोगों से व्यापारीकरण और औद्योगीकरण की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो गई।

यन्त्रीकरण से सामाजिक परिवर्तनों को गति मिली, जैसे रेडियो, मोटर, साइकिल, घड़ी, ट्रांजिस्टर के उपयोग से उपभोक्ताओं की आदतों और प्रथाओं में परिवर्तन आया। कृषि में यन्त्रों के प्रयोग से कृषक तथा मजदूरों के सम्बन्धों तथा स्वयं कृषक के जीवन स्तर में भी परिवर्तन आया। किसी आविष्कार से उपभोक्ताओं की जो आदतें बदलती हैं, उनसे पुनः अन्य प्रभाव उत्पन्न होता है। जैसे बृहद्‌मात्रा औद्योगिक उत्पादन ने स्थानीय बाजारों को समाप्त कर क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों का विकास किया, जिसका अप्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित अनेक संस्थाएँ तथा प्रथाएँ उत्पन्न हुईं। व्यापारिक बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अनुबन्ध ऐसे ही अप्रत्यक्ष प्रभाव (इंडाइरेक्ट आर डिराइवेटिव इफेक्ट्स) पड़ते हैं। एक अप्रत्यक्ष प्रभाव कई अन्य अप्रत्यक्ष प्रभावों को जन्म देता है। इनका क्षेत्र बहुत विस्तृत और जटिल होता है, उदाहरणार्थ हवाई जहाज के आविष्कार का प्रभाव चौमुखी है। इससे युद्ध, यातायात, प्रकाशन, व्यापार, पर्यटन, औषधि, नक्षत्र विद्या आदि पर विभिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक समाज में यान्त्रिक उन्नति ने जहाँ एक ओर सुख-सुविधा में वृद्धि की है वहीं अपने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभावों से सामाजिक जटिलताओं को भी जन्म दिया है, जिससे आर्थिक विषमताओं में वृद्धि हुई है। यही कारण है कि गांधीजी यन्त्रीकरण

के पक्षपाती नही थे। भौतिक उन्नति से कृत्रिमता का विस्तार होता है, जीवन की शुचिता नष्ट होती है। गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित प्रेमचन्द ने भी इसका (यन्त्रो का) विरोध किया है। 'रगभूमि' मे पाण्डुपुर मे सिगरेट के कारखाने की स्थापना का विरोध किया गया है, क्योकि कारखाने की विदेशी मशीनो के साथ विदेशी सभ्यता भी आयगी। इस विदेशी तथा औद्योगिक सभ्यता से गाव का वातावरण विषाक्त होगा। 'गोदान' मे भी शक्कर मिल के माध्यम से औद्योगिकी के द्वारा शोषित तथा शोषण की समस्या की विवेचना की गई है तथा पूंजीवाद की शोषण-वृत्ति की भर्त्सना की गई है। प्रेमचन्द का 'सूरदास' औद्योगीकरण से सामाजिक जीवन पर किस प्रकार आघात होता है, उसका वर्णन करते हुए साहब से कहता है—"पहले शराबियो का ऐसा हुल्लड नही था, मजूर लोग जब तक काम पर नहीं आते, औरतें घरों से पानी भरने नही निकलती।"[1] ये असामाजिक तत्त्व औद्योगीकरण के कारण ही उत्पन्न हुए। इसी से वह चाहता है कि मजदूरों के लिए घर भी पुतलीघर के के निकट बनाये जाएँ, ताकि वह सारे गाव मे न फैले और गाव मे जिससे अवाछित स्थिति न उत्पन्न हो। यह सत्य है कि औद्योगीकरण से असामाजिक तत्त्वो को अधिक प्रोत्साहन मिला है। मशीनों से काम करते-करते व्यक्ति स्वय भी नीरस-शुष्क हो जाता है। अपनी बोरियत मिटाने के लिये वह शराब का सहारा लेता है। आय का बहुत सा भाग उसी मे चला जाता है। घर मे खाने को न होने से बीबी बच्चों पर बरसता रहता है, आर्थिक सकट से सदा ग्रस्त रहता है, बीमारी आदि मे काम पर न जाने पर मजदूरी नही मिलती, दवा आदि के पैसे न होने पर इलाज नहीं करा पाता शीघ्र काम पर न जाने पर नौकरी छूट जाती है और बेकारी-बीमारी के बोझ से दबा वह कभी-कभी चोरी करने तक बाध्य हो जाता है। यह एक दूषित-चक्र (वीशस सर्किल) है, जिससे वह निकल नहीं पाता।

औद्योगीकरण की असगतियो के कारण ही गांधीजी गृह-उद्योगो को प्रोत्साहन देना चाहते थे और प्रेमचन्दजी भी गृह-उद्योगो के पक्ष में थे।

यह सत्य है कि यन्त्र-युग से कई प्रकार की असगतियाँ उत्पन्न हुईं, परन्तु साथ ही कई संस्थाओं का भी सुरक्षा हेतु जन्म हुआ। मजदूरों के लिये ट्रेड यूनियन बनी, औद्योगिक अधिनियम बनाये गये। इतिहास की सदैव यह पुनरावृत्ति होती है कि जब दुर्बल वर्ग अत्याचार और अन्याय से आक्रान्त रहता है, उस समय विद्रोह की आवाज बुलन्द होती है और अभिप्सा पूर्ति तक जूझती रहती है। यही कारण है कि यत्र युग की केवल असगतियाँ ही नही हैं, इनने लोगों मे एक चेतना भी जागृत की है। मानव अपने अधिकारों के प्रति, अपने परिवेश के प्रति सजग है। आज व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से सोचने लगा है। वह स्वय के विलास

---

१. प्रेमचन्द–'रगभूमि' (भाग १), पृ० १६८.

के लिये प्रयत्नशील हुआ, जबकि पहले वह परिवार के दृष्टिकोण से सोचता था। समाज और व्यक्ति के संघर्ष के साथ-साथ व्यक्ति और व्यक्तित्व का संघर्ष भी प्रबल हुआ। यन्त्रयुग की यह एक उपलब्धि है कि व्यक्ति स्वावलम्बी होता जा रहा है। वह मशीनों पर तो अवश्य आश्रित है, पर मानव-शक्ति (मैनपावर) पर अधिक आश्रित नहीं है॥

परिवर्तित आर्थिक परिवेश ने मनुष्य के समक्ष अनेक आयामों को खोला है। पहले पुरुष वर्ग ही जीविकोपार्जन का कार्य करता था, केवल खेती में स्त्रियाँ हाथ बटाती थीं, परन्तु अर्थाभाव से जर्जर स्थिति को सम्भालने के लिये वह भी देहरी की दुनिया लाँघ कर संसार के उन्मुक्त प्रांगण में प्रवेश करने लगी और कभी कभी भौतिक सुखों की अदम्य लालसा तथा समाज में विशिष्ट पद-प्राप्ति की आकांक्षा भी उन्हें अर्थोपार्जन के लिये प्रेरित करने लगी। यन्त्रयुग की अर्थ-व्यवस्था ने नारी के कार्यक्षेत्र को विस्तृत बना दिया। वैज्ञानिक उपकरणों की सुविधा के कारण अब उसे सारा समय चूल्हा फूंकने में ही नहीं काटना पड़ता। शिक्षा के कारण अब वह अपने खाली समय का महत्व समझने लगी। वह घरेलू कार्यों के अतिरिक्त अन्य सामाजिक, राजनीतिक कार्यों में भी योगदान करने लगी। परन्तु, उसके परिवर्तित और परिवर्धित कार्यक्षेत्र ने उसके समक्ष अनेक समस्याएँ उपस्थित कर दी, जिन्हें हम जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुखदा' में देख सकते हैं जिसमें शरद बाबू की भांति 'घरे बाहेरे' का द्वन्द्व है। 'सुखदा' के राजनीतिक जीवन से पारिवारिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है, जिससे उसे (सुखदा को) ग्लानि तथा पश्चात्ताप होता है। वह आत्मपीड़ा की अग्नि में जलती रहती है और एक दिन उसी से उसके एकाकी दुःखद जीवन का अन्त हो जाता है।

यन्त्रयुग की सुविधाओं ने नारी को आर्थिक क्षेत्र में स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया। अमृतलाल नागर का मत है कि नारी को आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होना चाहिये। उन्होंने अपने उपन्यास बूंद और समुद्र में डा० शीला स्विंग के माध्यम से यही अभिव्यक्त किया है। उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' की रत्ना नर्स बन जाती है, यह किसी पर निर्भर नहीं रहना चाहती। रेणु के 'मैला आंचल' की ममता सफल डाक्टर है तथा इन्हीं के उपन्यास 'जलूस' की पवित्रा शरणार्थियों के कैम्प में रह कर कार्य करती है। राजेन्द्र यादव के उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' की जया मानती है कि स्त्री को आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होना चाहिये।

, शिक्षा, यातायात की सुविधा के कारण जाती-पाति के भेद शिथिल हुए तथा जीविकोपार्जन के लिये कई क्षेत्रों में कार्य करने की सुविधा मिली। लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। सामन्त-कालीन विचारधारा के स्थान पर सहअस्तित्व की भावना पनपने लगी। नारी को भी 'सूर्यम्पश्या' के स्थान पर विश्वमंच पर आने की सुविधा मिली। मोहन राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बन्द कमरे' की नायिका नीलिमा जिस प्रकार खा-पीकर तथा घूम कर सतुष्ट नहीं, घरेलू जिन्दगी जीना उसका

अभीप्सित नहीं– पति के लिये एक चीज बन कर रहना उसे असह्य है' [1], उसी प्रकार आधुनिक युग की नारी घर की चारदीवारी तक ही अपने को सीमित नहीं रखना चाहती। वह भी डाक्टर, वकील वैज्ञानिक, शिक्षक आदि रूपों में अपनी योग्यता को मुखरित करना चाहती है। इसी समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर सम्बन्धों की विविधता को उपन्यासकारों ने चित्रित किया है। आध्यात्मिक चिन्तनधारा को विज्ञान ने नया मोड़ दिया। व्यक्ति बुद्धि और तर्क के द्वारा कार्य करने लगा, जिससे रूढ़िगत अंधविश्वासों का तिरस्कार करने लगा। भौतिकवादी दृष्टिकोण ने मानव को अधिक महत्व दिया और धर्म का ह्रासक्षण गौण होने लगा। मानव के विकास में आने वाले अवरोधों परम्पराओं, मान्यताओं आदि का उसने विरोध किया। विज्ञान के बढ़ते चरण के फलस्वरूप प्राचीन मूल्यों के बहिष्कार की प्रकृति और नवीन मूल्यों के अभाव ने व्यक्ति को आस्थाहीन बना दिया। सामाजिक और आर्थिक संघर्ष से ग्रसित मध्यवर्ग सबसे अधिक त्रस्त और क्षुब्ध हो उठा था। "अतः नैतिक मूल्यों एवं जीवनगत आदर्शों के प्रति सबसे अधिक आस्थाहीन यही वर्ग था। बाह्य संघर्ष में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये अवसरवादिता, उसका व्यवहारिक आदर्श बन गया तथा परिस्थितियाँ ही विश्व की संचालक शक्ति है, इसे उसने दर्शन मान लिया।'[2]

अन्य देशों से प्रभावित उपन्यासकारों ने धर्म, रूढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासों के स्थान पर व्यक्ति की लौकिक मान्यता पर बल दिया। मनुष्य के मनोभावों का ऐसा ही विश्लेषण किया जाने लगा जैसा वैज्ञानिक किसी जीव जन्तु या पत्ते-पुष्प का डिसेक्शन करते समय करता है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को अपार सुविधाएँ प्रदान की। नर-नारी के सबंधों में नैतिकतावादी मान्यताएँ परिवर्तित होने लगी। आविष्कारों के द्वारा यौन सम्बन्धों में स्वच्छन्दता आने लगी। भ्रूण हत्या आदि के पीछे जो ईश्वरीय भय था, उसका लोप होने लगा। संस्थाओं के प्रति अनास्था की भावना बढ़ने लगी। ईश्वर और धर्म के स्थान पर मानव और अर्थ को महत्त्व दिया जाने लगा। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध अधिक उन्मुक्त और स्वच्छन्द हो गये। 'दादा कामरेड' की शैल को शरीर पर किसी का एकाधिकार मान्य नहीं। 'क्या संसार भर की अच्छाई एक ही व्यक्ति में समा सकती है? और जगह दिखाई देने पर अच्छाई को कैसे इन्कार किया जा सकता है? क्या मनुष्य के हृदय का स्नेह केवल एक ही व्यक्ति पर समाप्त हो जाना जरूरी है।' [3] शैल मन की अपवित्रता को अनैतिक मानती है, शरीर की नहीं। मोहन राकेश के उपन्यास 'बैसाखियों वाली इमारत' की मिस जायस को भी माँ बनने से घृणा है, वह उन्मुक्त विहार को ही महत्त्व देती है। नरेश मेहता के 'दो एकान्त' की वानीरा पति की अप्रत्याशित कार्य संलग्नता से ऊब जाती है। दोनों साथ रहते हुए भी एक दूसरे से कोसों दूर हैं।

---

१. मोहन राकेश–'अँधेरे बन्द कमरे', पृ० ५११.
२. डा० चण्डीप्रसाद जोशी–'हिन्दी उपन्यास समाज[illegible]ीय अध्ययन, पृ० ४१५
३. यशपाल–'दादा कामरेड', पृ० ६६ (? [illegible] स्करण).

इस नितान्त एकान्तता को वह मिस्टर क्लाइड और मेजर आनन्द से दूर करने का प्रयास करती है। 'नदी के द्वीप' की रेखा-भुवन एक-दूसरे के निकट आते हैं, रेखा गर्भवती होती है, फिर भी उससे विवाह नहीं करती और गर्भपात करके अन्य व्यक्ति से विवाह कर लेती है। ऐसे कई नारी-पात्रों का उपन्यासकारों ने चित्रण किया है, जो गर्भपात करा कर फिर स्वतन्त्र हो जाती हैं। रमेश बक्षी के 'बस्ते ऊपर किस्सा' नामक उपन्यास में कई स्त्री-पात्र हैं, जो कामेच्छा से प्रेरित हो कर पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। विवाह उनके लिये नाटक जैसी फार्मेलिटी है।[1]

वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने आपसी सम्बन्धों की निर्धारित दूरी को समाप्त कर दिया है। पवित्रता, सतीत्व आदि आग्रहों के स्थान पर सहज सम्बन्धों को अभिव्यक्ति दी जाने लगी है। मातृत्व के भय को वैज्ञानिक उपकरणों ने भी काफी सीमा तक नियमित कर दिया है। विज्ञान ने जहाँ गृह कार्यों में सुविधाएं दी समय की बचत होने लगी, समय का उचित उपयोग करने की सुविधा दी, शिक्षा ने दृष्टिकोण को विस्तृत किया, मानसिक विकास में सहायता दी, आर्थिक स्वावलम्बन दिया, वहाँ पारिवारिक संस्था, वैवाहिक संस्था तथा धर्म आदि की मान्यता पर गहरा प्रहार किया, जिससे प्राचीन मान्यताओं में अभूतपूर्व परिवर्तन आया।

राजकमल चौधरी के 'नदी बहती थी' उपन्यास में परिलक्षित है कि मशीनी-युग में पैसे के लिये तन-मन सब कुछ बिकता है। मनुष्य की दृष्टि व्यवसायिक हो गई है। वह हर सौदे में लाभ-हानि देखने लगा है। आर्थिक सुरक्षा प्रमुख है। मानवोचित गुणों की अपेक्षा अर्थ-सम्पन्न होने के कारण व्यक्ति अपने को बाँधना नहीं चाहता। वह आज अपने को परिवार समुदाय के घेरे में नहीं बाँधना चाहता। आज प्राथमिक समूह (प्राइमरी ग्रुप्स) टूट रहे हैं समुदाय (कम्युनिटी) टूट रहे हैं, परन्तु इनके स्थान विश्व समुदाय (वर्ल्ड कम्युनिटी) पनप रहे हैं। व्यक्ति अपने छोटे दायरे से बाहर आकर केवल परिवार गाँव आदि तक ही सीमित नहीं रहा, वह राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय को समुदाय के रूप में मानने लगा है। यह यन्त्र-युग का प्रभाव है जिसने मानव को यातायात की सुविधा तथा शिक्षा शक्ति के द्वारा उसके विचार तथा दृष्टिकोण को विस्तृत किया, साथ ही उनमें स्वावलम्बन की भावनाओं को प्रभावित किया।

(ख) स्वावलम्बन की चेतना

यान्त्रिक सुविधाओं के पूर्व, सभी काम हाथ से करने पड़ते थे। व्यक्ति सभी काम स्वयं नहीं कर सकता, इसलिये मिलकर काम करते थे। खेती के लिये तो विशेषतः अधिक व्यक्तियों की ज़रूरत होती थी। औरतें भी घर के काम के अतिरिक्त खेती के काम में हाथ बटाती थीं अब ट्रैक्टर, सोइंग मशीन, धान काटने की कटिंग

---

1. रमेश बक्षी—'किस्से ऊपर किस्सा'। पृ० १२.

मशान आदि से खनी का काम सुगम हो गया है। रेहट के स्थान पर पम्पिंग सैट लग गये हैं। खेती में इन सबसे समय की बचत होती। औरतों को भी अधिक खाली समय मिलता है साथ ही यान्त्रिक सुविधाओं से यह आवश्यक नहीं रह गया कि परिवार के काम में हाथ बटाने के लिए अधिक से अधिक सदस्य हों। इससे संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवारों की वृद्धि हुई। शहरों में मध्यवर्गीय परिवारों के पास भी गैस कूकर हीटर आदि मिल जायगे जिससे गृहणी के श्रम और समय का बचत होती है। वह अपने फालतू समय में कोई भी कार्य करके धनोपार्जन कर सकती है और अपने इस योगदान से अपने को दूसरों के आश्रित नहीं समझगी। उसके व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता है इसका भान अब नारी को होने लगा है। सदियों से रोटी कपड़े के लिये दूसरों की दया पर आश्रित नारी अपने को बोझ न समझ कर सहयोगी के रूप में समझने लगी है। उसमें स्वावलम्बन की भावना जाग्रत होने लगी है।

पारिवारिक आकार भी यान्त्रिक विस्तार से छोटा होता जा रहा है। कृषि पर अधिक लोग निर्भर नहीं रह सकते इसलिये वह मजदूरी तथा नौकरी की खोज में बाहर आने लगे जिससे नगरीकरण की समस्या आवास की समस्या उत्पन्न हुई। शहरों में विभिन्न प्रान्तों के लोग साथ मिलकर काम करते हैं, इसलिये धार्मिक कठोरता में भी शिथिलता आ गई। विवाह भी जातिगत अनुबन्धन न रह कर अन्तर्जातीय होने लगे जिससे विवाह की संस्था पर भी प्रभाव पड़ा। घर से बाहर कार्य करने तथा अधिकाधिक पुरुषों के सम्पर्क में आने से नारी के व्यवहार में उन्मुक्तता तथा खुलापन आया। वर्षों से दबी, सहमी नारी में स्वावलम्बी भावना की जागृति हुई। विवाह एक आर्थिक संरक्षण नहीं रह गया, इसलिए 'बमासियो वा नी इमारत' उपन्यास की पत्नी, पति की हर बेजा हरकत को सहने के लिए तैयार नहीं और उसके बनावटी अनुरोध को ठुकरा कर चली जाती है।

नारी की समाज में स्थिति सदा एक सी नहीं रही। आदि युग से आज तक नारी जीवन कई आयामों में परिलक्षित होता है। प्रत्येक युग में नर-नारी की सामाजिक स्थिति उनके आदर्शों तथा सामाजिक योगदान जिसे समाजशास्त्रीय रोल-प्लेइंग कहते हैं, के अनुरूप निर्धारित होती है। समय के साथ मूल्यों में परिवर्तन आता है इसीलिए नर-नारी की सामाजिक स्थितियों में भी परिवर्तन होता रहा।

प्रागैतिहासिक काल में मातसत्तात्मक समाज था जिसमें माता का स्थान सर्वोपरि माना जाता था। आखेट युग में पुरुष बाहरी कार्यों में रत रहते तथा बाह्य आक्रमणों से परिवार की रक्षा करते थे। शारीरिक रूप से निर्बल होने तथा आपन्न प्रसवा होने के कारण स्त्री को घर पर ही रहना पड़ता था, बच्चों की देख भाल करनी पड़ती थी इसलिए धीरे धीरे वह गृहस्थी के कार्यों तक ही सीमित होती गई और बाहरी कार्य पुरुष करने लगे। आर्थिक सत्ता पुरुष के पास आ गई

और वह शक्तिशाली हो गया। परन्तु वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान थी। उन्हें शिक्षा, विवाह सम्पत्ति आदि में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। पी० एच० प्रभु के अनुसार "जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था स्त्री पुरुष में कोई भेद नहीं था।"[1] साहित्य के क्षेत्र में भी कुछ महिलाओं का विशिष्ट स्थान था। शास्त्रार्थ में वह पुरुषों के साथ भाग लेती थी।

विवाहोपरान्त पत्नी के रूप में भी स्त्री की स्थिति उच्च थी। ऋग्वेद में पत्नी ही घर है कहा गया था।[2] कोई भी कार्य पत्नी की राय के बिना नहीं होता था। कोई भी यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं माना जाता था। राम को भी अश्वमेध यज्ञ के लिये सीता की सोने की प्रतिमा बनवानी पड़ी थी। स्त्रियाँ सामाजिक जीवन में भाग लेती थीं। पर्दा प्रथा नहीं थी विधवा का पुनर्विवाह मान्य था। वैदिक युग में पितृसत्तात्मक समाज होने पर भी स्त्रियों की स्थिति ऊँची थी।[4]

उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत निम्न हो गई। उन्हें सभी प्रकार से सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। बाल-विवाह का धर्म-सूत्रों में निर्देशन किया गया, धार्मिक कर्मकाण्ड इतने जटिल हो गये कि स्त्रियों को यज्ञ क्रियाओं में साथ नहीं बैठाया जाता था वेदों के अध्ययन की सुविधा नहीं दी जाती थी, इससे वे अशिक्षित होती चली गई विवाह में भी उनकी कोई राय नहीं ली जाती थी। विधवा विवाह को मान्यता नहीं दी जाती थी। पत्नी के रूप में वे केवल दासी मात्र रह गईं और बहु-पत्नी प्रथा का प्रचलन उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। पहले वैदिक-काल में स्त्री को घर की साम्राज्ञी कहा जाता था, परन्तु अब वह केवल पति के इशारों पर नाचने वाली दासी तथा कठपुतली के अतिरिक्त कुछ नहीं थी। मनुस्मृति में कहा गया है– 'स्त्री कभी भी स्वाधीन नहीं है। बचपन में पिता के संरक्षण में रहे, फिर पति और पुत्र के। वह कभी भी स्वतन्त्र न रहे।'[5] मनुस्मृति में सभी प्रतिबन्ध नारी के लिये ही निर्धारित किये गये हैं, पति चाहे कुमार्गी दुराचारी, अत्याचारी ही क्यों न हो, स्त्री को उसे मान्यता देनी ही होगी। इन धर्म-शास्त्रों ने भी स्त्री की मूक बलि चाही। पुरुष के लिये कहीं कोई विधान नहीं है कि वह स्त्री के सद्अस्तित्व को महत्त्व दे। पुरुष, पत्नी की चिता अभी ठंडी भी नहीं होती कि अन्य विवाह कर सकता है, परन्तु नारी को पति की मृत्यु के बाद भी उसी के नाम पर जीवित रहने का आदेश दिया जाता है। स्त्रियों के समस्त अधिकारों का हनन कर उन्हें जन्म से मृत्यु तक पुरुष के अधीन कर दिया। "समाज ने

---

१. पी० एच० प्रभु हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, पृ० २२८.

२. ए० एस० अल्टेकर–दी पोजीशन आव् विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० १०.

३. वही, पृ० ६३–६४.

४ नीरा देसाई–वीमेन इन माडर्न इण्डिया, पृ० १२.

५. मनुस्मृति, पंचम अध्याय, ४८वां श्लोक, पृ० १७४.

सारी जिम्मेदारी स्त्रियो के सिर पर पटक दी है । ऐसा मालूम होता है कि सारे बन्धन स्त्रियों के लिये ही है।' [१] "स्त्री की जरा-सी भूल का भी समाज सहन नहीं करता। स्त्री से जरा-सी गलती हुई कि उसे हिन्दू समाज ने बहिष्कृत किया।"[२]

१६वी शताब्दी के अन्त तक भारत की नारी की स्थिति बडी शोचनीय थी। उसे कबीर, तुलसी जैसे सन्तो ने भी नरक-द्वार तथा शूद्र और पशु के समान माना और समाज उस मौतदामी और उपभोग की वस्तु मानता था। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व तक भारतीय नारी अशिक्षित, शोषित, रूढिग्रस्त तथा सामाजिक-राजनीतिक अधिकारो से विहीन थी। पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति ने भारतीयों के दृष्टिकोण को प्रभावित किया, पाश्चात्य नारी के स्वावलम्बी जीवन से भारतीय शिक्षित वर्ग प्रभावित हुआ और सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की दयनीय दशा मे सुधार लाने का प्रयास किया और सती प्रथा को समाप्त करने का भगीरथ प्रयास किया। स्वामी दयानन्द ने बाल विवाह पर रोक लगाने के लिय तथा उन्हें शिक्षित करने के लिये प्रयास किया। 'वे विवाह पद्धति में लडकी द्वारा स्वय पति को चुनना सबसे अच्छा मानते थे तथा लडकियों की शिक्षा के पक्षधर थे और उनका विचार था कि १६ वर्ष तक लडकियों को शिक्षा दी जानी चाहिये।"[3] उन्होंने विधवाओं के लिये आश्रम खोले तथा नारी-शिक्षण पर बल दिया, जिससे वह ऊँची शिक्षा प्राप्त करने लगी। दूसरी ओर बगाल मे रामकृष्ण परमहन्स ने भी धार्मिक और सामाजिक पुनरुत्थान किया, हिन्दू धर्म के आडम्बर की बखिया उधेडी। रामकृष्ण मिशन ने विधवा आश्रम खोले, गावों मे सुधार किये, शिक्षा का विस्तार किया मद्रास मे शारदा विद्यालय और निवेदिता गर्ल्स स्कूल खोले तथा कलकत्ता मे शारदा मन्दिर आदि खोले।[४] स्वामी विवेकानन्द भी स्त्रियों की स्वतन्त्रता तथा शिक्षा के पक्षपाती थे, जिससे वह अपनी समस्याओ को सुलझाने मे समर्थ हो सके।

१८८५ई० मे कांग्रेस की स्थापना के बाद स्त्रियों के उत्थान के लिए भी चेष्टा, कांग्रेसी नेताओं द्वारा की जाने लगी और राजनीतिक आन्दोलन म स्त्रियो के प्रवेश का समर्थन किया गया। लाला लाजपत राय ने कहा—"स्त्रियों का प्रश्न पुरुषों का प्रश्न है क्योंकि दोनो का एक दूसरे पर असर पडता है।"[५] गाँधीजी ने कहा—'स्त्री पुरुष की सहगामिनी है। वह बुद्धि मे पुरुष से तुच्छ नहीं है। उसे पुरुष के छोटे-छोटे कामों में भाग लेने का अधिकार है। उसे पुरुषों की भाति स्वाधीनता और स्वतन्त्रता पाने का

१. शिवरानी प्रेमचन्द–'प्रेमचन्द घर मे', पृ० ६७.
२. वही, पृ० ११४.
३ नीरा देसाई–'वोमेन इन इण्डिया', पृ० १०६.
४. वही, पृ० ११६
५ डा० शैलकुमारी—आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी—भावना, पृ० ४१.

अधिकार है।"[1] देश-सेवा के समय, गांधी जी के नेतृत्व में, स्त्रियाँ सदियों के बन्धनों को तोड़कर पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाने लगीं, जेल की सजायें भुगतने लगीं, देश पर समर्पित हो गईं। सरोजनी नायडू, कमला देवी चट्टोपाध्याय, कस्तूरबा गांधी, मीरा बेन, विजयलक्ष्मी पंडित आदि नारियों ने अपने अदम्य साहस का परिचय दिया।

१९१७ ई० में मद्रास में डा० एनी बेसेंट के सभापतित्व में महिलाओं की भारतीय समिति की स्थापना हुई तथा कई अन्य संघ, जैसे पूना सेवा सदन, भारतीय स्त्री मण्डल आदि, की स्थापना हुई, परन्तु इन सबों ने साथ मिलकर कार्य करने के लिए १९२७ में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की स्थापना की, जिसका ध्येय बाल-विवाह, दहेज आदि सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करना और स्त्रियों को समान अधिकार दिलाना, स्त्री-शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और विश्वशान्ति के लिये कार्य करना था। इसके अतिरिक्त 'महिलाओं की राष्ट्रीय समिति', 'ईसाई नवयुवती समिति' (वाई० एम० सी०), 'कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक समिति' आदि अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाले संगठनों ने न केवल शहरों में ही, बल्कि गांवों में भी, स्त्रियों के स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कल्याण के कार्य किए। स्त्रियों की जागरूकता ने उन्हें सामाजिक-राजनीतिक अधिकार प्रदान किये और १९३७ के चुनाव में विभिन्न सभाओं में स्त्रियों के लिए ४१ सीट सुरक्षित थी और सन् १९३८ में श्रीमती राधाबाई ने राष्ट्रीय आन्दोलन' में सहयोग दिया और परम्परागत निषेधों को तोड़कर वह राष्ट्रीय संग्राम में कूद पड़ीं। यह अपूर्व घटना थी और आज स्वतन्त्र भारत में स्त्रियाँ सामाजिक-राजनीतिक कई महत्वपूर्ण पदों पर आसीन हो, अपनी कुशलता का परिचय दे रही हैं।

अत: पाश्चात्य शिक्षा, राष्ट्रीयता की भावना, समाज-सुधार आन्दोलनों से नारी-वर्ग में चेतना का संचार हुआ और उनकी सामाजिक, पारिवारिक तथा राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन आया। वह अपने परम्परागत संकुचित परिवेश को लांघ कर विस्तृत प्रांगण में प्रविष्ट होने लगी। पुरुष के कंधे से कंधा मिला कर चलने की क्षमता के कारण वह स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान देने लगी। गांधीजी का ध्येय स्वतंत्रताप्राप्ति के साथ स्त्रियों की स्थिति में सुधार करना भी था। वे पर्दा-प्रथा के सख्त विरोधी थे। सन् १९५० में भारतीय संविधान में स्त्रियों तथा पुरुषों को समान नागरिक अधिकार प्राप्त हैं।

स्त्रियों को आज सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं। १९३७ के 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार, नियम के द्वारा विधवा को पुत्रों के समान ही पति

---

१. डा० शैलकुमारी—आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना, पृ० ४१.

को सम्पत्ति मे अधिकार प्राप्त है ।[1] और १९५६ के 'हिन्दू उत्तराधिकार नियम' के अनुसार स्त्री को पुरुष के अनुरूप ही सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं।

भारतीय महिलाओं के नागरिक अधिकारों की प्राप्ति मे अरुणा आसफअली के प्रयास सराहनीय हैं। महिलाओं के संगठित आन्दोलनों ने उन्हें सामाजिक अधिकार दिलाये। बाल-विवाह, विवाह-विच्छेद, बहु-पत्नी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी इन कुप्रथाओं को दूर करने का प्रयास किया। गाँधीजी के आह्वान पर महिलाओं के देश की उन्नति में सहयोग देने से स्त्रियों में आत्मविश्वास दृढ़ता और साहस का उद्रेक हुआ, उनके समक्ष जीवन के नये-नये क्षेत्र खुल गये।"[2] नारी अपने पाँव पर खड़ी होने का प्रयास करने लगी। पुरुष की दासता से मुक्त होने के लिए आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने का प्रयास करने लगी। शिक्षा के द्वारा उसमें चेतना जागृत हुई।

छापे की सुविधा के कारण साहित्यकारों का परस्पर सम्बन्ध बढ़ा। अंग्रेजी, रूसी, जर्मन भाषाओं के लेखकों का हिन्दी-साहित्यकारों पर प्रभाव पड़ा। आस्टीन, डी. एच. लारेंस टालस्टाय, गोर्की, जोला, मोपासा आदि से साधारण जनता प्रभावित हुई। विदेशों में नारी की स्थिति से भारतीय नारी ने भी प्रेरणा ली। वह भी रूढ़ियों की शृंखला को तोड़कर पुरुष की समकक्षता प्राप्त करने की चेष्टा करने लगी। पहले उसका सारा समय परिवार की देख-भाल में कटता था, अब वह परिवार के साथ समाज और राष्ट्र के कार्यों में संलग्न रहने लगी। यह सत्य है कि घर की देहरी लाँघने पर इसके समक्ष द्विमुखी क्षेत्रों की समस्याएँ उत्पन्न हो गई, जिसमें वह अपनी दक्षता से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करती है। जीवन और जगत के प्रति नारी आज जितनी जागरूक है उतनी पहले कभी नहीं थी। सभी सामाजिक क्षेत्रों मे वह विभिन्न पदों पर कार्यरत है। चिकित्सक, अध्यापिका, समाज सेविका, वकील, प्राइवेट सेक्रेटरी आदि पदों पर बड़ी दक्षता से कार्य कर रही है। यशपाल का मत है– "स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता स्त्री का मानवीय अधिकार है।"[3] युगों की दासता की मुक्ति का एकमात्र साधन आर्थिक आत्मनिर्भरता है। आर्थिक रूप से पुरुष पर निर्भर स्त्री की सामाजिक स्थिति सदैव हेय रहेगी। पूंजीवादी मनोवृत्ति स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता का विरोध करके स्त्री को अपने भोग की वस्तु बनाये रखना चाहती है।"[4] यशपाल, स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता स्वावलम्बन के लिये आवश्यक मानते हैं। "नारी की आर्थिक परिस्थिति उसे विवश बना देती है। उसे

---

१. नीरा देसाई–'वोमेन इन माडर्न इण्डिया, पृ० २८५.
२ वही, पृ० १४१.
३. यशपाल–बात बात में बात, पृ० ६१.
४. वही, पृ० ६२.

प्रारम्भ से ही हीन परिस्थितियों में पड़ कर दूसरों के भरोसे रहना पड़ता है।"[1] यशपाल के 'भूठा सच' के नारी-पात्र अपनी स्वतन्त्र सत्ता के लिये प्रयत्नशील है। तारा अण्डर-सेक्रेटरी है. कनक सम्पादन-कार्य करती है। यशपाल के नारी-पात्रों की सीमा चूल्हे-चौके तक ही नहीं है, वे पात्रों को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिये विस्तृत क्षेत्र प्रदान करते हैं।

इलाचन्द्र जोशी के नारी-पात्रों का भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। उनमें स्वावलम्बन की भावना प्रबल है। 'सन्यासी' उपन्यास की छाया तथा 'प्रेत और छाया' की मंजरी की यह भावना है कि जब तक वह दूसरों पर आश्रित है, वह अपने लिये कुछ सोच ही नहीं सकती। यशपाल का कथन है-"पति के शरीर और उसके घर की व्यवस्था बनाये रखने के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी स्त्री का जीवन इस से परे है ही क्या ?"[2] अभिजात्यवर्गीय नारी की स्थिति का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं-'वह पुरुष के मन बहलाव और सन्तान प्रसव के अतिरिक्त कुछ नहीं करती। अमीर लोग इन्हें बैठा बैठा कर अपने शौक और शान के लिए खिलाया करते हैं जैसे तोता, मैना या गोद के पालतू कुत्ते को खिलाया जाता है ... वह समाज का बोझ है, इसलिए पुरुष की कृपा पर निर्भर है। उसकी गुलामी करती है। इस समाज की स्त्रियाँ यदि बहुधा हाथ में छतरी लेकर मनमानी साड़ियाँ और जेवर खरीदने की स्वतन्त्रता पा जाती हैं तो अपने आपको स्वतन्त्र समझती हैं।"[3] पुरुष पर निर्भर ऐसी स्त्रियों को यशपाल परतन्त्र मानते हैं, उनमें स्वावलम्बन की भावना नहीं होती।

'मनुष्य के रूप' में उपन्यास में आर्थिक परतन्त्रता, सोमा को बार-बार आत्म समर्पण करने के लिए बाध्य करती है, परन्तु वह निरन्तर संघर्ष के पश्चात् अन्त में अपने पाँव पर खड़ी हो जाती है। डा० चण्डीप्रसाद के अनुसार कूड़े से उठाया हुआ नारी चरित्र सदन अभिनेत्री के रूप में सामने आता है। इलाचन्द्र जोशी के नारी-पात्र स्वेच्छाचारी पुरुष वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग, दोनों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। सन्यासी' की शान्ति तथा 'प्रेत और छाया' की मंजरी का स्वतन्त्र अस्तित्व है। एक अध्यापिका और दूसरी डाक्टर बन कर जीवन निर्वाह करती है। मंजरी विलासप्रधानी प्रेमी पारसनाथ को अन्त में कहती है "युगों से दलित नारी जाति आज तक अपनी छायात्मकता के भीतर भी शक्ति का जो महाबीज सुरक्षित रख हुए थी, उसके विस्फोट को दबाने की समर्थता अब ब्रह्मा में भी नहीं रही है।"[4] 'मुक्ति पथ' की सुनन्दा राजीव के सम्पर्क से प्रभावित होकर परावलम्बी जीवन के बन्धन तोड़

---

१. सुषमा धवन हिन्दी उपन्यास, पृ० ३०१
२. यशपाल—'दादा कामरेड', पृ० २१
३. वही, पृ० ६०-६१.
४. इलाचन्द्र जोशी —'प्रेत और छाया', पृ० ४१८.

देती है और अन्त में विश्व कल्याण कारी कार्यों में संलग्न हो जाती है। वह समस्त नारी जाति की मुक्ति का बीड़ा उठाती है।[१] 'जहाज का पंछी' में जोशी जी लिखते हैं कि आज नारी जाति की अन्तरात्मा में यह मंत्र फूंकने की आवश्यकता आ पड़ी है कि वह अपने भीतर की आदम शक्ति को जगा कर संसार की सारी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के मूल सूत्र को अपने हाथों ले ले।[२] जोशी जी नारी को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र देखना चाहते हैं। जिप्सी' की मनिया को रंजन का वैभव बांध नहीं पाता, उसे अपने पिछले उन्मुक्त जीवन की सदा याद आती है। पति के स्वेच्छाचारी व्यवहार के कारण वह पति का परित्याग कर देती है और नर्स बन कर रोगियों की सेवा करती है।

अमृतलाल नागर भी नारी का आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना आवश्यक मानते हैं। 'बूंद और समुद्र' की वनकन्या कहती है — "स्त्री और पुरुष आमतौर से एक दूसरे की इज्जत नहीं करते, क्योंकि स्त्री आमतौर से आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर आश्रित रहती है, उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं है"[३] वनकन्या नारी को चूल्हे-चक्की के सीमित दायरे से निकाल विश्व के विशाल प्रांगण में आने के लिये प्रोत्साहन देती है। शीला स्विंग भी डाक्टरी करके आत्मनिर्भर तो है ही, साथ ही समाज की सेवा के लिये मुफ्त इलाज भी करती है।

आधुनिक नारी आर्थिक दासता के कारण पुरुष के स्वेच्छाचारी व्यवहार को सहन नहीं करती। 'अमृत और विष' की सुमित्रा सिलाई के स्कूल में काम करके जीवन-निर्वाह करती है — वह कहती है 'अब जमाना बदल गया है, बड़े बड़ों की बहू-बेटियां पढ़ लिख कर दफ्तरों में काम करती हैं।[४] पुरुष स्त्री का भरण-पोषण करता है, इसीलिये उसे बोझा समझा जाता है। नारी जब स्वयं अपना भार वहन करने लगती है तो पुरुष के शासन को स्वीकार नहीं करती।

रेणु के 'मैला आंचल' की डा० ममता भी मानवोचित गुणों से ओतप्रोत है, जिसका कार्य-क्षेत्र झोंपड़ियों से लेकर गवर्नमेन्ट हाउस तक विस्तृत है। 'जलूस' की नायिका पवित्रा, जो पश्चिमी बंगाल से शरणार्थियों के साथ आई है, परिवार से विलग होने पर पाठशाला चलाती है, गाँव वालों की सेवा में रत है। वह कहती है— "अपनी सत्ता को समाज में विलीन कर रही हूँ, लोक संस्कृति मूलक समाज के गठन के लिये।"[५]

---

१. डा० सुखदेव शुक्ल—हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता, पृ० २००
२ इलाचन्द्र जोशी – 'जहाज का पंछी, पृ० ३७३
३ अमृतलाल नागर—'बूंद और समुद्र'' पृ० ४३७
४ वही—'अमृत और विष'' पृ० ४४२.
५ फणीश्वरनाथ रेणु—'जलूस,' पृ० १८७

'दीर्घतपा' में रेणु ने रमला बैनर्जी के रूप में नारी की विभिन्न समस्याओं की समाधान प्रस्तुत किया है। नारी को अपने पैरों पर खड़े होने के लिये विभिन्न शिल्प केन्द्र खुलवा कर प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार रेणु के नारी-पात्र, पारिवारिक सीमा में ही आबद्ध नहीं है वरन् विभिन्न क्षेत्र में कार्य करते हैं।

राजेन्द्र यादव के नारी पात्र आत्मनिर्भर तथा स्वतन्त्र हैं। 'उखड़े हुए लोग' में यादव जी लिखते हैं— "किसी जमाने में डाक्टरी और मास्टरनी बनना भले ही फैशन की बात रही हो, लेकिन आज वह जरूरत है। घर में एक कमाने वाला है और दस खाने वाले हैं। कुछ लोगों की जो अच्छे खाते-पीते हैं, बात छोड़िये—लेकिन निन्यानवे से अधिक प्रतिशत लोगों की जिन्दगी बद से बदतर होता जा रही है।"[1] लेखक ऐसी व्यवस्था चाहता है जहाँ दोनों का व्यक्तित्व स्वतन्त्र हो, एक दूसरे पर बोझ नहीं हो। दोनों के व्यक्तित्व एक दूसरे पर लदे नहीं, एक दूसरे से दबे नहीं और एक दूसरे को खा न जाये; और जब दोनों के व्यक्तित्व इतने मुक्त रहेंगे कि एक दूसरे के बंधन में, उसे मानसिक बल देने में समर्थ हो सके तभी तो एक का प्यार दूसरे को उठायेगा और आत्मा-आत्मा का सच्चा प्यार निखर कर आयेगा।[2] आज जीवित रहने के लिये मानव को बहुत संघर्ष करना पड़ रहा है। कमर-तोड़ महगाई के कारण एक व्यक्ति दस को नहीं खिला सकता और सचमुच इससे बड़ा मजाक हो भी क्या सकता है कि आधी दुनिया लड़ मरे, खून पसीना एक करे और आधी दुनिया शृंगार करे और खाये। इस समय यदि स्त्री पुरुष की मदद नहीं करती है तो स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में सचमुच बड़ा संकट उपस्थित हो जायेगा।[3] लेखक नारी की दुनिया को परिवार तक सीमित नहीं मानता, न ही उसके व्यक्तित्व को कुटुम्ब की कैद में रखना चाहता है। वह उसकी योग्यता को घर की चाहरदीवारी में घुटने नहीं देना चाहता।

डा० देवराज के 'पथ की खोज' में नारी के आर्थिक-स्वातन्त्र्य की माँग की गई है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के साथ नारी अपनी स्वतन्त्रता के लिये भी संघर्षरत है। उसे यह भी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है कि आज आर्थिक क्षेत्र में नारी विभिन्न पदों पर कार्यरत है। 'व्यक्तिगत स्वाधीनता और व्यक्तित्व को अद्वितीयता जैसी अवधारणाओं का विस्तार अब हमारे देश में भी केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं रह गया है। उचित ही है कि स्त्री भी अपने व्यक्तित्व और उसकी रक्षा तथा प्रतिभा के प्रति सजग होती जा रही है। देश में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर नारी के पुरुष के समकक्ष होने की प्रक्रिया के अनुरूप ही पिछले वर्षों में साहित्य में भी नारी के व्यक्तित्व को अपेक्षाकृत भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति मिली है और पुरुष के साथ

१ राजेन्द्र यादव-'उखड़े हुए लोग', पृ० १२.
२. वही, पृ० १०.
३. वही, पृ० १२.

उसके सम्बन्ध के कई एक ऐसे आयाम उपन्यासों मे चित्रित हुए हैं, जो या तो पहले के उपन्यासों मे थे ही नहीं या अपवाद मात्र थे या सर्वदा प्रासगिक और गौण थे।"[1]

यन्त्र युग की उपलब्धियों से परिवार और समाज में आमूलचूल परिवर्तन आया। समाजशास्त्रीय दृष्टि से इस पृष्ठभूमि मे लिखे गये उपन्यासो मे पुरानी व्यवस्थाओं के टूटने तथा आपसी सम्बन्धों में तनाव का चित्रण है। सामन्तकालीन मान्यताएँ बिखर गई है, परम्परागत मर्यादा से हट कर चलने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। स्वावलम्बन की चेतना तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना के फलस्वरूप यह परिवर्तन सम्भव हुआ है।

(ग) जाति-बोध से श्रेणी-बोध की ओर

शिक्षा तथा यातायात की सुविधा के कारण विभिन्न प्रान्तो के विभिन्न देशों के लोग निकट आये। आपसी विचारो के आदान-प्रदान से लोगो का जीवन के प्रति विस्तृत दृष्टिकोण बनने लगा, सकीर्ण जातीयता कम होने लगी। आत्मनिर्भरता के कारण व्यक्ति समाज में अपना स्थान स्वय बनाने लगा, उसका महत्त्व अब केवल परिवार या जाति से नहीं निर्धारित किया जाता वरन् उसकी स्थिति (स्टेटस), जो वह अपने पेशे से बनाता है, उससे निर्धारित किया जाने लगा। आज आपसी सम्बन्धों मे स्तर का महत्त्व है, जाति का नहीं। आजकल व्यक्ति अपने बच्चों का विवाह भी बराबर के स्तर (स्टेटस) वालों से करना पसन्द करते हैं न कि जाति के किसी ऐसे व्यक्ति से जो उसकी बराबरी का न हो।

आज सामाजिक स्तरण मे वर्ग का महत्त्व है, इसीलिये सामाजिक सोपान मे विभिन्न प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं, जैसे उद्योगपति वर्ग, मत्री वर्ग, अधिकारी वर्ग, क्लर्क अथवा बाबू वर्ग, मजदूर वर्ग, चपरासी वर्ग। कोई भी डाक्टर, इंजीनियर अथवा अध्यापक अपने बच्चो के वैवाहिक सम्बन्ध अपनी ही श्रेणी के लोगों में करेगा, चाहे वह उसकी जाति के न हो। यह कोई भी डाक्टर-इंजीनियर पसन्द नहीं करेगा कि अपनी जाति का होने के कारण किसी क्लर्क चपरासी से वह सम्बन्ध स्थापित करले, बल्कि प्रतिदिन का उठना-बैठना भी अपने से निम्न दर्जे के किसी जाति-भाई से नहीं करेगा। शिक्षा के कारण जातिगत बन्धन शिथिल हो रहे हैं। जाति-बोध के स्थान पर आज वर्ग-बोध प्रबल हो रहा है और यहां तक कि वर्ग-बोध मे भी और सकोच हो रहा है। आई. ए. एस. अधिकारी अन्य आई. ए. एस अधिकारियों के साथ ही भाई-चारा रखते हैं, वे अपने से निम्न श्रेणी के अधिकारियों से सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। आई. ए. एस. अधिकारी आर. पी. एम अधिकारी के साथ अधिक घनिष्टता रखना उचित नहीं समझते। एक ही श्रेणी के अधिकारी अपने अन्य अधिकारियों की सरकारी कामों मे भी एक-दूसरे की सहायता करते हैं,

---

१. नेमीचन्द जैन—अधूरे साक्षात्कार, पृ० १४४.

दूसरे कैडर के लोगों से वे अधिक नैकट्य अनुभव नहीं करते। इस प्रकार आज हर क्षेत्र में जाति की अपेक्षा वर्ग-बोध अधिक जागृत है।

यन्त्रीकरण ने सामाजिक संस्थाओं को चतुर्दिक प्रभावित किया है। सबसे अधिक आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन हुए हैं। शक्तिशाली मशीनों ने नवीन उद्योग-धन्धों को जन्म दिया, जिससे जातिगत बन्धन तो ढीले हुए, साथ ही अनेकों नवीन संगठन जैसे बैंक, को-आपरेटिव स्टोर, फैक्ट्री आदि का भी जन्म हुआ। रेल तथा फैक्ट्रियों ने विशाल नगरों को जन्म दिया। आधुनिक प्राद्योगिकी ने घरेलू उद्योग-धन्धों को नष्ट किया है, जिससे पारिवारिक संगठन में परिवर्तन आया है। संयुक्त परिवार व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा है, जिससे व्यक्तिवादिता की भावना पनप रही है, जिसे हम यशपाल के 'देशद्रोही' तथा 'मनुष्य के रूप' में देख सकते हैं। 'देशद्रोही' का ईश्वरदास खन्ना, अपने छोटे भाई की आधी सम्पत्ति हड़प लेना चाहता है। वजीरिस्तान के लुटेरों द्वारा छोटे भाई को कैद कर लिया गया है। उनके द्वारा रुपये माँगे जाने पर वह भाई के छुटकारे के लिये रुपये नहीं भेजता, ताकि उसकी सम्पत्ति वह हथिया ले। संयुक्त परिवार के आधार भ्रातृ-प्रेम के खोखलेपन का लेखक ने अंकन किया है, जिसमें व्यक्तिवादिता इस सीमा तक पाई जाती है। इसी प्रकार 'मनुष्य के रूप' में भी प्रेम तथा भावना का आधार धन को ही माना गया है। 'बड़ी भाभी के मन को इस बात से चोट पहुँचती है कि सभी के लिये, यहाँ तक कि नौकरानी सोमा को भी एक जैसी साड़ियाँ क्यों लाकर दी गई।''[1] वह जेठानी तथा कमाऊ पति की पत्नी होने के कारण विशेष सम्मान की अपेक्षा रखती है। यशपाल के अनुसार यह संस्था जर्जर हो चुकी है। 'अमृत और विष' उपन्यास में रमेश का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उसे पिता से विलग होने के लिये प्रेरित करता है क्योंकि उसे आई. ए. एस. बनना है और पिता के सापन उसके पद की प्राप्ति में बाधक हो सकते हैं।

आजकल परिवार के अनेकों कार्य राज्य अपने हाथों में लेता जा रहा है, है, इसलिए परिवार, जो सुरक्षा के केन्द्र थे, उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य को भी विदेशों में राज्य करने लगा है तथा भारत में भी जीवन-बीमा-निगम तथा वृद्धावस्था की पेन्शन दी जाने लगी है। राजस्थान में भी साठ साल की अवस्था वाले निराश्रित वृद्ध लोगों को राज्य की ओर से तीस रुपये प्रतिमाह तक 'ओल्ड ऐज पेन्शन' दी जाती है। उससे असहाय लोगों को बड़ी राहत मिली है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण युवा पीढ़ी अपने माता-पिता के प्रति अपने दायित्व को नहीं निभाना चाहती। व्यक्ति आज आत्मकेन्द्रित होता जा रहा है। यन्त्रीकरण यदि एक ओर व्यक्ति को व्यक्तिवादी बना रहा है तो दूसरी ओर छापेखाने सम्बन्धी अन्वेषणों के कारण सामाजिक एकता को बढ़ाने का प्रोत्साहन देता है। इतना ही नहीं, सामाजिक संस्थाओं पर यन्त्रों का मनोवैज्ञानिक रूप से भी प्रभाव पड़ा है; जैसे मालिक तथा नौकर के सम्बन्धों में

---

१ यशपाल—'मनुष्य के रूप', पृ० १६५, १६६.

परिवर्तन आया है। पारिवारिक सम्बन्ध तथा राजनैतिक विचारधारा में परिवर्तन हुए हैं। उदाहरणार्थ हाथ की दस्तकारी के युग में नौकर और मालिक के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क होता था, क्योंकि वे एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते थे। परन्तु, आजकल हड़ताल, बाईकाट घिराव, लॉक-आउट (तालाबन्दी) आदि का कारण है- नौकर तथा मालिक (एम्प्लायर एण्ड एम्प्लाई) के बीच व्यक्तिगत सम्बन्धों का अभाव। नौकर तथा मालिक यही कारण है परस्पर संवेदनशील दृष्टिकोण नहीं रख पाते। इसी प्रकार मोटरकार के आविष्कार से आवागमन की सुविधा से लोग पहाड़ों पर सैर के लिये अधिक जाने लगे, इससे वहाँ का जीवन भी प्रभावित हुआ। वहाँ के भोले भाले लोगों के जीवन से शहरी लोगों ने खेलना प्रारम्भ किया, जिससे कभी-कभी वहाँ की भोली-भाली बालिकाओं का जीवन अभिशप्त हो उठता है, जिसका वर्णन इलाचन्द्र जोशी ने 'जिप्सी' में किया है। रंजन मनिया को बहलाकर उससे विवाह करता है और अन्त में मनिया उसे जब अपने प्रति एकनिष्ठ नहीं पाती तो परित्याग करके नर्स बन जाती है। पहाड़ी जीवन की रमणीयता का, वहाँ के रहन-सहन सौहार्द्र तथा सहनशीलता का, वर्णन जोशी जी ने 'ऋतुचक्र' में भी किया है। शिवानी के उपन्यास 'कृष्णा कली' में भी कुमायूं अल्मोड़ा के पहाड़ी जीवन का सुन्दर चित्रण है। पहाड़ी जीवन को निकट से देखने का सुयोग मोटरकार आदि के आविष्कार के बाद सम्भव हुआ है। उपन्यास में प्राकृतिक वातावरण का बड़ा सजीव वर्णन है। "लगता है क्रुद्ध आषाढ़ के भृकुटिविलास में अल्मोड़ा की सृष्टि लय हो जायेगी। कड़कती बिजली सामने गर्वोन्नत खड़े गागर और मुक्तेश्वर की चोटियाँ, देवदार, बाज और बुरुंस के लटके वृक्षों की घनी कनारें। पहाड़ी प्रदेश की सुषमा मुखरित होती है।"[१] इसी मे डाक्टर पैट्रिक का टीन का ढालू छतों वाला बंगला है, जिसमे वे विदेश से आकर पहाड़ी प्रदेश में कुष्ठाश्रम में काम कर रही हैं।[२] यह यातायात की सुविधा के कारण ही सम्भव हो सका। मोटर आदि का जब तक आविष्कार नहीं हुआ था, इन स्थानों पर पहुँचना कठिन ही नहीं, असम्भव था। वर्षों लग जाते थे, पैदल तथा घोड़े खच्चरों पर। यंत्रीकरण ने समय तथा स्थान की दूरी को पाट दिया है। दुर्गम पहाड़ी प्रदेश में पहुँच कर मानव प्राकृतिक सुषमा का अवलोकन तो करता ही है, साथ ही वहाँ के लोगों की सभ्यता-संस्कृति को जानने का भी उसे अवसर मिलता है। शिवानी के उपन्यासों मे पर्वतीय संस्कृति सजीव हो उठी है।

"यंत्रीकरण के कारण लोगों के विचारों का आदान-प्रदान सम्भव हुआ, फिर भी जाति का मोह बना रहा, क्योंकि भारत मे सामाजिक संगठन का जाति सर्वाधिक साधारण लक्षण है।"[३] जिसमें जन्मजात सदस्यता, अन्तर्जातीय विवाहों का निषेध,

---

१ शिवानी—कृष्णा कली, पृ० ३.

२. वही, पृ० ३.

३. G. S Ghurye Caste & Class and Occupation, 1961 Pg-1.

जाति का विशिष्ट नाम और व्यवसाय, खान-पान में समानता आदि जाति के प्रमुख लक्षण रहे हैं। गिलिन और गिलिन ने जाति प्रथा को अन्तःविवाह समूह कहा है।[1] भारत के अनुरूप कठोर (लोचहीन) जाति व्यवस्था और कहीं नहीं पाई जाती। पनिकर के अनुसार—"आज भी लोग जाति प्रणाली के दोषों तथा हानियों को जानते हुए भी उसे बनाये रखना चाहते हैं।"[2]

जाति प्रथा ने अपनी कठोरता के कारण असमानता तथा अन्याय को जन्म दिया। जातीय उच्चता की ओट में नीची जाति वालों के साथ अमानवीय व्यवहार किए गये। अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह तथा सामाजिक व्यापार पर कठोर प्रतिबन्ध लगाकर समाज में जटिल स्तरण को विकसित किया गया। परन्तु आज जाति के आधारभूत सिद्धान्तों की प्राचीरें घात-प्रतिघात से डगमगाने लगी हैं। आज जाति के भेद-भाव, तथा नियमों में शिक्षा, व्यवसाय, यातायात के कारण शिथिलता आ गई है। पैतृक पेशे कुछ नीची तथा पिछड़ी हुई जातियाँ ही अपनाती हैं। अन्तर्जातीय विवाह अनुलोम तथा प्रतिलोम भी बहुत बड़ी संख्या में होने लगे हैं। प्रेमचन्द ने गोदान में झुनिया तथा गोबर का अन्तर्जातीय विवाह कराकर अपने विशाल दृष्टिकोण का परिचय दिया है। अमृतलाल नागर का मत है –' अन्तर्जातीय विवाह अधिकतर सफल होते हैं, उनमें अधिकांश सुखी और आबरूदार जीवन व्यतीत करते हैं।"[3]

आज, जाति-बिरादरी का व्यक्ति तथा परिवार पर कठोर नियंत्रण समाप्त हो रहा है। इस औद्योगिक तथा भौतिकतावादी युग में व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति (स्टेटस) का निर्णय जाति से नहीं वरन् आर्थिक प्रस्थिति पर निर्भर है, जिसमें जाति व्यवस्था के ऊँच-नीच की श्रेणी विभाजन पर आघात हुआ है और जाति के स्थान पर वर्ग-बोध जागृत हुआ। पूंजीवादी सभ्य देशों में भी सामाजिक स्तरण में वर्गों का महत्वपूर्ण स्थान है।

वर्ग अथवा श्रेणी के अन्तर्गत साधारणतया एक ही प्रस्थिति के दोनों लिंगों और सभी आयु के लोग सम्मिलित रहते हैं। श्रेणी अथवा वर्ग की परिभाषा करते हुए मेकाइवर तथा पेज ने कहा है—"वर्ग समुदाय का वह भाग है, जो सामाजिक प्रस्थिति के कारण दूसरे भागों से अलग दिखाई देता है।"[4] आगबर्न तथा निमकाफ

१. Gillin and Gillin : Cultural Sociology, P.—233.
२. K.M. Pannikar : Hindus Society at Crossroads, Asia Publishing House, Bombay (1955), P. 10
३. अमृतलाल नागर–अमृत और विष, पृ० 174.
४. "A social class is any portion of a community marked off from the rest by social status."
-Mac Iver and Page–'Society,' P. 348.

के अनुसार—"एक निश्चित समाज मे एक ही सामाजिक परिस्थिति वाले व्यक्तियों का समूह एक सामाजिक वर्ग है।"[१] मार्क्स तथा एंजिल्स ने उत्पादन के साधनो से सम्बन्धित प्रत्येक आर्थिक स्तर को वर्ग कहा है, परन्तु वर्ग एक सामाजिक समूह है जिसमे एकता तथा आत्मीयता की भावना का होना आवश्यक है। एक वर्ग के सदस्यों मे अपने तथा अन्य वर्गों के लोगो से सम्बन्धों का सजातीयत्व पाया जाता है और भारत मे आज जन्म के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति का निर्णय अधिक महत्वपूर्ण नहीं रहा। आर्थिक सम्पन्नता, शिक्षा, व्यवसाय आदि के आधार पर वर्ग बनने की प्रवृत्ति अधिक प्रबल हो रही है जिसमे उद्योगपति, व्यापारी, राजनीतिज्ञ, प्रशासकीय अधिकारी आदि उच्च वर्ग तथा अभिजात्य वर्ग के लोग कहलाते हैं, इसी प्रकार जीवन स्तर और सम्पदा के अनुसार मध्य और निम्न वर्गों की सीमा-रेखा निर्धारित की जाती है। प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को अपनी श्रेणी का आज पूर्णतया भान है, जैसे जाति-बोध पहले विशिष्ट था आज उसका स्थान श्रेणी बोध ने ले लिया है।

(घ) जागृत वर्ग चेतना व वर्ग संघर्ष के नये स्वर

प्रत्येक समाज मे कई ऊँच-नीच वर्ग पाये जाते हैं तथा सामाजिक स्तरण मे उनमें भी उच्च, मध्यम और निम्न वर्ग पाये जाते हैं। समाजवादी तथा साम्यवादी देशों मे वर्ग-संघर्ष से वर्गविहीन समाज की स्थापना का प्रयत्न किया जाता है। मार्क्स ने कहा था– 'वर्ग संघर्ष के द्वारा समाज का स्वरूप, जो आज धनी, निर्धन (हैव्ज एण्ड हैव नाटस) मे बटा हुआ है, कालान्तर मे वर्गविहीन समाज के रूप मे विकसित होगा।" मार्क्स तथा एंजिल्स ने उत्पादन से सम्बन्धित प्रत्येक आर्थिक स्तर को वर्ग कहा है—वह आर्थिक संकेन्द्रीकरण को वर्ग का मुख्य कारण मानते हैं, साथ ही वह वर्ग को आत्मचेतना युक्त संगठन मानते हैं जो अपने अधिकारों के लिये संघर्षरत है। इस प्रकार वर्ग चेतना के अभाव मे वर्ग का कोई महत्व नहीं है।

आधुनिक वर्ग-व्यवस्था वाले देशों—यूरोप तथा अमेरिका मे सामाजिक वर्ग का आधार व्यवसाय है,[1] परन्तु सामाजिक परिस्थिति के कई निर्धारक कारण हैं जैसे भौतिक सम्पदा, उपलब्धियाँ, सत्ता और शक्ति, सामाजिक संसर्ग आदि। वर्ग-भेद का आधार केवल पेशा ही नहीं है वरन् प्रस्थिति (स्टेटस) है। मार्क्स तथा एंजिल्स के वर्गयुद्ध के सिद्धान्त ने वर्ग निर्माण को प्रोत्साहित किया। आज वर्ग चेतना सभी देशों मे पाई जाती है। "वर्ग–समाज, जाति-समाजकी अपेक्षा, अधिक अस्थिर और गत्यात्मक है।"[२]

आधुनिक काल में सबल वर्ग-चेतना के दर्शन होते हैं, जिसमे सहयोगी वर्ग-चेतना तथा प्रतियोगी वर्ग-भावना अथवा स्पर्धात्मक वर्ग-भावना आधुनिक समाजों

---

१. Ogburn and Nimkaff-Hand Book of Sociology, P. 210

२. MacIvar and Page–'Society', P. 350.

की प्रमुख विशेषता बन गई है, जिसका कारण अर्थ-व्यवस्था तथा शिक्षा के द्वारा प्राप्त अधिकारों का बोध है। वर्ग-चेतना सामाजिक परिवर्तन का सशक्त यन्त्र है, जिसमें निम्नतम स्तर के व्यक्ति भी उच्चतम स्तर पाने की आशा तथा उत्साह रखते हैं। जिसमें आर्थिक सम्पन्नता, शिक्षा, राजनीतिक तथा प्रशासकीय शक्ति और उपलब्धि व्यक्ति को अपने पैतृक स्थिति छोड़कर नई और ऊँची स्थिति प्राप्त करने में सहायक होती है। मार्क्स तथा एंजिल्स वर्ग-संघर्ष के कारण साम्यवादी समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें सर्वहारा वर्ग, बुर्जुआ समाज को उखाड़ फेंकेगा और नये समाज की स्थापना होगी, जिसमें केवल सर्वहारा वर्ग ही होगा और कालान्तर में वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी।"[१]

मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्त की पूर्ण सफलता को, चाहे भारत के लिये अधिक उपयोगी न भी मानें, फिर भी उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ने भारत में वर्ग-संघर्ष की चेतना को कई नये आयाम दिये, जिसे हिन्दी उपन्यासकारों ने विभिन्न रूपों में चित्रित किया। वर्ग-चेतना के स्वर प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में मुखरित हैं। शोषक तथा शोषित के संघर्ष को इनके उपन्यास 'गोदान' में अभिव्यक्ति मिली है। डा० रामविलास शर्मा के अनुसार—"गोदान की मूल समस्या शोषित तथा उत्पीड़ित कृषक के ऋण की समस्या है।"[२] इनके उपन्यासों में वर्ग संघर्ष के नायक अभिजात्य-वर्गीय लोग नहीं है वरन् उत्पीड़ित जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले साधारण प्राणी हैं, जिन्हें जिन्दगी की कटु अनुभूतियों ने संघर्ष के लिये बाध्य किया है।

प्रेमचन्दजी का होरी, सूरदास आदि साधारण जन-नायक हैं, जिनके माध्यम से वर्ग-संघर्ष मुखरित होता है।

भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' तथा नवीनतम उपन्यास 'सबहीं नचावत राम गोसाईं' में घटनाओं द्वारा राष्ट्रीय चेतना तथा आधुनिक समय की राजनीतिक उठा-पटक के चित्रण द्वारा चेतन-वर्ग-संघर्ष का अंकन है। रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' तथा 'परती:परिकथा' में भी किसी अभिजात्यवर्गीय नायक का चित्रण नहीं, अपितु जन-जीवन ही जीवत है।

वर्ग-संघर्ष, जैसा कि ऊपर कहा गया है, हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्दयुग से ही पाया जाने लगा था। उनके उपन्यास 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गोदान' आदि में शोषित किसानों तथा मजदूरों का संघर्ष ही चित्रित है। मनोहर, बलराज, सूरदास होरी, गोबर आदि पीड़ित वर्ग के लोगों की कहानी के साथ शोषकों के कर

१　Lanin–Marks Engale : Marxis Foreign Publishing House, Moscow (1950), pp. 26–29.

२.　डा० रामविलास शर्मा—प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० ११५.

अत्याचारो का भी उद्घाटन है। डा० मदान के अनुसार—"गोदान एक भारतीय किसान की जीवनगाथा है, जिसमे उसकी सभी विशेषताएँ और सभी रूप विद्यमान हैं।' [1] नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त ने क्रमश 'बलचनमा' तथा 'गगामैया' मे शोषित किसानों के अनेक कारुणिक दृश्य उपस्थित किये हैं।

'बलचनमा' में सामन्ती जमीदारी प्रथा मे पिसते हुए ग्रामीण मजदूर किसानो का चित्रण है। बलचनमा गरीब ग्वाले का पुत्र है, जो जीवन के अभावो की जीवत कहानी है, सवहारा वर्ग का मजदूर बालक है जो जमीदार के अत्याचारों से पीडित है। उपन्यास मे काग्रेस तथा समाजवादी दलों का भी वर्णन है। इन दलो म भी जमीदारो के परिवार के लोग घुस हुए हैं जैसे फूल बाबू, जो जनता के हित के स्थान पर अपने ही वग के हित-साधन का ध्यान रखते हैं। इसलिये बलचनमा को फूल बाबू म अश्रद्धा हो जाती है, क्योंकि वह छोटी मालकिन के भतीजे थे।

बलचनमा किसान आन्दोलन म सक्रिय भाग लेता है। किसानो के अधिकारो की रक्षाके लिये अपनी जान की बाजी लगा देता है। बलचनमा के पास जीवन शक्ति के अतिरिक्त कोई साधन नही था, पर जीवन सघर्ष से भागता नही अपने अधिकारो का प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। बलचनमा का सघष समाजवादी चेतना का प्रतीक है। यह सघष व्यक्ति विशेष का नही, वरन् निरीह किसान-मजदूर वग का सघष है, जो इस बात का द्योतक है कि साधनहीन एव स्वाधिकार, वचित किसान के अन्तर म अन्याय तथा अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना जन्म ले रही है। [2]

इस उपन्यास म काग्रेस और उसके कार्यों की व्यग्यात्मक व्याख्या की गयी है तथा काग्रेस के भीतर समाजवादी विचारधारा को लेकर चलने वाले दल सोशलिस्टो के नेतृत्व मे किसान सग्राम का चित्रण है। "बास की छिपाटी पर हँसिय—हथौडा वाला झडा फहरा उठता है। रोजी-रोटी की लडाई के बहादुर सिपाही जात पात को छोड आपस मे कामरेड हो जाते हैं। कामरेड अर्थात् लडाई का साथी।" [1] इससे स्पष्ट होता है कि शोषित वग की कोई जाति नही, वह अपने स्वत्व की रक्षा के लिये एक है। बलचनमा म विद्रोह की ऐसी प्रबल ज्वाला है जो शोषको को भस्म करने के लिये आकुल है। लेखक ने एक ओर तो सुखी-सम्पन्न वग तथा दूसरी ओर दुख विपन्न सर्वहारा वग के जीवन-वैषम्य का उद्घाटन किया है। भैरवप्रसाद के उपन्यास 'गगामैया' म भी उत्तर भारत के कृषकों के सघषमय जीवन का अकन है जिसम बलिया जिले का एक अचल (गाव) सजीव हो उठा है। इसका नायक मटरु अपने

१ डा० इन्द्रनाथ मदान— प्रेमचन्द • एक विवेचन पृ० ९६

२ डा० सुषमा धवन- हिन्दी उपन्यास पृ० ३०४,३०५.

१ नागार्जुन—बलचनमा, पृ० १८८ १८९

पूरे आत्मविश्वास के साथ शोषण का विरोध करता है। वह पददलित और आतंक-ग्रस्त लोगों के प्रति संवेदनशील है, इसीलिये जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध सामूहिक रूप से लड़ता है। 'गंगामैया का जीवन गिरु की तरह धाने हुए है, उसी की अब किसान की विजय है। वह कहता है–' जमींदारों ने अगर इधर आँख उठाई तो मैं उनकी आँखें फोड़ दूंगा।'' [1] वह यह अनुभव करता है कि इस सारी व्यवस्था का विरोध करने के लिये सम्मिलित होकर लोहा लेना पड़ेगा—अपना एक मोर्चा बना कर इस अन्याय का मुकाबिला करना ही पड़ेगा है। [2] इस प्रकार हम देखते हैं कि 'गंगामैया' में दो विरोधी वर्ग–किसान और जमींदार–संघर्ष-रत हैं और यह संघर्ष किसान के नवीन उद्‌बोधन का प्रतीक है। इनके उपन्यास 'सत्तीमैया का चौरा' में भी संघर्ष के स्वर मुखरित है। स्वाधीन भारत में कांग्रेस और उनके कार्यों की आलोचना की गई है। मुन्नी इसकी ओर संकेत करते हुए कहता है— 'जमींदार न रहे तो अब स्थानीय कांग्रेसी नेताओं ने उनकी जगह ले ली है और किसानों पर वे उन्हीं की तरह हकूमत करते हैं और इसका इलाज केवल एक है और वह है जनता में वर्ग-चेतना पैदा करना, जनता की मुक्ति की लड़ाई को वर्ग संघर्ष पर ले आना।''[3]

सामाजिक परिवर्तन तथा अव्यवस्था में वर्ग-संघर्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज को मुख्यतः तीन वर्गों में बाँटा जाता रहा है। पहला उच्चवर्ग, जिसमें जमींदार, पूंजीपति और महाजन आते हैं। दूसरा है मध्यवर्ग इसमें क्लर्क तथा अन्य व्यवसायी आते हैं। तीसरा है निम्न वर्ग जिसमें कृषक तथा श्रमिक आते हैं।

स्वाधीनतापूर्व के उपन्यासों में उच्च वर्ग का पर्याप्त चित्रण है। प्रेमचन्दजी ने भी अपने उपन्यासों में इसका वर्णन किया है। यही सबसे बड़ा शोषक वर्ग माना जाता रहा है। रांगेय राघव ने अपने उपन्यास 'विषाद मठ' में तथा अमृतलाल नागर ने 'महाकाल' में जमींदारों के नृशंस अत्याचारों का सजीव चित्रण किया है। परन्तु स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् इसका वर्णन नहीं मिलता।

पूंजीपति और महाजन दोनों एक ही प्रकार के शोषक हैं। 'गोदान' में महाजनों के शोषण के शिकार कृषक वर्ग का सजीव चित्रण है। उस समय सरकार द्वारा ऋण देने की व्यवस्था नहीं थी। निर्धनता के कारण होरी जैसे नेक व्यक्ति को भी अपनी पुत्री का विवाह वृद्ध से ऋणग्रस्तता के कारण ही करना पड़ा।

---

१ भैरवप्रसाद गुप्त—गंगामैया, पृ०३७

२. वही, पृ० ५७

३. भैरवप्रसाद गुप्त— सत्ती मैया का चौरा, पृ० ९६४.

यान्त्रिक विकास के कारण पू जीपति वर्ग और भी सशक्त हो गया। प्रेमचन्द युग म पू जीपति वग महाजन तथा कृपक वग म सघर्ष रहता था लेकिन आधुनिक युग मे कृपक-सघर्ष की अपेक्षा मजदूर-आन्दोलन अधिक दिखाई देते हैं। राजेन्द्र यादव के उपन्यास 'उखडे हुए लोग' म पू जीपतियों के अत्याचारों की ओर लक्ष्य करते हुए एक पात्र कहता है "रोओ मत, रोओ मत, हमारी किस्मत में यही बदा है–यही लिखा है। जिन्दा रहोगे तो तुम्हारा खून मिलो में निचोडा जायगा हम बायलरो में जल-जल कर मरेगे और यदि मरने से इन्कार कर देंगे तो नतीजा सामने है।

पू जीपति, जमींदार की तरह प्रत्यक्ष शारीरिक कष्ट नहीं देता, वरन् जोक की तरह चूसता रहता है। उसे अपने लाभ की चिन्ता होती है, शोषित की नहीं। मध्यवर्ग तथा उसकी समस्याओं का अकन प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यास गबन तथा 'सेवासदन' में किया है। 'गबन' के रमानाथ तथा 'सेवासदन, के गजाधर वलद का मार्मिक चित्रण है। 'बूंद और समुद्र' उपन्यास में अमृतलाल नागर ने महिपाल के पारिवारिक जीवन के माध्यम से मध्यवर्ग का सजीव चित्रण किया है। महिपाल के जीवन में अभावों का अभाव नही है, परन्तु अपने उच्च सिद्धान्तों के कारण वह कभी वैभव के पीछे नहीं भागता। उसकी पत्नी उसकी भावनाओं को नहीं समझ पाती और अन्त में चोरी के हार को पडा पाकर उठा लेती है और उसे बेच कर पत्नी के रुपये की माँग की पूर्ति करता है, परन्तु इससे उत्पन्न आत्मग्लानि के कारण आत्महत्या कर लेता है।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'निर्वासित' में एक यात्री महिला अपने पत्र में महीप को लिखती है कि यह देश किस प्रकार प्रमुखतया पाँच वर्गों मे बटा हुआ है—प्रथम साम्राज्यवादी अधिकारी वर्ग, जिसके लिये इस देश की जनता का कोई अस्तित्व ही नहीं और जो व्यापक रूप से सुसगठित सामूहिक उपायों से देश के मूल सत्व का हरण करके अपने साम्राज्य की जडों को पुष्ट करना ही अपना एकमात्र ध्येय समझता है। दूसरा पू जीपति–जमींदार वर्ग है जो देश के उस रक्त और मासपिण्ड के सचय म व्यस्त रहता है जो साम्राज्यवादी शोषण के बाद शेष रहता है।

तीसरा है उच्च-मध्यवर्ग, जो पहले दोनों वर्गों से इतने टुकडे पा लेता है जितने से वह अपने सम्मान की रक्षा कर सके तथा फैशनेबुल दुनिया की चाहरदीवारी मे बन्द रहकर एक ऐसी सामाजिकता का रंगीन पर्दा अपने चारों ओर डाल सके जो ससार की निपट वास्तविकता से उसे अन्धा बनाने म समर्थ हो। बुर्जुआ शब्द की ध्वनि में जो बदबू या सडाध निकलती है, वह सब इस तीसरे वर्ग म कूट-कूट कर भरी हुई है।

चौथा है निम्न वर्ग। वास्तव में यही वर्ग समग्र समाज का अन्त केन्द्र न्यूक्लियस है। शोषकों के अत्याचारों से यह वर्ग निम्नतम वर्ग से कुछ कम पीडित

नही है, पर निम्नतम वर्ग से इसमे अन्तर यह है कि यह बहुत अनुभूतिशील तथा बुद्धिवादी है, इसलिये क्रान्ति के मूल बीज केवल इसी वर्ग मे पनप सकते हैं।

पाँचवा और अन्तिम वर्ग है जनसाधारण का—किसानों, मजदूरों, भिखारियों, नंगो और मूर्खों का वर्ग; जो सदियों के राजनीतिक तथा सामाजिक पीड़नों से इस कदर निर्जीव बन चुका है कि उसमे प्राण-शक्ति भरने–विद्रोह के इन्जेक्शन द्वारा नयी स्फूर्ति और नव जीवन का सचार करने की आवश्यकता की पूर्ति केवल निम्न वर्ग ही कर सकता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वर्ग-चेतना से आज जन-मानस अभिभूत है। इलाचन्द जोशी ने उपर्युक्त वर्गीकरण मे, समग्र समाज का बडा सुन्दर विभाजन किया है, परन्तु वर्ग-चेतना आज भी प्राथमिक समूहो (प्राइमरी ग्रुप्स) मे ही दिखाई देती हैं, जैसे छात्रवर्ग, अध्यापक वर्ग, चतुर्थ श्रेणी सघ श्रमिक वर्ग, इन्जीनियर वर्ग, डाक्टर वर्ग। ये लोग अपने-अपने हित-चिन्तन मे प्रयत्नशील है। अपने अधिकारों के लिये ये हडतालें करते हैं, अनशन करते हैं, सत्याग्रह करते है। वर्ग-बाध्य होने के कारण इनकी आवाज में बुलन्दगी आ जाती है और सघर्ष-शक्ति प्रखर हो जाती है और अधिकारी वर्ग को माँग के औचित्य के समक्ष झुकना पडता है। आज वर्ग-जागृति अथवा वर्ग-चेतना के कारण शोषक वर्ग-बौखलाया रहता है, राजकीय सहायता लेने पर भी वह वर्ग-चेतना को कुचल नही सकता। आज बडे-बडे दफ्तरों मे अधिकारी चाहे देर तक काम करते रहे, परन्तु चप-रासी निश्चित घटों से अधिक काम नहीं करते तथा अफसरों के घरो पर काम करने के लिये तैयार नही होते। यदि उन पर सख्ती की जाय तो वे अपने सघ के समक्ष अनपेक्षित कार्य की शिकायत करके अधिकारी को अवाछनीय स्थिति मे डाल सकता है। इसी प्रकार फैक्ट्रियो म काम करने वाले मजदूरों से भी अधिक घट काम नही लिया जा सकता। फैक्ट्री एक्ट के अनुसार काम के घटे निश्चित होते हैं, अधिक काम लेने पर उन्हे अतिरिक्त भत्ता देना पडता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जमींदारी प्रथा के साथ-साथ बेगारी-प्रथा का भी अन्त हो गया है। इसलिये प्रेमचन्दयुगीन शोषण तथा उत्पीड़न आज उपन्यासों मे नही पाया जाता। युग-चेतना ने वर्ग-चेतना को नवीन दिशा दी है, जिससे समाज मे अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है और इसमे युगीन यन्त्रीकरण का महत्त्वपूर्ण हाथ है।

---

१. इलाचन्द्र जोशी—"निर्वासित", पृ० ३६४–५ (कान्ति वर्मा—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ० १३२–३३ से उद्धृत)।

अध्याय ५

आर्थिक स्वावलम्बन के संदर्भ में नर-नारी सम्बन्ध

(क) वैवाहिक सस्थाएँ : परम्परा तथा विद्रोह

अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य के सभी कार्य देश, काल और पात्र के अनुसार अच्छे या बुरे माने जाते हैं। किसी कवि के अनुसार "Nothing is good and bad but thinking makes it so मानव के कर्तृत्व को परिस्थितियाँ अच्छाई तथा बुराई का जामा पहनाती हैं। भगवतीचरण वर्मा न अपने उपन्यास 'चित्रलेखा' मे पाप-पुण्य की स्थिति को व्यक्ति सापेक्ष माना है। जो एक के लिये पाप है, वह दूसरे की स्थिति मे हो सकता है पाप न हो। व्यक्ति के कर्तृत्व के लिये कभी-कभी परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। इसी प्रकार सामाजिक सस्थाओ को जन्म देने मे परिस्थितियो का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सैकडो वर्षो से चली आ रही विवाह की सस्था मे जो विविधता पाई जाती है, वह भी परिस्थितिजन्य है। जैसे बहु पति विवाह (Polyandry) प्रथा जो भारत मे टोडा (Toda), नागा, बैगा (Baiga), गोंड (Gond) तथा पूर्वी अफ्रीका की बेगन्डा जाति मे सबसे अधिक प्रचलित है। इस प्रथा का प्रमुख कारण है स्त्री तथा पुरुषों की सख्या का असमान (Disproportion) होना। विकट भौगोलिक परिस्थितियों मे जहाँ जीवन-यापन कठिन होता है और स्त्रियों की सख्या कम हो, तो वहाँ बहु पति विवाह की प्रथा पाई जाती है। भारत मे जौनसर और बावर मे यह प्रथा पाई जाती है। भारत मे १९५५ के विवाह अधिनियम के पूर्व तक भारत में बहु-पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित थी। अधिकाश राजाओं और बादशाहों की अनको रानियाँ और बेगमे हुआ करती थी। श्री कपाडिया के अनुसार-"भारत में यह प्रतिमान वैदिक युग से

वर्तमान समय तक प्रचलित रहा है।"[1] उत्सवों के समय हिन्दू-शास्त्रों में चार स्त्रियाँ स्वीकार की गई हैं[2], इस्लाम के अनुसार भी प्रत्येक मुसलमान चार स्त्रियाँ रख सकता है। बहु विवाह सामाजिक तथा व्यक्तिगत दृष्टि से अव्यावहारिक है, इसलिये सभी देशों में इसे हेय माना जाता है तथा कानूनी तौर पर इसे समाप्त करने का प्रयास किया गया है।

विवाह का अर्थ है जीवन-साथी का चुनाव, परन्तु इस चुनाव के लिये भी व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि समाज के कुछ आधारभूत निश्चित प्रतिमान होते हैं जिनका पालन उसे करना पड़ता है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे नियम, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ होती हैं जो जीवन-साथी के निर्वाचन क्षेत्र की सीमाओं का निर्धारण करती हैं। इन नियमों, प्रथाओं और रूढ़ियों को सामाजिक नियन्त्रण (रेस्ट्रिक्शन) कहते हैं। ये नियन्त्रण दो प्रकार के होते हैं – प्रथम है विधात्मक (पोजेटिव सैंक्शन) और दूसरा है निषेधात्मक (निगेटिव सैंक्शन)। विधात्मक अनुमति से तात्पर्य समाज द्वारा ऐसे एकान्तिक नियन्त्रण से है, जिनके कारण अमुक स्त्री या पुरुष अपना साथी अमुक समूह से ही चुन सकता है। विधात्मक अनुमति तीन प्रकार की होती है —

(१) अन्तर्विवाह (एण्डोगेमी)
(२) अनुलोम (हाइपरगेमी)
(३) विधि-नियम संसर्ग (प्रिफेंशियल मैटिंग)

'अन्तर्विवाह' वह है जिसमें अपने समूह में ही विवाह करना आवश्यक माना गया है, जैसे भारत की वर्ण-व्यवस्था के कारण चार वैदिक हिन्दू जातियाँ यथा— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये चारों अपनी-अपनी जाति के अन्दर ही विवाह कर सकते हैं, परन्तु अपने गोत्र या उप-जाति के बाहर विवाह करना आवश्यक होता है। जाति अन्तर्विवाह के अतिरिक्त वर्ग-अन्तर्विवाह (क्लास-एण्डोगेमी), धर्म-अन्तर्विवाह (रिलीजन एण्डोगेमी), राष्ट्रीय अन्तर्विवाह (नेशनल एण्डोगेमी), प्रजातीय, अन्तर्विवाह (रेशियल एण्डोगेमी) का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। आजकल वर्ग-अन्तर्विवाह की प्रथा अधिक प्रचलित है। वर्ग का आधार आर्थिक स्थिति, धन्धा, शिक्षा आदि है। इनके आधार पर उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग, किसान वर्ग, मजदूर वर्ग आदि विभाजन होता है। इन सभी वर्गों की साधारणतः यही विचारधारा होती है कि ये अपने समकक्ष वर्ग में ही अपने जीवनसाथी का

---

१. K.M. Kapadia : Marriage and Family in India,
"In India the pattern has persisted right from the Vedic Time to the present." P. 97 (1966 3rd Edition).

२. वही, पृ० 97.

चुनाव करें। धनवान लडका गरीब किसान की लडकी से विवाह करना पसद नहीं करेगा, न ही अमीर लडकी ही गरीब लडके से विवाह करना पसद करती है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'तीन वर्ष' में गाव के सीधे-साधे निर्धन युवक रमेश का उच्च वर्गीय छात्रा प्रभा से प्रेम हो जाता है, परन्तु वह उसके साथ वैवाहिक बन्धन में बँधना नहीं चाहती। वह कहती है-"यदि हमारी नित्य की आवश्यकता नही पूरी होगी, यदि भूखों मरते हैं, तो प्रेम अकेले ही हम जीवित नही रख सकता।"[1] आर्थिक असमानता के कारण प्रभा रमेश से विवाह नही करना चाहती, क्योंकि रमेश उसे उच्चवर्गीय सुविधाएँ नही प्रदान कर सकता। वर्ग अन्तर्विवाह सभी समाजों मे प्रचलित है। धर्म अन्तर्विवाह मे भी दो विभिन्न धर्म वाले स्त्री-पुरुष विवाह नही कर सकते, जब तक कि दोनो में से एक अपना धर्म-परिवर्तन न कर ले। एक हिन्दू लडका या लडकी एक मुसलमान लडकी या लडके से विवाह नहीं कर सकते। माता पिता चाहे कितने ही उदार हो, अपने परिवार में विरोधी धर्मों को मानने वालों को स्थान नही दे पाते। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' मे लेखक (पात्र) के अनुसार -'लडकी ने प्रेम किया, इस स्वीकार करने को मैं तैयार था, उसने मुसलमान से प्रेम किया इसे स्वीकार करने मे हिचक थी। वह बिन ब्याहे माँ बन रही है - इसे स्वीकार करना तो असम्भव ही था . . यह क्या किया नन्ही ने।"[2]

इससे स्पष्ट है कि धर्म साथी के चुनाव में कितना महत्त्वपूर्ण है। लडकी के पिता को प्रेम-विवाह करने मे आपत्ति नही वरन् धर्म-अन्तर्विवाह में है। इसी प्रकार राष्ट्रीयता तथा प्रजातीयता के कारण भी दूसरे राष्ट्र वालों और दूसरी प्रजाति (रेस) जैसे गोरे-काले के रग-भेद के कारण भी प्रतिबन्ध है। यह गोरे-काले की रग-भेद की नीति मानवता तथा विश्व-बन्धुत्व के मध्य लम्बी दरार है।

अनुलोम (हाइपरगेमी) की प्रथा के द्वारा उच्च वर्ग की लडकी निम्न वर्ग के लडके से विवाह नहीं कर सकती क्योंकि उसे अपना पूर्व स्तर खो देना पडता है और निम्न स्तर के साथ आत्मसात (एसिमिलेशन) करना कठिन होता है, जिससे वैवाहिक जीवन दुष्कर हो जाता है।

विधि-नियम ससर्ग प्रिफेंशियल मेटिंग से तात्पर्य प्राथमिकता से है। कुछ समाजो मे विवाह में सम्बन्धियों को प्राथमिकता दी जाती है, जैसे पीरु प्राचीन मिस्र के शाही परिवारो में तथा बर्मा और श्रीलंका की कुछ जातियां में यह प्रथा प्रचलित थी और निकट सम्बन्धी भाई-बहिनों में शादी होती थी। मदागास्कर में इवाइना के राजा अक्सर अपनी बहिनों से शादी करते थे। परसिया मे भी यही प्रथा थी। अरब

---

१. भगवतीचरण वर्मा – 'तीन वर्ष'(१९४६), पृ० १७६.
२. अमृतलाल नागर–'अमृत और विष' पृ० ६७२.

के रेगिस्तानों में जन-समूहों के आधार पर रक्त-सम्बन्धी (किनशिप रिलेशन्स) थे। इनमें यह कठोर नियम था कि लड़का अपने चाचा की लड़की से विवाह करे। मुसलमानों में अभी भी चाचा, मामा, मौसी के लड़के-लड़कियाँ आपस में विवाह करते हैं।

उपर्युक्त नियमों के अतिरिक्त, जीवन-साथी प्राप्त करने की कुछ और पद्धतियाँ हैं। प्राचीनकाल में साथी प्राप्त करने में अधिकतर निम्न तरीके काम में लाये जाते थे। अपहरण, पत्नी-क्रय, परीक्षा यज्ञों में जीत कर आदि तरीकों से पत्नियाँ प्राप्त की जाती थीं।

अपहरण द्वारा विवाह, विश्व की अनेक जातियों में होता रहा है। भारत की आदिम जातियों में विवाह के लिये संघर्ष होते रहे हैं। प्राचीनकाल से अपहरण विवाह की मान्य प्रथा रही है। पृथ्वीराज-संयोगिता तथा कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह, अपहरण द्वारा ही हुआ था। राक्षस विवाह इसी प्रथा का एक रूप है, जिसमें स्त्री को युद्ध का पुरस्कार माना जाता है। मनुस्मृति में इस प्रकार का वर्णन है कि "एक स्त्री का उसके घर से जबरदस्ती अपहरण होता है, वह रोती-चिल्लाती रहती है, उसके सम्बन्धियों को घायल कर दिया जाता है या उनकी हत्या कर दी जाती है।"[1] आजकल भारत में छोटा नागपुर के हो(Ho), मुंडा, भूमिजा, संथाल आदि जातियों में साधारणतया यह प्रथा पायी जाती है।

पत्नी-क्रय

कालान्तर में अपहरण को हेय माना जाने लगा, इसलिये विवाह के इतिहास में विकास का दूसरा चरण पत्नी क्रय विवाह के रूप में आता है। यह प्रथा तुर्की-परसिया, भारत, न्यूगायना, की पापुआ जाति, मोरिस तथा बाटू जातियों में प्रचलित है।[2] अरब के देशों में प्रायः पत्नी का मूल्य ऊँटों और घोड़ों के रूप में दिया जाता है। भारत में निम्न जातियों में अभी भी यह प्रथा प्रचलित है, इसे असुर विवाह की श्रेणी में गिना जाता है। 'गोदान' में होरी को भी सोना के विवाह के लिये उसके पति से धन लेना पड़ता है, यह उसे अपनी विषम आर्थिक स्थिति के कारण करना पड़ता है। परन्तु वधू मूल्य लेना सामाजिक दृष्टि से हेय माना गया है क्योंकि यह तो एक प्रकार से कन्या को बेचना है, जिसे सभ्य समाज अनुचित मानता है। कन्या कोई वस्तु या पशु नहीं, जिसका मूल्य लिया जाय। राजस्थान में निम्न जातियों में यह प्रथा अभी भी पायी जाती है, माता-पिता कन्या का मूल्य वर से लेते हैं।

---

१. मनुस्मृति ३/५५, पृ० ८६.
२ प्रो० तोमर-पारिवारिक समाजशास्त्र, पृ० २५३.

परीक्षा विवाह (प्रोबेशनरी मैरेज)

इसमे वर को अपनी शक्ति की परीक्षा देनी पड़ती है। भील जाति मे वर को विवाह के लिये शक्ति की परीक्षा देनी पड़ती है; असफल होने पर उसे अविवाहित रहना पड़ता है। राम का धनुष तोड़ना, अर्जुन का मछली की आंख-वेधना तथा कालिदास का विद्योत्तमा से शास्त्रार्थ इसी पद्धति का द्योतक है। इसके अतिरिक्त, सम्मति विवाह (मैरेज बाइ म्यूचुअल कन्सेन्ट) की पद्धति भी आदि काल से प्रचलित है। इसमे पति-पत्नी अपनी सम्मति, विवाह के लिये दे देते हैं, तब विवाह हो जाता है। इस पद्धति का विकास स्वच्छन्द और स्वतंत्र भावनाओ के साथ हुआ, परन्तु भारत मे अधिकतर विवाह माता-पिता की इच्छा पर निर्भर हैं। भारत मे हिन्दू समाज मे युवक-युवती का स्वतंत्र इच्छा से किया गया विवाह कटु आलोचना का विषय बन जाता है। आधुनिक काल मे शिक्षा के विकास, स्त्री-स्वातंत्र्य, जनतान्त्रिक भावनाओं के कारण तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण इस पद्धति को गति मिली है।

उपर्युक्त पद्धतियाँ जीवन-साथी प्राप्त करने मे अपनाई जाती हैं। प्रत्येक समाज मे विवाह की संस्था के लिये कोई निर्धारित विधि होती है, जिसके द्वारा विवाह की संस्था को मान्यता प्राप्त होती है। उपर्युक्त कुछ पद्धतियों को सभ्य-समाज अनुचित समझने लगा है, जैसे अपहरण, पत्नीन्त्रय, सेवा द्वारा वधू प्राप्ति आदि। इस पद्धति मे वर-वधू की भावनाओं का ध्यान नहीं रखा जाता मानो वह कोई जड पदार्थ हो। सम्मति-विवाह मे चाहे माता-पिता की इच्छा मुख्य होती है, परन्तु इसमे वर-वधू की भी इच्छा का ध्यान रहता है। आजकल तो बच्चों की इच्छा का विशेष ध्यान रखा जाता है।

वैवाहिक संस्था की रूढिगत परम्पराओं के कठोर नियन्त्रण के कारण ही इस संस्था का विरोध किया जाने लगा है और अधिकतर प्रेम-विवाह और कोर्ट-विवाह अथवा रजिस्टर्ड मैरेज की प्रथा भारत मे भी प्रचलित हो रही है। आज विवाह को जन्म-जन्मान्तर का बन्धन नहीं माना जाता। इस भावना को लेकर नारी को बहुत सहना पड़ा है। आज विवाह में भावात्मक एकता की भावना को मान्यता दी जाने लगी है। रांगेय राघव के उपन्यास 'धरती मेरा घर' में प्रोफेसर कहता है—"शादी एक घिराव है, इस विचार से मेरा मन डूबता है।" लेकिन आजकल विवाह घिराव नहीं है। पहले अधिकतर बाल-विवाह होते थे, परन्तु उसके लिये भी लोगों में जाग्रति आ रही है, वे भेड़-बकरियों की तरह झुंड मे हाँक कर विवाह करने को अनुचित मानते हैं।

पूर्व-पुरुषों ने समाज की स्थिरता के लिये कुछ सीमाएँ निर्धारित की हैं। हमारी सारी मर्यादाएँ, हमारी परम्पराओं ने बनाई है। हमारी परम्पराओं का जन्म हमारे पूर्वजों के दैनिक जीवन की समस्याओं से हुआ है और हम अपनी

सम्बन्धों के बदल जाने पर भी उन्हीं में भटके हुए हैं। फलतः प्रत्येक युग की अपनी-अपनी समस्याएं होती हैं, उन्हीं के अनुसार विचारधारा में भी परिवर्तन होता है, जो हमारी परम्पराओं को भी प्रभावित करता है। ऐसी ही परम्परागत चली आ रही विवाह की संस्था में भी परिवर्तन होते रहे हैं। यह परिवर्तन कभी-कभी रूढ़ियों के विरोध स्वरूप भी होते हैं, जैसे अनमेल-विवाह, बाल-विवाह, बहु-विवाह के विरोध-स्वरूप विवाह की आयु निश्चित की गई शारदा एक्ट द्वारा तथा ऐक्य विवाह के लिये भी हिन्दू-विवाह अधिनियम पारित किया गया। इसके द्वारा बहु-विवाह प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाये गये, जिससे यौन-सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया। "बहु-विवाह और अनमेल-विवाह की असामाजिक और अकल्याणकारी परम्पराएं हिन्दू समाज के लिये अभिशाप सिद्ध हुई हैं। उसके विधान में कहीं ऐसी मूलभूत कमी है कि उसने सम्पूर्ण सामाजिक विधान को विषाक्त कर दिया।"[1] इन्हीं विषाक्त रूढ़ियों के विरुद्ध उपन्यासकारों ने आवाज उठाई। भारतेन्दुजी का पूर्ण प्रकाश-चन्द्र 'हिन्दू समाज की सड़ी-गली परम्पराओं के विरुद्ध यह सम्भवतः प्रथम साहित्यिक उद्घोष है।"[2] प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यास 'निर्मला' में अनमेल विवाह का चित्रण किया है, क्योंकि यदि स्त्री प्रताड़ित रहेगी तो दाम्पत्य जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता "संसार को सुख का घर बनाने का वास्तविक श्रेय स्त्रियों को ही है।"[3] इसलिये यदि स्त्री को सदा उपेक्षा ही मिलेगी तो वह अवश्य विद्रोह करेगी, सहन की भी एक सीमा होती है। सदा दबते रहने से नरम रुई भी कठोर हो जाती है, फिर भावनाओं से परिपूर्ण स्त्री यदि आज विद्रोह करती है तो क्या अनुचित है।

(ख) यौन सम्बन्ध

कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में लिंग साम्यवाद (सैक्स कम्युनिज्म) था, अर्थात् अनियंत्रित स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध तथा परिवार का अभाव था। कुछ विद्वानों का मत है कि इसके लिये आदिम जातियों में पाये जाने वाले ऐसे रीति-रिवाज हैं, जिनके कारण यौन-स्वच्छन्दता का सन्देह होता है। उदाहरणार्थ, उत्सवों पर स्त्रियों का आदान-प्रदान, अतिथि सत्कार हेतु पत्नियों को भेजना आदि। परन्तु कुछ अवसरों पर यौन उन्मुक्तता के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि यह यौन-साम्यवाद के अवशेष हैं। वेस्टरमार्क ने इस मत का अपनी पुस्तक "हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज" में खण्डन किया और वे ऐक्य विवाह पद्धति का प्रतिपादन करते हैं। वे डार्विन के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि पुरुष में आधिपत्य और ईर्ष्या की भावना प्रबल होती है। वह स्त्रियों पर सम्पत्ति के समान आधिपत्य रखना चाहता

---

१. डा० राजेन्द्र शर्मा–हिन्दी गद्य के निर्माता–बालकृष्ण भट्ट पृ० ४१.

२. डा० राजेन्द्र शर्मा–हिन्दी गद्य के निर्माता बालकृष्ण भट्ट पृ० ४१.

३. वही, पृ० ७४.

था और सबल होने के कारण अपनी शक्ति के बल पर रखने में सफल भी हुआ। कालान्तर में बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं रही और पुरुष का यह अधिकार एक दूसरे के हित में समाज द्वारा मान्य हो गया और आगे चल कर विवाह की एक पद्धति का रूप धारण कर लिया।

वेस्टरमार्क अपने तर्क को पुष्ट करते हुए लिखते हैं—"छोटी पूँछ वाले बन्दरों (ऐप्स) में भी विवाह प्रथा पाई जाती है फिर मानव समाज में लिंग-साम्यवाद होना अनुचित-सा प्रतीत होता है। जूकरमेन (Zuckerman) तथा मैलिनोवस्की (Malinowsky) ने भी ऐक्य विवाह का ही प्रतिपादन किया है। वेस्टरमार्क के अनुसार—' एक विवाह प्रथा के अतिरिक्त जो भी प्रथाएँ जैसे बहु विवाह, समूह विवाह आदि, पाई जाती हैं वे रोगों के समान हैं। एक विवाह प्रथा ही विवाह का स्वस्थ स्वरूप है। मैलिनोवस्की ने एक विवाह के पक्ष में कहा है—"एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा था तथा रहेगा।"[१]

एक विवाह पद्धति समाज, परिवार तथा व्यक्ति के विकास के लिए हितकर है, परन्तु विवाह की अन्य रीतियाँ बहु-विवाह तथा यौन स्वातंत्र्य भी कई जातियों में पाया जाता है, जैसे रांगेय राघव के "कब तक पुकारूं" उपन्यास में नटों में पाई जाने वाली अतिरिक्त यौन सम्बन्धी मान्यताओं तथा रीति रिवाजों का चित्रण किया गया है। उपन्यास का प्रमुख पात्र सुखराम जो अपने को ठाकुर वंश का मानता है, उसे अपनी प्रेमिका "प्यारी" के प्रति दरोगा का आकर्षण बहुत बुरा लगता है। वह प्यारी को अपनी पत्नी मानता है, इसलिये किसी अन्य के पास उसका जाना सुखराम को पसन्द नहीं, परन्तु प्यारी की माँ उसे नटों की रीति-रिवाज के अनुसार स्वाभाविक मानती है और प्यारी भी इसमें कोई बुराई नहीं समझती। यह यौन सम्बन्धों की उन्मुक्त परम्परा की विशेषता है, नटों में स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध पाये जाते है, इस बात का लेखक ने निर्भीकता से वर्णन किया है। नटों के स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों को संस्कृति, आदर्श की ओट में लेखक ने छिपाया नहीं है। प्यारी का प्रेम तो सुखराम से है परन्तु वह रुस्तम खाँ दरोगा की रखैल बन जाती है। वह कहती है—"प्रीत तो मन की होती है।"[२] दरोगा के घर में रहते हुए भी उससे प्यारी का मन का सम्बन्ध नहीं, यह सामाजिक विषमता है। "प्यारी सोचती है, एक ही की चाहना क्यों हो जाती है, जो मन पर लकीर खींच जाती है।"[३]

---

१ Monogamy has been and will remain the only type of marriage Malinowsky, 'Marriage in Encyclopaedia Britannica, Vol XIV 14th Edition, 1938, pp 940, 950.

२. रांगेय राघव — "कब तक पुकारूं", पृ० ६५.

३ वही, पृ० १५१.

चन्दा का विवाह नीलू से हो जाता है, परन्तु उससे वह कोई संबंध नही रखना चाहती। उसका सर्वस्व नरेश है, परन्तु नरेश कहता है—"तुम विवाहिता हो, मैं अब नही अपना सकता।" इस पर चन्दा कहती है—"लड़की नये पुरुष के सम्बन्ध से अपवित्र हो जाती है, पुरुष नही होता।" वह पूछती है कि यदि मैं शरीर से निर्बल हू तो क्या सभ्यता है कि सबल अपने से निर्बल को कुचल दे ?

नट समाज में यौन सम्बन्धों की स्वच्छन्दता, स्त्री-पुरुष दोनों को समान है, वे स्वेच्छा से अपने सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। कजरी अपने पहले पति को छोड कर सुखराम के साथ रहने लगती है, इस प्रकार की स्वच्छन्दता की इजाजत बडी जातियों मे नही है। परन्तु रूढिगत सामाजिक बन्धनों में अब व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा है। यूरोपीय उपन्यासों का हिन्दी के उपन्यासकारों पर प्रभाव पडा है। फ्रायड से प्रभावित उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर पात्रों का चित्रण किया है। फ्रायड ने इन्द्रियानुभूति को महत्त्व दिया है तथा काम को ही जीवन का मूल आधार सिद्ध करने का प्रयास किया है। साथ ही चेतना प्रवाह को यह महत्त्वपूर्ण मानते हैं — 'चेतना उन सारे सत्यों का मिश्रण है, जिन्हे हमने अनुभव किया है और कर रहे हैं।"[1]

समाजशास्त्रीय धरातल पर विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि इन उपन्यासकारों मे यथार्थ को चित्रित करने का आग्रह है, जिससे यथार्थ के नाम पर अश्लील और कुत्सित को भी अभिव्यक्त करने मे नही चूकते। भारतीय आदर्शवादी विचारधारा भी यथार्थवाद से प्रभावित हुई। मनोविज्ञान से प्रभावित उपन्यासकारो ने कुण्ठाओं तथा दमित इच्छाओं का उद्घाटन करना आरम्भ किया। मनोविश्लेषण-वादी उपन्यासकारों ने मूल आदिम प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति दी, जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। नारी को भी अब आदर्श के बन्दीगृह मे स्थापित रखने की अपेक्षा उसके मनोभावों को समझने तथा उसके वैयक्तिक विचारो को महत्त्व दिया जाने लगा। नारी के परम्परागत सती रूप तथा उसकी दैहिक पवित्रता की कसोटी शिथिल होने लगी है। नारी सम्बन्धी यौन प्रतिबन्ध के बन्धन ढीले पडते जा रहे हैं। 'नारी की पवित्रता का सार केवल उसकी यौन सम्बन्धी पवित्रता पर ही नही है, बल्कि हृदय की ही पवित्रता उसकी वास्तविक पवित्रता है।"[2] आधुनिक उपन्यास-कार पत्नी की पति भक्ति के पीछे आर्थिक निर्भरता मानते हैं न कि निःस्वार्थ सेवा। "आर्थिक असुरक्षा के भय से वह पतिव्रत धर्म का दृढ़ता से पालन करती है।"[3]

---

१. डा० रामदरश मिश्र – "हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा" पृ० ७५.
१, डा० त्रिभुवनसिंह – हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० २३६ (प्र० स० २०२२
२ 'अजय की डायरी' पृ० २३७.

उन्नीसवीं शताब्दी मे विज्ञान ने मानव के जीवन-मूल्यों को बदल दिया, बौद्धिकता और तर्क की कसौटी पर परम्परागत मूल्यों को परखा जाने लगा, वैज्ञानिक आविष्कारों ने धार्मिक अंधविश्वासों पर गहरा प्रहार किया। पहले उपन्यासकारों के चिन्तन की आधारभूमि समाज था, वहाँ व्यक्ति को धीरे-धीरे प्रमुखता दी जाने लगी। वह व्यक्ति के चेतन-अवचेतन मन मे प्रविष्ट होकर उसकी जटिल ग्रंथियों को सुलझाने का प्रयास करने लगे। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार नारी के अन्तर्मन को जानने का प्रयास करने लगे तथा उसकी दमित कुंठाओं अतृप्तियों को जानने का प्रयत्न करने लगे और उनके कारण जीवन मे व्याप्त विसगतियों को चित्रित करने लगे। समाजशास्त्रीय आधार पर नारी की परिवर्तित स्थिति को स्पष्ट किया जाने लगा। फ्रायड, एडलर युग से प्रभावित उपन्यासकारो ने मनुष्य के अन्तर्मन के अव्यक्त पक्षों का उद्‌घाटन किया। इसमे अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी तथा अश्क प्रमुख हैं। डा० मिश्र के अनुसार —"मनुष्य मूलतः वह नहीं है जो ऊपर-ऊपर सतह पर दिखता है, बल्कि वह है जो अपने भीतर अनभिव्यक्त रूप से छिपा हुआ है। उसका जितना अंश बाहर दीखता है वह भी चेतन की उपज नही है।"[1] मनोविश्लेषण-वाद ने जीवन-सत्यों और मूल्यों के बारे मे नये सिरे से सोचने को बाध्य किया।[2]

सामाजिक दृष्टि से यह एक नवीन परिवर्तन था, जिसमे इन मनोविश्लेषण-वादी उपन्यासकारों ने, मानव जीवन की मूल प्रवृत्तियों का यथार्थ अंकन किया तथा दमित कुंठाओं अतृप्त वासनाओं को अभिव्यक्ति दी। 'समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखने की अपेक्षा समस्त चेतना का सचालन व्यक्ति में प्रतिष्ठित हो गया।"[3] उपन्यासकार मानव-मन को समझने-परखने लगे, मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों को महत्व दिया जाने लगा, इसके पूर्व नर-नारी के आकर्षण को सहज रूप से नही स्वीकारा जाता था, वह प्रेम पर आदर्श का खोल चढाये रहते थे। आधुनिक उपन्यासकारों ने नर-नारी के सम्बन्धो में उदार दृष्टिकोण अपनाया। नारी का पर पुरुष से सम्बन्ध वे निन्दनीय नही मानते क्योंकि वे मानते हैं कि नारी अवचेतन मन से सचालित होकर ही ऐसे सम्बन्धों को मान्यता देती है। ऐसी नारियों को वे पश्चाताप की अग्नि मे जला कर आत्मघात के लिये बाध्य नही करते। पति-पत्नी के मध्य विसगतियों की खाई को जानने के लिये वे अवचेतन तथा अचेतन मन की गहनता तक पहुंचते हैं। पहले विवाह अल्पायु मे हो जाते थे। उस कच्ची उम्र मे नारी के चेतन तथा अवचेतन मन में यह सस्कार डाल दिया जाता था कि पति परमेश्वर है इसलिये हृदय की सम्पूर्ण भक्ति उसे ही अर्पित करनी है, चाहे वह पात्र हो या न हो। परन्तु शिक्षित नारी की अब पति के लिये अपनी कल्पना है, वह अपने कल्पना-पुरुष को

---

१. डा० रामदरश मिश्र – 'हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा,' पृ० ६७.
२ वही, पृ० ६९.
३. लक्ष्मीकान्त वर्मा – 'आलोचना' (उपन्यास अंक), पृ० ६३.

अपने दृष्टिकोण से देखती है। यही कारण है कि सदियों से सम्पत्ति की तरह नारी को अधिकृत वस्तु मानने वाला पुरुष, नारी के सह-अस्तित्व को सह नहीं पाता। विभिन्न विचारधाराओं म विकसित व्यक्तित्वों मे यदि सामजस्य करने की प्रवृत्ति का अभाव है तो सदा की टकराहट उन्हें तोड देती है। अत वैवाहिक जीवन के असन्तोष न इस सस्था के प्रति विद्रोही भाव जागृत किया।

पूर्ववर्ती उपन्यासो मे नारी की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ समाज नाम पर बलि चढा दी जाती थी। वह इनके भय से अपनी भाव दिया करती थी। परन्तु आधुनिक उपन्यासकारों ने नारी मन की का प्रयास किया तथा दमित आकांक्षाओं के कारण उसके मेंर का विश्लेषण करने का प्रयास किया, असाधारण व्यवहार मनोवृत्ति को जानने का प्रयास किया। प्रेम और यौन तृप्ति को व्यक्ति का सहज कामना माना जाने लगा, जिसकी तृप्ति करना मानव का अधिकार है। "स्त्री पुरुष का आकर्षण प्राकृतिक है। स्त्री की ओर पुरुष आकर्षित होता है मानो उसके जीवन में कोई कमी है, जिसे वह स्त्री से पूर्ण करना चाहता है।"[1]

फ्रायडीय विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकारों ने आपसी सम्बन्धो मे यौन प्रवृत्ति को प्रमुखता दी। 'शेखर एक जीवनी' म अपनी "मौसेरी बहिन शशि के प्रति आकर्षण तथा अपनी सगी बहिन के प्रति भी गुप्त आकर्षण, यौन आकर्षण को ही निरूपित करता है।"[2] क्योंकि फ्रायड यह मानता है, कि विपरीत लिंगी परस्पर आकर्षित होते हैं। फ्रायड जीवन के विविध व्यापारो के मूल मे काम भावना को निहित मानता है, परन्तु हिन्दी के कुछ फ्रायडीय विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकारों ने यौन व्यापार को ही काम भावना की अभिव्यक्ति मान लिया है। यशपाल के मनुष्य के रूप' तथा अश्क के 'गर्म राख' उपन्यास मे वासना के उन्मादी क्षणों की लोलुप चेष्टाओ, रुग्ण भावनाओ की अभिव्यक्ति है। मनोविश्लेषक उपन्यासकारो ने स्वप्न को भी दमित वासनाओ को अभिव्यक्ति का माध्यम माना है, जो फ्रायड की देन है। दोहरे सघषमय जीवन जीने वाले पात्रों के मन का उद्‌घाटन स्वप्न के माध्यम से किया गया है। असामाजिक दमित इच्छाएँ स्वप्न के माध्यम से प्रकट होती हैं, जैसे सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'सोया हुआ जल' उपन्यास मे पत्नी का चेतन मन उसे पति के प्रति एकनिष्ठ बनाये हुए है, परन्तु अवचेतन मन पूर्व-प्रेमी मे भटकता रहता है। मानव-मन अपनी अतृप्त अकांक्षाओ की पूर्ति स्वप्न में करता है। उपाध्यायजी के अनुसार "अपनी अतृप्त आकांक्षाओं के कारण रात भर स्वप्न देखते रहते हैं।"[3]

---

१. यशपाल – 'दादा कामरेड', पृ० ६८

२. डा० चण्डीप्रसाद जोशी – 'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन,' पृ० ४२३.

३. डा० देवराज उपाध्याय–आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० ५

'सुखदा' में जैनेन्द्र ने स्वप्न के द्वारा सुखदा के मानसिक ऊहापोह को व्यक्त किया है। इलाचन्द्र जोशी भी स्वप्न को मानव-मन की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं।

"मनोविज्ञान से प्रभावित हिन्दी के सामाजिक उपन्यासकारों में जैनेन्द्र, अज्ञेय इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अश्क आदि प्रमुख हैं। इन्होंने यौन-भावना को सहज, मुक्त और स्वाभाविक बनाकर उसे वर्जित क्षेत्र से बाहर निकाल कर उपन्यासों का महत्त्वपूर्ण विषय बना दिया है।"[1]

यौन-भावना का वर्णन पहले अश्लील माना जाता था, परन्तु आज उसकी सहज अभिव्यक्ति अपेक्षित है। हाँ सायास चित्रण नहीं होना चाहिये। जैनेन्द्र सर्वप्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने नारी के अन्तर्मन का विश्लेषण किया है। 'सुनीता', सुखदा' 'विवर्त', 'व्यतीत' तथा 'जयवर्धन' में नारी की अतृप्त काम-वासनाओं को आधार बनाकर अवचेतन मन की ग्रंथियों का उद्घाटन किया है। यौन सम्बन्धों की यह परिकल्पना पूर्ववर्ती उपन्यासों में नहीं पाई जाती। शेखर : एक जीवनी' 'नदी के द्वीप' तथा 'अपने-अपने अजनबी' में भी अन्तर्मन के साथ काम भावना का चित्रण है।

यशपाल के 'दादा कामरेड' तथा 'देशद्रोही' में यौन सम्बन्धों का निःसंकोच चित्रण है। अश्क के 'गिरती दीवारें' का चेतन आर्थिक विषमता तथा काम-कुंठा से पीड़ित है। 'गर्म राख' में भी अतृप्त वासनाओं का उदघाटन है। इलाचन्द्र जोशी ने भी काम जन्य कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिये अचेतन में गहरी पैठ का परिचय दिया है।

आजकल यौन सम्बन्धों में समाज सापेक्ष नैतिकता के स्थान पर मानव की आदिम भावना, सेक्स तथा उसकी अनुभूतियों का अंकन किया जाने लगा है। राघवेन्द्र मिश्र के पानी बिच मीन पियासी' में यौन प्रवृत्तियों के बिखरे-बिखरे चित्र उभारे गये हैं। "सेक्स मनुष्य की आदिम भावना है। मानवीय सृजन यहीं से प्रारम्भ हुआ था। कभी-कभी कोई पुरुष व नारी शायद घनीभूत सम्मिन जातीय अनुभूतियों की चपेट में इस ओर अग्रसर होते हैं। सामाजिक दृष्टि से नहीं, भावना की दृष्टि से। ऐसी मनः स्थिति में भावनाओं का अग्रस्व अनुभव होता है। निर्विकार वासना का 'प्योर पेशन' का रस मिलता है।"[2] नारी ही एकनिष्ठ बनी रहे, ऐसा दृष्टिकोण आजकल लेखकों का नहीं रहा; इसे वे दकियानूसी मानते हैं।

राजकमल चौधरी की 'मछली मरी हुई' में शीरी का जो रेस्तरा में गाने वाली औरत है, मिस्टर मेहता से विवाह हो जाता है। उसमें कुलीनता, शालीनता

---

१. डा० कान्ति वर्मा – स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ० ७४.

२. राघवेन्द्र मिश्र – 'पानी बिच मीन पियासी' (प्र० सस्क० १९६६), पृ० ३१.

का अभाव है। सौन्दर्य और यौवन को स्थायी बनाये रखने के अतिरिक्त उसके जीवन का कोई उद्देश्य नही।[1] उसे आत्मिक सौन्दर्य और आदर्शों के प्रति मोह नहीं। वृद्धावस्था मे मिस्टर मेहता को छोड़ कर निर्मल पद्मावत के पास चली जाती है। वह जीवन मे वतमान को महत्त्व देती है। "पहले अ धेरा था फिर अ धेरा होगा। अभी अगर रोशनी की हल्की-सी भी किरण बाकी है तो वह जी लो।"[2] यौन-तृप्ति ही मुख्य है, ऐसी अधुनिकाओं के लिये। प्रत्येक क्षण को भोगने वाले भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण नैतिकता के पूववर्ती दृष्टिकोण खडित हो रहे हैं।

'दो एकान्त' मे नरेश मेहता ने ऐसे पति-पत्नी का अ कन किया है जो अपने एकाकी जीवन का भार ढो रहे हैं। वानीरा विवेक को अपने से पृथक पाती है जो सदा अपने व्यवसाय मे ही मस्त रहता है, तो टूट जाती है। वह अनुभव करती है— "एक अगम्य सिन्धु हमारे दो एकान्तो के बीच आ खडा हुआ है।[3] वह इस शून्यता से ऊब जाती है और मिस्टर क्लाइड, फिर आनन्द के सम्पर्क मे आती है। विवेक जानता है कि वानीरा उससे असम्पृक्त है फिर भी सामाजिक दृष्टि से उसे ग्रहण किये रहता है। जब गर्भवती वानीरा को आनन्द छोड कर चला जाता है, वह (विवेक) अपने मे एक मसीहा -भाव लिये हुए है। परन्तु वानीरा ने ऐसी दया-कृपा की कभी चाहना नही की। वह कहती है -"मैने कभी नही चाहा कि बहुमूल्य शीशा जो टूट गया है परन्तु फ्रेम मे जड़े होने के कारण बिखर नहीं जाता, उसे फेंका न जाये।" वह जीवन के खालीपन शून्यता से ऊब गई है, उसे मिटाना चाहती है। सस्कारो का उसमे आग्रह नही है, इसी से वह विवेक की समर्पित बनी नही रहना चाहती। पतिव्रत धर्म के प्रति पूर्वनिष्ठा समाप्त हो रही है, स्वार्थ, सुख की भावना प्रबल हो रही है, क्योंकि सदियो से पुरुष की प्रताडना की शिकार नारी पुरुष से ऐसे व्यवहार की कामना करती है जो दो पुरुष आपस में देते हैं।"[4]

आधुनिक उपन्यासों में दाम्पत्य जीवन को स्थायित्व देने वाले तत्त्वो का अभाव पाया जाता है, क्योंकि विवाह को आज सामन्ती युग की भांति सामाजिक सस्था के रूप मे मान्यता नही दी जाती, क्योंकि आधुनिक व्यक्तिवादी युग मे व्यक्ति प्रमुख है। वह सामाजिक नैतिकता में अपने को आबद्ध करके रखना नही चाहता। उसके एकान्त जीवन मे गतिरोध पैदा करने वाली मान्यताओं का उग्र विरोध करता है। इसी का चित्रण अज्ञेय जी ने 'नदी के द्वीप' मे किया है। "स्त्री -पुरुष सम्बन्धों के विषय में समाज की खोखली, मिथ्या मान्यताओ के प्रति व्यक्ति के तीखे विद्रोह को

---

१. राजकमल चौधरी –'मछली मरी हुई' (प्र० सस्क०१९६६), पृ० ९६.
२. वही, पृ० ९३
३. नरेश मेहता – 'दो एकान्त' (प्र० सस्क० १९६४), पृ० ३७.
४ नरेश मेहता–'दो एकान्त', पृ० ८६

व्यक्त किया गया है।"[१] रेखा, पति से सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है। वह शालीन, भावुक, शिष्ट नारी है और पति उसे क्षुधापूर्ति का साधन मानता है; ऐसे व्यक्ति से विलग हो जाती है। भुवन के निकट आती है। उसमें अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति देखती है, परन्तु उससे विवाह न करके डा० रमेश से करती है; फिर भी प्रेम भुवन से ही करती है। रेखा के लिये यह श्रीमतीत्व या किसी की पत्नी होना कोई महत्त्व नहीं रखता, वह तो समाज का आरोपित बन्धन है। इसलिये श्रीमती हेमेन्द्र कहलाना या श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाना बेमानी है, उसके लिये इनका कोई महत्त्व नहीं। वह भुवन को लिखती है—"मैं इतना ही सोच पाती हूँ कि मेरे लिये यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है कि मैं तुम्हारी हूँ केवल तुम्हारी, तुम्हारी ही हुई हूँ और किसी की कभी नहीं, न कभी हो सकूँगी।"[२] रेखा, भुवन से स्थापित सम्बन्धों के लिये कभी ग्लानि अनुभव नहीं करती, न ही सामाजिक वर्जनाओं से सन्त्रस्त है। यौन सम्बन्धों का नवीनीकरण युगीन विशेषता है, जहाँ सामाजिक आग्रहों से मानव अपने को बाध्य नहीं करना चाहता।

अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' की मिसेज माथुर का मत है—"औरत-मर्द का मिलना एक शारीरिक जरूरत है। भूख की तरह सेक्सुअल अर्ज (कामेच्छा) भी एक कुदरती और शारीरिक जरूरत है और उसे पूरा ही करना चाहिये।"[३] माथुर से ऊब जाने पर लन्दन में प्रेम का स्वांग करती है और अन्त में मिस्टर तलवार से विवाह कर लेती है। यौन-आक्रान्त नारी उसकी पूर्ति में सामाजिक औचित्य को नहीं स्वीकारती। आधुनिक काल में यौन पवित्रता के बन्धन ढीले पड़ गये हैं। गिरिराज किशोर के 'चिड़िया घर' की मिसेज रिजवी उच्छृंखल और उन्मुक्त जीवन जीना चाहती है और अशिक्षित पति लतीफ मियाँ को इच्छानुसार नचाती है। वह स्त्री-पुरुष में नैतिकता-अनैतिकता के विभेद को नष्ट कर देना चाहती है।[४] वह अपना काम निकाल लेने के लिये किसी के समक्ष भी समर्पण कर सकती है। अनेक पुरुषों से सम्बन्ध रखना वह प्रगतिशीलता मानती है इस प्रकार की स्त्री के लिये समाज, धर्म, ईश्वर कोई भी बाधक नहीं हो सकता।

पति-पत्नी के स्थापित मूल्यों में विघटन हो रहा है। लोगों ने एक साथ अनेक रूपों में जीना सीख लिया है बाह्य और आन्तरिक जीवन के बीच आज जितना फासला है उतना शायद उससे पूर्व कभी नहीं रहा।"[५]

---

१. नेमीचन्द्र जैन—अधूरे साक्षात्कार, पृ० २२.
२. अज्ञेय – 'नदी के द्वीप' (१९६०) पृ० ३१४
३. अमृतलाल नागर – 'अमृत और विष' (प्रथम संस्करण १९६६) पृ० २१७.
४. गिरिराज किशोर –'चिड़िया घर' (प्रथम संस्करण १९६८), पृ०१३८.
५. शान्ति भारद्वाज – 'हिन्दी उपन्यास : 'प्रेम और जीवन' पृ० २६४.

हिन्दी-उपन्यास साहित्य में नैतिकता के प्रति पश्चिम से प्रभावित नवीन दृष्टिकोण भी आजकल परिलक्षित होता है जिसमे शरीर की अपेक्षा मन की पवित्रता पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इसीलिये 'झूठा सच' में जहाँ विभाजन की विभीषिका की शिकार तारा से मुसलमान बलात्कार करता है वही डा० प्राणनाथ तारा से विवाह कर लेता है। यद्यपि उसे ज्ञात है कि तारा विवाहित है। 'सागर लहरें और मनुष्य' की गर्भवती रत्ना को डा० पाडुरग स्वीकार कर लेता है "नैतिकता की कसौटी शारीरिक अथवा भौतिक कर्म की पवित्रता नही अपितु भावना और विचारों की पवित्रता है।"[1] प्राचीन नैतिक मूल्यों के नष्ट होने से नवीन मूल्यों का विकास हुआ है, जिसमे स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धो मे उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा है। काम-प्रवृत्ति को आवश्यक भूख के रूप मे स्वीकारा जाने लगा है। यौन-स्खलित व्यक्ति के प्रति भी संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा है, जैसे लक्ष्मी नारायण लाल के उपन्यास 'रूपाजीवा' की रूपा बहू सामाजिक दृष्टि से धर्मच्युत है, अपवित्र है, परन्तु समाजशास्त्रीय और मानवीय दृष्टिकोण से सहानुभूति की पात्र है। वह पश्चात्ताप की अग्नि मे स्वयं को जला रही है। लेखक के अनुसार ईश्वर ने मानव को पवित्र और अच्युत बनाया है, यह समाज है जो हमे अपवित्र और च्युत करता है।"[2] इसलिये शरीर से अपवित्र रूपा बहू मन से पवित्र है। शरद के 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी मे मन की पवित्रता का भव्य स्वरूप है।

प्रारम्भ से भारतीय संस्कृति की मान्यता रही है कि शारीरिक यौन-तृप्ति के लिये यौन-व्यापार सामाजिक दृष्टि से घृणित तथा वर्जनीय है, इसीलिये विवाह मे सामाजिक पक्ष प्रबल रहा, जिसमे विवाह का ध्येय धर्म, प्रजनन तथा रति माना है।[3] परन्तु मनोविश्लेषण और साम्यवाद के प्रभाव के कारण स्त्री पुरुष के आकर्षण को स्वाभाविक माना जाने लगा। नारी भी अपनी काम-भावनाओं से उसी प्रकार प्रेरित होकर आकर्षित होती है जैसे पुरुष। युगीन उपन्यासकार इसी का चित्रण करने लगे हैं। स्वच्छन्द प्रेम, यौन सम्बन्ध और रति चित्रण की साहित्य मे अभिव्यक्ति होने लगी है। कलाकार को मानवीय सहानुभूति के साथ मनुष्य की शक्ति एवं दुर्बलता को देखना चाहिये।[4] उदयशंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' उपन्यास मे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर यौन संबधों का वर्णन है। वंशी का पति के अतिरिक्त जागला से सम्बन्ध है। दुर्गा की माँ का अपने दामाद से शारीरिक सम्बन्ध है—"रत्ना को यौन सम्बन्धी छूट उसे जातीय संस्कार के रूप मे मिली है"[5]

---

१. डा० बिन्दु अग्रवाल — 'हिन्दी उपन्यास साहित्य में नारी चित्रण' (१९६८) पृ० २३६.
२ लक्ष्मीनारायण लाल — रूपाजीवा' (प्रथम संस्करण १९५९), पृ० १४७
३ कपाडिया — 'मैरिज एण्ड द फैमिली इन इण्डिया' (१९६६), पृ० १६७
४ शिवनारायण श्रीवास्तव — 'हिन्दी उपन्यास', पृ० ४७७
५. त्रिभुवनसिंह — 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थ' (चतुर्थ संस्करण वि० सं० २०२२), पृ० ४५५.

बम्बई का वैभव उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। मालिक के व्यवहार से ऊब कर उससे विवाह कर लेती है, परन्तु उससे उसे निराशा ही मिलती है। धीरे-धीरे वे आकांक्षाओं की पूर्ति की आशा से उससे सम्बन्ध स्थापित करती है, वहाँ भी निराशा ही मिलती है। फिर नर्स बन जाती है और डाक्टर से प्रेम से विवाह करती है। महानगरों में स्त्रियों का भी जीविका कमाने में योगदान है। वे बाजार में नौकरियाँ करती हैं, इसलिये उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह में भी दहेज की अपेक्षा लड़के वाले को वधू धन (ब्राइड-प्राइस) लड़की के पिता को देना पड़ता है। पुनर्विवाह, पति का त्याग अति सामान्य है।

'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में रांगेय राघव ने नटों की करनट उपजाति में पाई जाने वाली यौन-स्वच्छन्दता का चित्रण किया है। अपनी भूमिका में वे लिखते हैं 'मैंने उनकी नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया। बल्कि पाठकों को अपने देश की ऐसी जातियों के रूप में हालत रखना चाहिये कि वह इनसे होता है। यह सारा मानवहीन समाज और उपेक्षित है शोषित है, न इनके यहाँ सामाजिक नियम शाश्वत है न हमारी नैतिकता के बन्धन ही शाश्वत हैं।'[1] उपन्यास में प्यारी सुखराम से प्रेम करती है। सिपाही की रखैल होने पर भी कोई पाप नहीं मानती। 'तन तो ओढ़ना और बिछौना है, मन की होकर रहना और पाप है।'[2] प्यारी का सदा सुखराम की ही मानती है क्योंकि तन जरूर बटा है उसका मन नहीं। कजरी भी अपने पति से विमुख होकर सुखराम के पास आ जाती है और प्यारी को भी सिपाही के घर से निकाल लाती है। बहुपत्नी प्रथा भी इनकी जातीय विशेषता है।

आधुनिक उपन्यासों में यौन सम्बन्धों का कहीं-कहीं उन्मुक्त वर्णन होने के कारण स्वस्थ चित्रण नहीं हो पाता। नर-नारी के आपसी सम्बन्धों में भी अन्तर विरोधी विचार धारा पाई जाती है। एक ओर तो सामाजिक-राजनीतिक जीवन में सर्वांगीण नारी को पुरुष के समकक्ष माना जाता है, दूसरी ओर उसे मात्र भोग्या। वहीं विकृतियाँ ही उभर कर सामने आती हैं। नारी को स्वस्थ हवा में साँस लेने का अधिकार है यह उपेक्षित नहीं, उसकी मान-प्रतिष्ठा को स्वीकारा जाना आवश्यक है। उसका केवल वासनापरक चित्रण उसके समस्त सामाजिक स्वरूप पर आघात होगा। डा० नगेन्द्र के अनुसार—"नारी में नये प्राण आज तक भी नहीं डाले जा सके। वह अधिकाधिक योनिमात्र होती चली गई है।'[3]

---

१. रांगेय राघव — 'कब तक पुकारूँ' भूमिका (द्वितीय संस्करण १९६०)
२. वही, पृ० ८०
३. डा० नगेन्द्र — 'हिन्दी उपन्यास विवेचन' (प्रथम संस्करण १९६८), पृ० २८४

(ग) वैवाहिक सम्बन्ध

विवाह अति प्राचीन सार्वभौम संस्था है जो प्रत्येक मानव समूह में पाई जाती है चाहे वह सभ्य हो अथवा असभ्य। मानव-सभ्यता के विकास के साथ इसमें परिवर्तन होते रहे हैं। वेस्टरमार्क के अनुसार– 'विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जो प्रथा या कानून द्वारा स्वीकार्य होता है तथा इससे सम्बन्ध दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार और कर्तव्यों का समावेश होता है।' [१] गिलिन तथा गिलिन के अनुसार—'विवाह एक प्रजननमूलक परिवार के संस्थापन की समाज द्वारा स्वीकृत विधि है।' [२] इसमें स्पष्ट होता है कि विवाह स्त्री पुरुष का समाज द्वारा मान्य सम्मिलन है। भारतीय दृष्टिकोण से विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता रहा है। पश्चिम में इसे स्त्री-पुरुष का समझौता मानते हैं। परन्तु सभी संस्कृतियों में विवाह को समाज तथा कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होना आवश्यक माना जाता है। समाज की स्वीकृति के बिना विवाह वैध नहीं माना जाता। समाज की अभिमति के कारण विवाह-सम्बन्धों में व्यक्ति धीरे धीरे गौण होता गया और समाज, परिवार का पक्ष प्रबल होता गया, इसलिए माता-पिता बाल-विवाह, अनमेल विवाह, वधू मूल्य आदि लेने लग तथा दहेज की समस्या भी विकट रूप से सामने आई। पुरुष के तो विवाह सम्बन्धी अधिकार फिर भी सुरक्षित थे, किन्तु नारी की तो गाय की तरह किसी को भी रस्सी पकड़ा दी जाती थी। इससे नारी को जो वैदिक काल में स्वयंवर में वर चुनने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी, समाप्त हो गई और वह अपने अभिभावकों की दया की पात्र बन कर रह गई। परन्तु शिक्षा के प्रचार तथा सामाजिक सुधारों से नारी में चेतना आई। वह अपने अधिकारों के प्रति सजग हुई। नारी-चेतना को उपन्यासकारों ने भी अभिव्यक्ति दी। जैनेन्द्र के उपन्यासों में विवाह को एक सामाजिक संस्था माना गया है, परन्तु इनकी नारी, बुद्धि के वैभव से शून्य नहीं। "विवाह पति को तन देने की व्यवस्था है गृहस्थी चलाने के लिये और बच्चे लाने के लिये उसकी योजना है, परन्तु इस कर्त्तव्य का पालन करती हुई भी नारी मन से स्वतन्त्र है।"[3] परन्तु नारी के लिये *यह सम्भव नहीं कि वह गृहस्थी के सभी कर्त्तव्य पूरे करते हुए मन से स्वतन्त्र बनी* रहे क्योंकि पति गृहिणी की कर्त्तव्य-परायणता से ही संतुष्ट नहीं होता, वह सम्पूर्ण समर्पण चाहता है।

शरद् बाबू के उपन्यासों में पति-प्रेमी द्वन्द्व का चित्रण है, जिसमें नारी टूट जाती है अन्तर्द्वन्द्व के घात-प्रतिघातों में मनोवृत्तियों का स्पष्ट उद्घाटन है। शरद् बाबू के

---

१ Westermark — The History of Human Marriage, Vol I p 6

२ Gillin and Gillin — Cultural Sociology p. 334.

३. डा० रामरतन भटनागर — जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा पृ० १०२

उपन्यासों में कई वात्याचक्र उठा करते हैं। इसी प्रकार जैनेन्द्र की नारी भी आन्तरिक द्वन्द्व से ग्रसित है। एक ओर नारीत्व की माँग है दूसरी ओर पत्नीत्व और मातृत्व की। इसी प्रकार का ऊहापोह मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे' में भी वर्णित है। वह पत्नीत्व के बन्धनों से विद्रोह करती है, परन्तु जब वह उदरामय होती है तो भीतर के द्वन्द्व में ग्रसित हो जाती है। नारी तन और मन के द्वन्द्व से टूट जाती है। जैनेन्द्र समाज को एक आवश्यक संस्था मानते हैं। व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व में व्यक्ति के बलिदान की योजना करते हैं, जिससे सामाजिकता उभर आती है तथा व्यक्तिवाद दब जाता है। समाज के सत्य पर इन के नारी-पात्रों का बलिदान हुआ है। कट्टो आत्मत्याग की महिमा से मंडित होकर विधवा बनी रही, यह उसकी सामाजिक विवशता है। मृणाल' तिल-तिल जल कर समाज की सुरक्षा को ही अपना ध्येय बना लेती है। "समाज टूटा तो हम टूट जायेंगे।"[1] मृणाल अपनी पीड़ा को अपने में ही लिये संसार से विदा हो जाती है। परन्तु जैनेन्द्रजी के पीड़ा-दर्शन से समाज में कोई परिवर्तन नहीं आ सकता, क्योंकि यह पात्रों का व्यक्तिगत उलझनी है चाहे इससे जैनेन्द्रजी ने समाज के चौखट पर आघात किया है, जिससे उसकी नींव ढीली हुई है, परन्तु वे कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाये। पात्रों का असफल विद्रोह और दार्शनिक ऊहापोह समाज का कोई कल्याण नहीं कर पाता न ही कोई क्रान्तिकारी परिवतन ही लाने में सहायक है। समाज की मर्यादाओं का उल्लंघन करना व्यक्ति के लिये बहुत कठिन है। मानव ने स्वयं समाज, सभ्यता, संस्कृति बनाकर अपनी स्वच्छन्दता की सीमा निर्धारित कर दी है, जिन से परे वह नहीं जा पाता। मर्यादाविहीन समाज यौन- स्वतन्त्र्य (Promis cuty) की प्रकृत अवस्था की ओर उन्मुख हो जायेगा, इसे जैनेन्द्र भी स्वीकार करते है, इसीलिये कल्याणी और मृणाल (त्यागपत्र) का समाज के हित में बलिदान करते प्रतीत होते हैं।

जैनेन्द्र ने शरत् के समान सुनीता', 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' में इस प्रश्न को उठाया है सतीत्व बड़ा है कि नारीत्व। नारी मूलतः करुणामयी, क्षमामयी है। वह ज्योति की तन्वी दीप शिखा के समान स्वयं जल कर भी पथ आलोकित करना चाहती है। उसका आत्मदान ही नारीत्व है। सतीत्व सर्वोच्च आदर्श है परन्तु कभी-कभी मनुष्यत्व की पुकार के समक्ष उसका नारीत्व-भाव प्रकट हो उठता है। यही कारण है कि देवदास के प्रति पार्वती के अनुराग को चाहे समाज उचित न माने परन्तु उसका सतीत्व- व छोटा नहीं है मानवता की वेदी पर वह दीपशिखा-सी अखण्ड देदीप्यमान है। इसी भाव को जैनेन्द्र ने अपने उपर्युक्त उपन्यासों में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। पत्नी के जीवन में यदि अप्रत्याशित प्रेम आ जाये तो पति के कर्त्तव्य का उल्लेख लेखक ने किया है। 'विवर्त' में जितेन जब भुवनमोहिनी से विवाह के पश्चात् याचना करता है तो उसे वह ठुकरा नहीं पाती। जैनेन्द्र ने पति नरेश को इतना उदार बनाया है कि वह अस्वाभाविक लगता है।

---

१. जैनेन्द्र – 'त्यागपत्र', (१९५०), पृ० ६०.

व्यावहारिक जीवन मे यह अव्यावहारिक उदारता दिखाई नहीं देती। लेखक ने यह भी इ गित किया है कि नारी प्रत्येक स्थिति मे प्रेम करने के लिये स्वतत्र है परन्तु सामाजिक तथा वैवाहिक बन्धन उसे स्वतत्रता नही देते। यदि कभी उसका अन्त स्रोत उमड कर अपनी व्यक्तिगत प्रसन्नता चाहता है तो वैवाहिक बन्धन उसकी शान्ति को नष्ट करने का प्रयास करते हैं। शरत् के उपन्यासों मे भी जब कभी ऐसी स्थिति आई है तो नारी की अन्त प्रवत्ति रास्ता न पाकर टूट टूट गई है, परन्तु उसके टूटने मे बडा दर्द है जिससे पाठक विक्षोभ से भर उठता है। 'गृहदाह' मे इसी पीडा की कराहट है जो पाठक के अन्तरतम को छू जाती है। शरत पर हार्डी की वैवाहिक विडम्बना का प्रभाव है तथा मोपासा से भी वे प्रभावित हुए हैं। शरत् पापी को भी घृणा का पात्र नही मानते, उसकी चारित्रिक विशेषताओं को देखते हैं। नारी के प्रति उनका उदार दृष्टिकोण है 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी का स्वरूप अद्वितीय है।

जैनेन्द्र नारी के प्रति उदार एव विस्तृत दृष्टिकोण रखते हैं, पर अधिक दार्शनिकता म उलझे रहते है अन्तर्जगत के चित्रण मे शरद की सी इन म मार्मिकता नही उभर पाई। शरद मानते हैं कि नारी का जागृत मनुष्यत्व या नारीत्व महाप्राण प्रमी के जीवन की असार्थकता दखकर बोझिल हो उठता है। लेखक न प्रमी पात्रों को बडी सहृदयता से उभारा है और वह सहज ही हमारी सहानुभूति पा जाते हैं। जब नारी आत्मदान करके भी उन्ह नही उबार पाती तो हम करुणा से भर उठते हैं। यह महाप्राणता जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न लाल तथा जितेन (क्रमश 'सुनीता' 'सुखदा', 'विवर्त') म दृष्टिगत नही होती।

रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र, नारी जीवन की द्वैध स्थिति को स्वाभाविक मानकर चलते हैं। वैवाहिक जीवन की विडम्बना का चित्रण 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' म जैनेन्द्र ने किया है, परन्तु शरत के उपन्यास 'शेष प्रश्न' की कमल जैसी तेजस्वी नायिका कोई नही बन पाई जो पद दलित नारी का मार्ग प्रशस्त कर सके। यही कारण है कि प० बालकृष्ण भट्ट ने भी बगला भाषा की प्रशसा उसकी नाटक और उपन्यास समृद्धि मे प्रभावित होकर की है।[1] द्वैत को जैनेन्द्र न भी बर्नार्ड शा की तरह दार्शनिकता मे बाधने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र नारी के प्रेयसी पक्ष को लेकर चले हैं जबकि प्रेमचन्द मातृत्व पक्ष को। सामाजिक मान्यता के आधार पर विवाह के उपरान्त नारी किसी अन्य को प्रेम करने के लिये स्वतत्र नही है, परन्तु जैनेन्द्र के उपन्यासों कल्याणी', 'सुनीता', 'सुखदा', आदि में किन्ही कारणो से वह इस बन्धी हुई मर्यादा की लक्ष्मण रेखा को तोडने के लिये अनिमानवीय भाव से प्रेरित होती है, जिसे लेखक ने मानव की सहज प्रवृत्ति मानकर उसके साथ सहानुभूति दिखाई है। जैनेन्द्र के त्यागपत्र' उपन्यास की मृणाल के अन्तर्जगत के भावो का पूर्णतया प्रस्फुटन

---

१. डा० राजेन्द्र शर्मा — हिन्दी गद्य के निर्माता बालकृष्ण भट्ट, (प्र० स० १९५८), पृ० ४३

नहीं हो पाया परन्तु वह प्रेम की गरिमा के लिये कलक, निन्दा, दुःख सभी सह लेती है, फिर भी वह पहेली भी बनी रहती है ।[1] जैनेन्द्र नियतिवादी दर्शन का सहारा लेते हैं, जो कभी-कभी अव्यावहारिक हो जाता है। नारी को समाज की आधारशिला मानते हैं, जिसकी मुक्ति सामाजिक विकास के लिये आवश्यक है । उनकी कट्टो, सुनीता मृणाल, कल्याणी, सुखदा, भुवनमोहनी, अनिता – नारी की कारुणिकता की प्रतीक हैं। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में "तन-मन के द्वन्द्व के समाधान के लिये यह व्यक्त किया है कि पति को पत्नीत्व देकर भी प्रेमी को नारीत्व तो दे ही सकती है, जो उसकी प्रेरणा बन सके।"[2] परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सम्भव हो सकता है, क्या पति, परिवार समाज को यह सह्य होगा? व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं, परन्तु यह सत्य है कि प्रताड़ित तथा सन्तप्त नारी के मन में ऐसी भावना का उद्रेक हो सकता है कि वह आत्मिक स्नेह देकर प्रेमी की प्रेरणा का स्रोत बन सके। डा० रामरतन भटनागर का भी यह मत है कि – 'प्रेमी और पति के द्वन्द्व के समाधान के लिये, विवाह की समस्या को लचकीला होना जरूरी है, परन्तु आर्थिक, सामाजिक, नैतिक प्रश्न इस समस्या के साथ जुड़े हुए हैं इसलिये मनोवैज्ञानिक होने पर भी अन्त: मन की उदारता के लिये इस समस्या का समाधान कठिन है। जैसे 'विवर्त' में भुवनमोहनी, प्रेमी जितेन से विद्रोह कर नरेश से विवाह कर लेती है, परन्तु चार वर्ष बाद जब जितेन गाड़ी उलटने के बाद उसके पास आश्रय पाता है तो उसका विद्रोह गल जाता है और भुवनमोहिनी पति और प्रेमी के बीच झूलने लगती है।

नारी के इस द्विविध रूप की विवेचना कवि ठाकुर की कुछ कविताओं में होती है। नारी प्रेममयी, मातृत्वमयी है और ये दोनों वृत्तियाँ हर नारी में एक अनुपात में नहीं होतीं, किसी में एक की प्रधानता है किसी में दूसरे की। एक में अधिकार है, दूसरी में प्रतिदान जैनेन्द्र पति के प्रति अधिकार और प्रेमी के प्रति सेवा, स्नेह का समाधान प्रस्तुत करते हैं, परन्तु यह सामाजिक सदेश के रूप में नहीं अपनाया जा सकता जब तक कि रूढ़िग्रस्त विवाह और परिवार की संस्था है। जैनेन्द्र के शब्दों में –"दुनियाँ में कई पर्त्त हैं और आदमी में कई आदमी। वह जो दीखता है, प्रतीत होता है इससे वह है भिन्न। हमारा सत्य और स्नेह बटा हुआ है, यही विडम्बना है, जिसे हम सत्य अथवा व्यवहार (अथवा सामाजिक व्यवस्था) के लिये अपनाते हैं, उसे हम अपना स्नेह नहीं दे पाते और जिससे स्नेह सम्बन्ध जुड़ता है उसमें सत्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। वास्तव में यह गहरी अव्यवस्था जीवन को अभिशप्त

---

१. पदमलाल पुन्नालाल बख्शी — हिन्दी कथा साहित्य, पृ० १०२.

२. डा० रामरतन भटनागर — जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा, (१९५८), पृ० १२९.

बना देती है। हम भीतर के सत्य को बाहर करना नहीं चाहते और अपने स्नेह सम्बन्धो की पवित्रता आन्तरिकता, का स्वीकार नहीं कर पाते।[1]

मानव के लिये स्नेह और सत्य दोनो आवश्यक है, परन्तु इसका योग बडी कठिनाई से होता है। "स्नेह उसका (मानव का) जीवन है, सत्य उसका जीव्य-दानो के बिना वह कही नहीं है, लेकिन दोनो का मेल जो पूरी तरह नहीं बैठ पाता यही उसकी समस्या है।[2] हम जिससे प्रेम करते हैं, जगत व्यवहार के कारण उससे (सत्य से) भागते हैं, यही अवस्था जितेन और भुवनमोहिनी की है। एक जेल और फांसी की यातना का भाग क्रान्तिकारी बन कर अपनाता है, दूसरी नरेश (पति) की उदारता के कारण घर को चलाए है, परन्तु टूट गई है। मनुष्य जब अपने भीतर के स्नेह का अस्वीकारता है लोक एव शास्त्र की व्यवस्था लेकर चलता है, तो यही होता है, क्योंकि वह अपने से भागता है और अपने से भाग कर बहुत दूर जाया नहीं जा सकता।[3]

नारी के लिये अपने प्रिय पात्र को भूल जाना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। वह उस अंगारे की तरह है जिस पर राख की परत आ जाने से उसे बुझा हुआ समझ लिया जाता है, परन्तु उसके भीतर की धधकती आग उसे तिल तिल कर भस्म कर रही है, उसे कोई नहीं जान पाता। वैवाहिक जीवन में इस प्रकार की विरोधी स्थितियाँ जीवन को दुरूह बना देती हैं। 'व्यतीत' उपन्यास का जयन्त, शरत् के श्रीकान्त के अनुरूप अतिम नवीय है वह अनिता के प्रति प्रेम की पीर को स्वायं निष्फल बना रहता है। शास्त्र विधि विवाह के समक्ष प्रेम हार जाता है, परन्तु उस हार मे भी प्रेम की उज्ज्वलता है, साथ ही टूटने का घोर अवसाद भी।

जैनेन्द्र के उपन्यासो मे हार्डी की तरह वैवाहिक विडम्बनाये है, प्रेम की पुकार अनसुनी नहीं की जा सकती। इस प्रकार परकीया रति इन उपन्यासो की विशेषता है। नये उपन्यासकार यह मान कर चलते है कि परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्व से कहीं बड़ा है।'[4] इसी बात को लक्ष्मीनारायण लाल ने 'मन वृन्दावन' मे अभिव्यक्त किया है। सुगन तथा सुबन्धु का परस्पर आकर्षण लेखक ने सहज बनाया है। सुगन इस प्रेम मे कोई कालुष्य नहीं मानती। वह कहती है "राधा व्याहता थी। व्याहता होकर कृष्ण से प्यार किया, प्यार क्या एक ही होता है बहुत तरह का प्यार होता है -- हो सकता है, प्यार बटा हुआ भी हो सकता है। कभी-कभी कुल्टा का प्यार सौ-सौ सुहागिनों से भी बढ़कर होता है। हर प्यार का एक अलग मन्वतर है, जीवन है वह चाहे

---

१. डा० रामरतन भटनागर -- जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा, पृ० १३७-३८
२ वही, पृ० १३८
३. वही पृ० १३९
४ वही, पृ० १७२.

जिस रूप में पैदा हुआ हो, चाहे जिसके भी लिये हो और वह सब पुण्य है ... शिव है वही।"[1]

लक्ष्मीनारायण लाल भी जैनेन्द्र के विचारों को इस प्रकार मान्यता देते जान पड़ते हैं कि मानव मन विभिन्न भावों का आगार है, उसे सामाजिक रूढ़ियों से बाँध कर प्रायः निर्जीव नहीं किया जा सकता। आदिम समाज में स्त्री वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में पूर्णतया स्वतन्त्र थी, उस पर कठोर सामाजिक अनुबन्ध नहीं थे। द्रौपदी के पाँच पति थे परन्तु आवश्यक नहीं था कि सभी के साथ उसका समान प्रेम हो। आधुनिक काल में बहु पति विवाह हेय माना जाता है। एकल विवाह की प्रथा के कारण निम्न-जातियों में भी बहु-विवाह प्रथा समाप्त हो रही है। मध्यवर्गीय परिवारों में अधिक संकीर्णता पाई जाती है। स्त्री यदि किसी अन्य पुरुष से मेल-जोल, केवल सहज मैत्री के लिये, रखना चाहती है तो उसे अनुचित माना जाता है। सामाजिक आधार पर अभिजात्य वर्ग (हायर सोसायटी) में मैत्री-भावना पाई जाती है। अभिजात्य वर्गीय नारी क्लब, पार्टी आदि में जाती है, वहाँ पुरुष वर्ग से सम्पर्क होता है, उसमें मैत्री भावना पाई जाती है परन्तु मध्यवर्गीय तथा निम्न-मध्यवर्गीय समाज में मैत्री भावना को विशाल दृष्टिकोण से नहीं अपनाया जाता, मन की संकीर्णता वहाँ व्याप्त रहती है।

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'मन वृन्दावन' में हिरण्मयी तथा सुगन अपने-अपने दृष्टिकोण से सुबन्धु से प्यार करती हैं। दोनों का प्रेम परिस्थितिजन्य है, परन्तु दोनों के प्रेम का स्वरूप भिन्न है। हिरण्मयी विवाह से पूर्व ही सुबन्धु से प्रेम करती है, फिर विवाह सुभाष बाबू से हो जाता है फिर भी सुबन्धु को भूल नहीं पाती। वह मानती है—"एक बार दिया हुआ मन क्या फिर किसी और को दिया जाता है।"[2] सुबन्धु भावुक हृदय युवक है। क्षयरोग से ग्रसित है। इसका उसे स्वयं दुःख है कि वह भावुक क्यों है—"भावुकता तो सिर्फ चिता में जल कर राख होती है, वरना वह सारी जिन्दगी खाक कर देती है।"[3] वह सुगन के कारण मथुरा से भाग लेता है, परन्तु हिरण्मयी को देख कर भाग जाना चाहता है। यादों के साये उसे विह्वल कर देते है; वह सोचता है—"कोई चीज मरती नहीं क्या? सिर्फ उसका रूपान्तर ही होता है क्या?"[4]

सुगन की सुबन्धु पर अपार ममता है। उसे सुबन्धु पर अपूर्व विश्वास है। यही रूप उसका महान् है, जिसे देखकर पतिराम (बहंगी उठाने वाला नौकर) एक दिन सुगन की चरण धूलि माथे पर लगाते हुए कहता है— 'बहू तुम धन्य हो, तुम उस

---

१. लक्ष्मीनारायण लाल–'मन वृन्दावन', पृ० ५०.
२. वही, पृ० ७५.
३. वही पृ० ८४.
४. वही, पृ० ८५.

सुबन्धु को इतना माननी हो, पतिव्रता होकर इस सुबन्धु के प्रति तुम्हारी इतनी ममता !"[1] सुगन कहती है--"किसी स्त्री के कारण ही उसकी दी हुई चोट के घाव की वजह से आज ऐसा हुआ है। मैं भी एक स्त्री हूँ सोचती हूँ कि मैं अपने माध्यम से उसे जीवन का नया अर्थ दूँगी। यही होगी मेरी सार्थकता।"[2]

सुगन के हृदय की विशालता को जाना है पतिराम ने। उसका अपना जीवन भी सुगन के भव्य व्यक्तित्व से परिवर्तित हो गया है। उसने यह जाना है कि विश्वास देना और पाना क्या होता है। विश्वास के आगे की दुनिया भी इसी सुगन बहू ने दिखाई है। परन्तु, समाज में ऐसे कितने होंगे जो सुगन के इस अनन्य स्नेह को उदारता से ग्रहण करें। सामाजिक दृष्टि से निर्धारित सम्बन्धों में इस सहज प्रणय सम्बन्ध का कहाँ स्थान है ? उसके संकीर्ण दायरे में यह विशाल दृष्टिकोण अपेक्षित नहीं। सुगन का जीवन-दर्शन है 'मन का सच'। मन का सच ही सब कुछ है और यही सच जब धोखा दे जाये तो फिर क्या जीना--हाँ जी, ठाठ से आये थे ठाठ से चले गये। अपने को मलिन क्या करना। वह अपने को मलिन नहीं करती। उसका संशयहीन प्यार था परन्तु सुबन्धु का संशय, झूठ जब देख लेती है तो स्वयं जल जाती है, क्योंकि उसमें मारने की शक्ति नहीं है, सिर्फ मरने की शक्ति है।[3]

हिरण्मयी मानो मन में ही यात्रा कर रही है-जीवन एक यात्रा है। सुगन ने भी कहा है—"एक यात्रा से दूसरी यात्रा शुरु होती है। यात्रा का अन्त नहीं।"[4] जीवन-यात्रा में अन्तर्मन की असंख्य यात्राएँ होती हैं, जो सामाजिक नियन्त्रण के कारण केवल मन में ही चलती रहती हैं। जैनेन्द्र के अनुरूप लक्ष्मीनारायण लाल ने भी इन दो नारियों--हिरण्मयी और सुगन--के माध्यम से यह स्पष्ट किया है। यदि किन्हीं कारणों से अपनी सहज ममतामयी प्रकृति के कारण कोई नारी किसी पुरुष को अपना स्नेह-भाजन बना लेती है तो वह कलुषित कदापि नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों का मोह नहीं है, वहाँ तो मन की निश्छल पावन पकड़ है।

वैवाहिक सम्बन्धों की विडम्बना पर नरेश मेहता ने अपने उपन्यास 'दो एकान्त' में प्रकाश डाला है। वानीरा तथा विवेक पति-पत्नी होते हुए भी अपने स्वभाव की विचित्रता के कारण एक दूसरे से नितान्त एकाकी हो गये हैं। "एक अगम्यसिन्धु दो एकान्तों के बीच आ खड़ा हुआ है।"[5] वानीरा जीवन की एकरसता से ऊब गई है। वह मिस्टर क्लाइड से प्रभावित है, परन्तु आकर्षित मेजर आनन्द के प्रति होती है। मेजर के लद्दाख मोर्चे पर जाने के बाद इलाहाबाद से वापस, पुरी,-वानीरा और

१. लक्ष्मीनारायण लाल, 'मन वृन्दावन', पृ० १३४.
२. वही, पृ० १३४.
३. वही, पृ० १८६.
४. वही, पृ० २०६
५. नरेश मेहता-'दो एकान्त', पृ० ३७.

विवेक पा जाते हैं, परन्तु दोनों का एकान्त नहीं टूटता। वानीरा को देखकर कोई भी कह सकता था कि 'यह अनरियाजी अनकसी सितार है जो अपने सारे स्वर, राग खो चुकी है। अजीब खामी-खामी-सा व्यवहार, कुम्हलायी आँखें उनींदा बिलोकना ऐसा उसमे समा गया था कि उससे कुछ भी पूछना, उसकी ओर देखना तक उसे दुःख देने लगता है।''[1] "कुछ लोग वाणी से अधिक आँखों से बोलते हैं। ऐसा बोलना मुख से बोले गये से कितना अधिक सार्थक होता है।''[2] वानीरा की मूक पीड़ा को विवेक अनुभव करता है। उसकी मनःस्थिति अच्छी तरह जानता है, फिर भी अपने को सायास उस पर थोपे हुए है। वानीरा ने तो कभी नहीं चाहा कि उसे उस अनुपयोगी चीज की तरह घर में सजा कर रखे जो चूर-चूर हो गया है, परन्तु फ्रेम में जड़े होने के कारण बिखरता नहीं। घर लगभग एक उदास जूठ बर्तन-सा हो गया है। घर वही था, चीजें वहीं थीं, लताएँ—फूल और नो और हवाएँ तक वही थीं, पर व्यक्ति बदल गये थे। कोयला जैसे क्रमशः बुझता है कि स्वयं उसके बुझ जाने पर भी आवरण की राख काफी देर तक गरम रहती है और जब तक कोई तेज हवा आकर उसे नहीं हिला जाती तब तक पता ही नहीं चलता कि वह जल रहा है या बुझ चुका है, बल्कि आग का आभास देता है।[3] वानीरा के जीवन की निस्सारता की अभिव्यक्ति उसके मौन निरीह भाव से हो रही है। उसे हर बीता हुआ क्षण कितना सालता है, इसे विवेक जानता है- 'जब हम वाणी से नहीं बोल रहे होते पर हमारी देह का अंग प्रत्यंग अपने ढंग से अभिव्यक्त कर रहा होता है।''[4] इन भावों से भिन्न होते हुए भी विवेक अपने में कृष्ण-भाव पाले है। वह अन्त में कहता है—'मैं उस रथ की रक्षा कर रहा हूँ जिस पर अर्जुन बैठा था इसीलिये पहले अर्जुन को उतारता है, क्योंकि कृष्ण के उतरते ही वह जल उठेगा।'' यह भाव विवेक का अपना है, वानीरा इस संरक्षण भाव के लिये तैयार नहीं; वह नहीं चाहती कि अपने को मिटा दे। वानीरा के मनोभावों का प्रस्तुतिकरण लेखक ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। डा० सावित्री सिन्हा का कथन है-"जैनेन्द्र के हाथों वानीरा न जाने कितनी बार अनावृत होती, इलाचन्द्र उसे मेन्टल पेशेन्ट बना देते और शायद घुटन और कुंठा को युग-बोध मानने वाले नये लेखक उसके चारों ओर धुँए और कुहासे का घटाटोप चढ़ा देते, किन्तु नरेशजी की शैली ने सभी स्थितियों को उनकी प्रखरता और तीक्ष्णता के साथ प्रस्तुत किया है, जो अति यथार्थ होते हुए भी असुन्दर नहीं होने पायी है।''[5] इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों की टूटन को मानवीय धरातल पर आँकने की प्रवृत्ति युगीन

---

१. नरेश मेहता 'दो एकान्त', पृ० १३७.
२. वही, 'नदी यशस्वी है', पृ० ३५.
३. नरेश मेहता, 'दो एकान्त' पृ० १३७.
४. नरेश मेहता—'नदी यशस्वी है', पृ० १९१.
५. डा० सावित्री सिन्हा—'नदी यशस्वी है' के परिचय से (आवरण पृष्ठ)

उपन्यासकारों की विशेषता है। वैवाहिक सिद्धान्तों की नवीनता के दर्शन रावीजी के उपन्यास 'नये नगर की कहानी' में भी होते हैं। इसमें एक ऐसे नगर का चित्रण है जहाँ पति का पत्नी पर पत्नी का पति पर, पिता का पुत्र या पुत्री पर किसी पर कोई अधिकार न होगा; प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और धारणा के अनुसार रहने और बरतने के लिये स्वतन्त्र होगा। संयम, साधना और सदाचार का अथवा मुक्त स्वच्छन्द विहार का जो व्यक्ति जैसा भी चाहे वैसा जीवन बिताने के लिये स्वतन्त्र होगा।[1] लेखक के अनुसार यौन-अतृप्ति का कारण यौन-सम्पर्क की कमी नहीं बल्कि उसके मार्ग में दीखने वाले प्रतिबन्ध ही होते हैं। ये प्रतिबन्ध लोकमत के लगाये हुए भी हो सकते हैं और स्वयं अपने लगाये हुए भी।[2] रावीजी यौन-आकर्षण के मार्ग में समाज द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धों को हटा देना नई व्यवस्था में हर एक के लिए आवश्यक मानते हैं। हो सकता है इनकी इस विचारधारा से बहुत से लोग सहमत न हों। समाज के प्रतिबन्धों को हटा देने से समाज में अव्यवस्था फैल जायेगी, परन्तु यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिस पर जितना प्रतिबन्ध लगाया जायेगा वह उतना ही विद्रोह करता है। यदि किसी वस्तु की प्राप्ति में आशंका रहती है तो लोग उसे अधिक संचित (होर्ड) करते हैं, उन्हें यह भय बना रहता है कि यदि अभी एकत्र न कर ली तो फिर उपलब्ध नहीं होगी। यदि समाज के अनावश्यक प्रतिबन्ध नहीं होंगे तो लोगों का दृष्टिकोण स्वस्थ रहेगा, वे स्वयं ही अपनी भावनाओं को नियन्त्रित करने के अधिकारी होंगे। परिवार तथा समाज के प्रतिबन्ध एक सीमा तक ही व्यक्ति के सहायक होते हैं। अनावश्यक दबाव विस्फोट का कारण हो जाता है, वैवाहिक सम्बन्धों में पहले नारी को सदैव अपेक्षित स्थान नहीं दिया जाता रहा है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में स्त्री समर्पिता है, पर उसके दान को सामाजिक मान्यता नहीं दी जाती थी, बल्कि कभी-कभी नैतिक आग्रहों में बन्दी नारी उत्सर्ग करके भी अपरिपूर्ण रह जाती है। यही कारण है कि आज की परिवर्तित परिस्थिति में नारी अब अपने प्रति सजग है, वह अपना एक व्यक्तित्व समझने लगी है और उसी की सुरक्षा हेतु उसका संघर्ष है। सदियों से रूढ़िग्रस्त समाज इसे चाहे हेय माने, परन्तु शिक्षा के विकास के कारण अधिकारों की सजगता उसे निरीह प्राणी की तरह जीवित रहने के लिये अब बाध्य नहीं कर सकते पति चाहे दुराचारी, अन्यायी हो, उसके प्रति पति-भक्ति स्त्री के लिये आवश्यक है—इस भावना का लोप होने लगा है। विवाह, जो जन्म-जन्मान्तर का बन्धन माना जाता था और स्त्री को एकनिष्ठ हो तन, मन समर्पित करना अनिवार्य था, उससे विमुख होने पर नारी को समाज हेय दृष्टि से देखता था, परन्तु आधुनिक उपन्यासकारों की चिन्तनधारा फ्रायड से प्रभावित है, जो चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन तथा अर्द्ध-चेतन से मानवीय भावनाओं का संचालन मानते हैं। नारी के सहज स्वाभाविक आकर्षण को लक्ष्मीनारायण लाल ने 'मनवृन्दावन' तथा 'नरेश मेहता के दो एकान्त' में

१. रावीजी—'नये नगर की कहानी', पृ० १२३.
२. वही, पृ० १४१.

चित्रित किया गया है। मनोविज्ञान के प्रभाव से नारी के व्यक्तित्व की प्रतिस्थापना की जाने लगी है और नर-नारी के प्रेम में उन्मुक्तता आई है। विवाह संस्था परिवार संस्था पर निर्भर है और पहले विवाह धार्मिक संस्था माना जाता था और नारी के लिये आर्थिक सुरक्षा के लिये विवाह अनिवार्य था। पर आज नारी इसे जीवनयापन का एकमात्र साधन नहीं मानती। आधुनिक नारी पति को शासक के रूप में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं, न ही परिवार के लिये अपने स्वार्थों का बलिदान करने के लिये तैयार है। इस तथ्य के कारण नारी का अधिक शोषण हुआ है, इसलिये युगीन उपन्यासों में अविवाहित नारियों के दर्शन होते हैं। 'एकोगी नहीं राधिका', 'लाल दीवार नौवन सर्ग' में अविवाहित नारियों के दर्शन होते हैं। वैवाहिक संस्था के प्रति विद्रोह के कारण स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तन आया है। घर से बाहर काम करने के कारण सदियों से अबला समझी जाने वाली नारी में स्वावलम्बी भाव जागृत हुआ। वैवाहिक संस्था का विरोध 'दादा कामरेड' की शैल, 'वैसाखियों वाली इमारत' की मिस जायस इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास पर्दे की रानी' की निरंजना आदि करती हैं। परम्परागत विवाह को सामाजिक बन्धन न मानकर व्यक्तिगत समझौता मानते हैं। वे असन्तुष्ट दुःखमय विवाहित जीवन को बनाये रखना उचित नहीं मानते। 'तारा' और 'कनक' दोनों ही प्रथम विवाह से असन्तुष्ट हैं, इसलिये नवीन सम्बन्ध स्थापित करती हैं। कनक की साहसिकता, स्वच्छन्दता, विद्रोहशीलता तथा दृढ़ता अपनी सीमा से बाहर होकर लेखक के सत्य निरूपण के ग्राम आती है। कनक की पति से विरक्ति को लेखक ने सहानुभूति प्रदान करके जड़ नैतिकता का विरोध करना चाहा है।[1]

इस उपन्यास में लेखक ने चित्रित किया है कि 'किस प्रकार रूढ़िवादी समाज परिस्थितियों की चपेट खाकर बिखर रहा है किन्तु फिर भी अपने आपको उनके अनुकूल नहीं ढाल पाता। अपने खोखले आदर्शों से चिपका रहना चाहता है। नई पौध में भी अपनी सारी शिक्षा के बावजूद स्त्री-पुरुष का भेद कितना सत्य है। पुरुष अपने लिये जो स्वतन्त्रता चाहता है, उसका स्त्री के लिये निषेध करता है।"[2] पति-पत्नी के बदलते सम्बन्धों का चित्रण 'एक इन्च मुस्कान' में यथार्थ बन पड़ा है। रंजना अमर पर अनुरक्त है अतः विवाह कर लेती है, परन्तु जब उसे अमर का झुकाव अमला के प्रति नजर आता है और उसे अपने प्रति ईमानदार नहीं पाती तो झटके से सम्बन्ध तोड़ देती है और दूसरे शहर में जाकर नौकरी करने लगती है। रंजना सुसंस्कार जड़ित स्त्री है, वह पति का किसी अन्य स्त्री से सम्बन्ध रखना सहन नहीं कर सकती। उसकी मान्यता है कि स्त्री-पुरुष के मध्य मित्र का कोई सम्बन्ध

१. इन्द्रनाथ मदान – 'आज का हिन्दी उपन्यास' (१९६६), पृ० ८५.
२. महेन्द्र चतुर्वेदी – हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण (१९६२), पृ० १४५.

नही होता है।"[1] रजना अमर के जीवन मूल्यो को समझ नही पाती और अनासक्ति बढती जाती है और अन्त मे उन्हे बिलग होना पडता है। नारी आज अमाना व आरोपित सम्बन्धो को बनाये रखना नही चाहती। जब तक वह अमर पर अनुरक्त है उसके लिये सब कुछ करने को तैयार है, अपने मानापमान की भी चिन्ता नही करती। लेकिन यह विश्वास हो जाने पर कि अमर उसके प्रति ईमानदार नही है, उसका झुकाव अमला की ओर है, वह उससे विमुख हो जाती है। पति-पत्नी के बदलते सम्बन्धो का इस उपन्यास मे यथार्थ चित्रण है।

अमला का मन वैवाहिक जीवन के कटु अनुभव से विषाक्त हो गया है। उसके पिता दूसरा विवाह करने की राय देते हैं परन्तु वह कह देती है—"मैं इतनी निबल और निरीह नही हू कि जीवन बिताने के लिये कोई सहारा चाहिये।"[2] वह जीवन मे भटकन को सह सकती है, परन्तु किसी बन्धन के दुराग्रह को स्वीकार नही करती। वह कहती है —"विवाह एक फन्दा है जो प्यार का गला घोट देता है।"[3] विवाह आज समझौता है और इसके सिवा कुछ हो भी नही सकता। जब आपस मे यह ग्रु जाइश नही रहेगी, यह समझौता टूट जायगा।[4] आज वैवाहिक सम्बन्धो मे नारी को सती-साध्वी के आदर्श की दुहाई देकर उसके जीवन को दुवह भार स्वरूप नही बनाया जा सकता। लक्ष्मीकात वर्मा ने भी 'एक कटी हुई जिन्दगी एक कटा हुआ कागज' उपन्यास मे विच्छिन्न मान्यताओ, टूटी जिंदगियो का अंकन किया है। दीप्ति और केवल वैवाहिक बन्धन मे बँध तो गये हैं, परन्तु दीप्ति का केवल (पात्र) उद्दाम वासनाओ के कारण हिंसक लगता है। "वह जानती है केवल उसे बहुत चाहता है परन्तु यह चाहना महज एक प्यास है।"[5] जीवन के रगीन सपने बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो गये थे। जिस 'केवल' के लिये उसने अनगिनत स्वप्न बन ये थे, वह केवल एक तीखी प्यास की तराश बन कर रह गया था।[6] केवल, शराब मे सराबोर बलवा मे मस्त रहता है, उसके इस पशु जीवन से दीप्ति को घृणा थी। इसी से अपने टूटे मन को ले वह 'केवल' को छोड कर पहाडी स्थान पर रहने लगती है और दोनो यह समझौता कर लेते हैं कि एक दूसरे से अलग रहेगे। यदि मिलेगे तो एक मेहमान की तरह चन्द लम्हो के लिये। वैवाहिक बन्धन का कोई आग्रह नही रहता दोनो के लिये। "ये रिश्ते और उसके मतलब बहुत कुछ जीवन पद्धति पर निर्भर करते हैं। पिछले तीन वर्षों से जो वह जीवन बिता रही है उसमे कहीं भी तो

१. राजेन्द्र यादव तथा मनु भण्डारी – 'एक इन्च मुस्कान' (१९६३), पृ० २२१.
२. वही, पृ० १११.
३. वही, पृ० १५०.
४. राजेन्द्र यादव – 'उखडे हुए लोग', पृ० १६.
५. लक्ष्मीकान्त वर्मा – 'एक कटी हुई जिन्दगी एक कटा हुआ कागज, (१९६५), पृ० १५१.
६. वही, पृ० १३७.

नहीं आना केवल।[१] दीप्ति को यह बेमानी व्यवस्था पसन्द नहीं. उससे वह विलग हो जाना चाहती है। 'केवल' से दूर हो कर वह नायक के सम्पर्क में आती है। 'केवल' वापस ले जाने का प्रस्ताव भी करता है, परन्तु वह स्वीकार नहीं करती। जिस नवीन जीवन से वह सम्बन्धित हो गई है उसी में संलग्न रहना चाहती है। दीप्ति, केवल के जीवन के साथ कहीं सादृश्य नहीं देखती, इसीलिये लँगड़े और टूटे हुए सम्बन्धों को बनाये रखने में उसे कोई औचित्य दिखाई नहीं पडता। अपने व्यक्तित्व और अहम् की बलि देकर वैवाहिक बन्धन की थोथी मान्यताओं के समझौते को बनाये रखना वह मूर्खता समझती है। *परिवर्तित मूल्यों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अवलोकन* करने पर ज्ञात होता है कि विवाह एक अटूट सम्बन्ध नहीं है। विरोधी परिस्थितियों में इससे मुक्त हुआ जा सकता है, इसलिये दीप्ति भी 'केवल' की वासनापूर्ति का केवलमात्र साधन बन कर नहीं रहना चाहती क्योंकि भावात्मक सम्बन्धों को वह शारीरिक सम्बन्धों से अधिक महत्त्व देती है। अब पुरुष पत्नी से एकान्त समर्पण की आकांक्षा नहीं कर सकता, अभिन्नता के लिये दोनों ओर से समर्पण होना आवश्यक है। आज आर्थिक निर्भरता के कारण भी नारी मात्र आश्रय के लिये पति से सम्बन्ध बनाये रखने को तैयार नहीं और न ही यदि पुरुष स्त्री की उपेक्षा करता है, तो उसकी याद में घुल-घुल कर मरने को तैयार है। वह तभी तक अपने को संलग्न रखती है, जब तक दोनों में सद्भावनापूर्ण भावात्मक सम्बन्ध हो। सौहार्द्र और मैत्री के अतिरिक्त कोई बन्धन स्त्री को बाध्य नहीं रख सकता। 'चलते-चलते' उपन्यास की अचना के विचार में दुराचारी पति श्रद्धा का कभी अधिकारी नहीं वह कहती है—"अगर मेरा हाथ वदबू करने लगे तो दवा करने के बदले उस अंग को साफ कर देना ही श्रेयस्कर होगा।"[२] उसमें पत्नी के आदर्शों तथा निष्ठा की कमी नहीं। वह कहती है – "यह न समझें कि मुझ में सती-साध्वी नारी के पवित्र पतिव्रत धर्म का सर्वथा लोप हो गया है, उसका समस्त कोष मेरे हृदय में अब भी सुरक्षित है पर है वह केवल उसी प्राणी के लिये जो मेरे लिये सच्चा और एकनिष्ठ है।"[३]

आज धार्मिक और नैतिक मान-मूल्यों की दृढ़ता शिथिल हो गई है। उनका मोह भंग हो चुका है, इसलिये नारी आज सारा जीवन विवशता में नहीं काटना चाहती। 'चलता हुआ लावा' (रमेश बक्षी) की पत्नी भी पति से रुचि-वैषम्य होने के कारण वैवाहिक सम्बन्धों को समाप्त कर लेती है।[४] 'अपराजिता' उपन्यास की राज मानती है—"स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। स्त्री न बच्चा पैदा करने या पुरुष के भोगने की वस्तु है, न आज्ञाकारिणी दासी है।"[५]

---

१. लक्ष्मीकान्त वर्मा, एक कटी हुई जिन्दगी एक कटा हुआ कागज (१९६५) पृ० १३१
२. भगवतीप्रसाद वाजपेयी — 'चलते चलते,' पृ० २७७.
३. वही, पृ० २७७-७८.
४. रमेश बक्षी — 'चलता हुआ लावा' (१९६८), पृ० ४७.
५. आचार्य चतुरसेन शास्त्री – 'अपराजित', पृ० ६४.

डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' मे साधना पति से अनुरक्त है और ग्रारम्भ मे पति भी सम्पूर्ण स्नेह देता है, परन्तु वह ग्रारम्भिक वेगपूर्ण वासना थी इसलिये कुछ समय बाद साधना से कहता है-"मैं तुमसे ऊब गया हूं, मैं तुमसे मुक्ति चाहता हूं।" इससे साधना के ग्रहम् को चोट लगती है। वह सोचती है-"पति की वासनापूर्ति का साधन नही बन सकती । जिस पति से उसे प्यार नही उसके साथ रहना पाप है, व्यभिचार है।" [1] पति के पास रह कर उपेक्षित जीवन व्यतीत करना उसे स्वीकार नही। वह ग्रापसी सम्बन्धो मे मैत्री को महत्त्व देती है। वह इसकी पक्षपाती नही कि सयोगवश जिस पुरुष से विवाह हो जाय, फिर चाहे वह घोर स्वार्थी, क्रूर और मान-विद्रोही ही क्यों न हो, उसे प्यार करना नारी का धर्म है और किसी दूसरे देवता स्वरूप पुरुष को प्यार करने लगना पाप ।[2] वह समाज की ऐसी रूढियो को हेय मानती है, जो समाज एक-दूसरे से दम्पतियो को, ग्रलग होने में पाप समझता है ग्रौर साथ रह कर एक दूसरे के जीवन को भार बनाते रहने मे धर्म-रक्षा। जैसे मानव दु ख के परिणाम को बढाना ही धर्म हो और उसे कम करने का प्रयत्न ग्रधर्म ।[3] ऐसी सामाजिक रूढियों की ग्रवहेलना कर साधना पति का परित्याग कर देती है। उपन्यास का समाजशास्त्रीय दृष्टि से ग्रनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि पात्र 'नवीन जीवन दृष्टियो से सामजस्य स्थापित न कर पाने के कारण टूटते हुए दिखाई देते हैं।'[4] ग्र कूल समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्यक्तित्व के सामाजीकरण के लिये ग्रपेक्षित है, परन्तु इसके पात्र समाजिक जीवन से कटे हुए कृत्रिम दुनियाँ के वासी एव व्यक्तित्वहीन दीखते हैं। '[5]

युगीन चेतना प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक जाति की नारी मे पाई जाती है। मोहन राकेश के उपन्यास न ग्राने वाला कल मे शारदा का पति कोहली मार-पीट करता है। वह कहती है - "ग्राजकल कोई जमाना है मार खाने का ? हम ग्राजकल की ग्रौरतें है, उस जमाने की नही जब मरद लोग चद्दर डाल कर पीट लिया करते थे। उस जमाने में तो किसी ग्रौरत की दूसरी शादी हो ही नही सकती थी । पर ग्राजकल तो ग्रौरत भी चाहे तो दूसरी शादी कर सकती है। सरकार ने इसके लिये कानून ऐसे ही नहीं बनाया।"[6]

फलतः सामाजिक ग्राधार पर यह स्पष्ट है कि ग्रार्थिक स्वतत्रता, नैतिक पूर्वाग्रहो की शिथिलता तथा वैधानिक मान्यताग्रो ग्रौर बौद्धिक उन्मेष के कारण ग्रापसी सम्बन्धों मे मैत्री, सौहार्द्र तथा भावात्मक एकता पर बल दिया जाने लगा है। पत्नी को धार्मिक ग्राग्रहों से बन्दी नही बनाया जा सकता। विपरीत परिस्थितियों

---

१ डा० देवराज - 'पथ की खोज', पृ० २२३ (१९५१).
२. वही, पृ० ३८४-८५.
३. वही, पृ० ३८५.
४ डा० बेचन - 'ग्राधुनिक कथा साहित्य ग्रौर चरित्र-विकास', पृ० २०४.
५. वही, पृ० २०४.
६. मोहन राकेश - 'न ग्राने वाला कल' (१९६८), पृ० १७९-८०.

में वह मुक्त हो सकती है। जैनेन्द्र का मत है "नारी पति को पत्नीत्व देकर भी प्रेमी को नारीत्व तो दे ही सकती है, जो उसको प्रेरणा बन सके।"[1] परन्तु इस प्रकार का द्वन्द्व नारी को तोड़ देती है, वह कुंठा से भर उठती है, क्योंकि किसी एक को भी पूर्णरूप से समर्पित नहीं हो पाती। अपने कारण प्रेमी के व्यथित जीवन को देखकर उसके निकट होती है, उधर पति के प्रति उत्तरदायित्व भी पूरा नहीं कर पाती। इस दुविधात्मक स्थिति से आज की नारी उबर जाने का साहस रखती है ताकि वह अपने प्रति भी ईमानदार रह सके। इसीलिये यशपाल के 'झूठा सच' की गोगो, जिसका विवाह से पूर्व रतन से प्रेम है, मोहनलाल से विवाह होने पर जब सद्भावपूर्ण सम्बन्ध नहीं रख पाती तो वह असन्तुष्ट कलहपूर्ण जीवन का परित्याग करके प्रेमी रतन के साथ भाग जाती है और नये सिरे से जीवन प्रारम्भ करती है। पति जन्मजन्मान्तर का साथी है या येनकेन प्रकारेण सम्बन्ध निभाना है अथवा एकनिष्ठ समर्पण होना चाहिये आदि पूर्ववर्ती अवधारणाएँ अब अपने मूल्य खो रही हैं। यशपाल मानते हैं कि नैतिक मापदण्ड शाश्वत नहीं, वे सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के साथ बदलते हैं।

आधुनिक युग में पतिव्रत धर्म की मान्यताएँ परिवर्तित हो गई हैं। शैलेश मटियानी ने अपने उपन्यास 'किस्सा नर्मदा बेन गंगू बाई' में नर्मदा के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाया है। "यदि वह पति के प्रति एकनिष्ठ नहीं तो इसमें उसका दोष नहीं बल्कि समाज-विधान का है, जिसने उसे इच्छित व्यक्ति की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति के साथ बाँध दिया है जहाँ वह सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती।"[2] लेखक के अनुसार नारी और नदी एक राशि होती है। कगारों-तटों का बन्धन उन्हें अमान्य नहीं, पर बहने की स्वाभाविक स्वच्छन्द धारा उन्हें चाहिये।[3] नारी अपने निर्मल प्यार से सभी को आप्लावित कर देती। उस पर बाँध बाँधिये पर उसके निर्मल नीर को सम्बे अर्से तक सड़ने मत दीजिये। उसकी यथासमय सुख, समृद्धि और सन्तुष्टि के लिये उपयोग कीजिये इसी में उसकी सार्थकता है।[4] स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध को तथा यौन-सम्बन्धों को विवाह के द्वारा सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। इसलिये सामाजिक स्वीकृति उपलब्ध करना स्त्री-पुरुष के लिये आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति समाज का अंग है। अश्कजी ने अपने उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' मे स्त्री-पुरुष के प्रेम को सागर तट से टकराने वाली लहरों के समान न मान कर, सागर की अगाध जलराशि के समान माना है।[5] इन प्रेम-सम्बन्धों के लिये सामाजिक

---

१. डा० रामरतन भटनागर — जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा, (१९५८) पृ० १२६.
२ शैलेश मटियानी—'किस्सा नर्मदा बेन गंगूबाई,' प्रथम संस्करण, पृ० ३०.
३ वही, पृ० ३३.
४. वही, पृ० ३७
५. सुषमा धवन—"हिन्दी उपन्यास" (प्र० संस्क० १९६१) पृ० १२८.

अभिमति प्राप्त करना आवश्यक है, इसे अमृतलाल नागर ने उपन्यास 'बूँद और समुद्र' में डा० शीला स्विंग और महिपाल के सम्बन्धों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। डा० शीला स्विंग महिपाल के प्रति समर्पित है। वह नैतिक-अनैतिक, सामाजिक असामाजिक विचारों से ग्रसित नहीं। विवाह करके सामाजिक सनद की भी उसे परवाह नहीं। परन्तु महिपाल को सदा अपने पास न रख पाने की विवशता उसे सालती है। वह कहती है—"औरत हो या मर्द इन्सान के लिये शादी करना जरूरी है। इससे यह होता है कि इन्सान जिसे चाहे उसे एकदम अपने पास, अपने घर में, अपने कलेजे में छिपा कर रख तो सकता है, कोई अंगुली उठाकर यह तो नहीं कह सकता कि यह तुम्हारा, कानूनन तुम्हारा नहीं है।"[१] विवाहित महिपाल के प्रति निस्वार्थ समर्पण तो है परन्तु उसे सम्पूर्ण पा तो नहीं सकती और न ही अपने जीवन से निकाल सकती है। इसलिये वह प्रेम-यज्ञ में आहूत है। वैवाहिक मान्यता न प्राप्त होने पर भी पत्नी-सी परम्परागत भक्ति उसमें है। 'अजय की डायरी' में भी हेम का अजय से प्रेम है, परन्तु सामाजिक मान-मूल्यों के अनुसार विवाहित व्यक्ति से प्यार अनुचित माना जाता है। संसार में भलाई-बुराई की कसौटी भी विचित्र है, समाज की बँधी लीक से जरा भी विलग होकर चलना समाज को सह्य नहीं, वह लीक तोड़ने वाले को अपना कोप भाजन बना लेता है। विवाह वैयक्तिक समझौता है, परन्तु समाज सापेक्ष मर्यादाओं से इतना जकड़ा हुआ है कि मानव को उसे सामाजिक अनुबन्ध के अनुरूप ही स्वीकार करना पड़ता है।

(घ) तलाक और पुनर्विवाह

भारत में विवाह-विच्छेद मुसलमानों और ईसाइयों में काफी प्रचलित था और हिन्दुओं की कुछ निम्न जातियों में ही विवाह-विच्छेद की प्रथा थी, परन्तु १९५५ के अधिनियम के पारित होने से समस्त हिन्दुओं को यह अधिकार प्राप्त हो गया है। प्राचीन काल में विवाह विच्छेद की व्यवस्था तो थी, परन्तु व्यवहार में बहुत कम लोग लाते थे। 'प्राचीन समय में भी विवाह-विच्छेद की समाज में व्यवस्था पाई जाती थी।"[२] अथर्ववेद में भी विवाह-विच्छेद का उल्लेख है, जबकि एक स्त्री अपने पति के जीवन-काल में ही दूसरा विवाह करती है। वशिष्ठ के अनुसार "जो स्त्री अपने कुमार पति का त्याग करके, दूसरे के साथ संसर्ग करके, उसी पति के कुटुम्ब का आश्रय लेती है, वह पुनर्भू कहलाती है।"[३] पत्नी का यदि विवाह के बाद पति में गम्भीर दोष दिखाई दें तो उसे छोड़ सकती है।[४]

---

१. अमृतलाल नागर—"बूँद और समुद्र" (प्र० सं० १९५६), पृ० २४८.

२. के० एल० दफ्तरी—'द सोशियल इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्सियन्ट इण्डिया' (१९४७), पृ० १६७

३ अथर्ववेद अध्याय ६, सूक्त २७, पृ० २८१.

४. मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ७२

कालान्तर में विवाह-विच्छेद पर कठोर नियन्त्रण हो गया और हिन्दुओं में इसका प्रचलन समाप्त हो गया। शूद्रो तथा निम्न जातियों तक ही यह प्रथा सीमित हो गई। मध्ययुग के स्मृतिकारों ने तो विवाह विच्छेद की बिल्कुल आज्ञा नहीं दी। आधुनिक काल में विवाह-विच्छेद की माँग की प्रेरणा पाश्चात्य सभ्यता से प्राप्त हुई, जो सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल है। कपाडिया के अनुसार-"विवाह-विच्छेद का सिद्धान्त हिन्दुओं की शताब्दियों से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था के लिये विदेशी (अपरिचित) है।"[1]

भारत में १९५५ के पूर्व तक परित्याग की प्रथा न थी, क्योंकि तलाक को न्यायसंगत नहीं बताया गया था। तलाक अथवा परित्याग का अभिप्राय है विवाह को कानून द्वारा समाप्त करना। परित्याग केवल एक कानूनी समस्या ही नहीं, बल्कि सामाजिक एवं पारिवारिक समस्या भी है। विवाह-विच्छेद भारत की निम्न हिन्दू जातियों में सदा से प्रचलित रहा है, परन्तु कानूनी दृष्टि से सर्वप्रथम बड़ोदा राज्य में १९४२ में विवाह-विच्छेद अधिनियम पारित किया गया तथा १९४६ में बम्बई राज्य ने परित्याग को अनुमति प्रदान करने वाला अधिनियम पारित किया। १९४९ में मद्रास में तथा १९५२ में सौराष्ट्र राज्य ने विवाह-विच्छेद अधिनियम पारित किया। १९५५ में भारत सरकार ने हिन्दू विवाह अधिनियम लागू किया। इस अधिनियम ने अपनी धारा दस के अधीन न्यायिक पृथक्करण (ज्युडिशियल सेपरेशन) तथा धारा १३ के अधीन विवाह-विच्छेद (डाइवोर्स) की व्यवस्था की है, परन्तु परित्याग प्राप्त करना सरल नहीं है। इसमें धारा १४ और १५ के द्वारा कई प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।

हिन्दुओं में परित्याग एक नई व्यवस्था है। कुछ लोगों को इस बात का भय है कि इससे विवाह की संस्था नष्ट हो जायेगी, परन्तु कपाड़िया का मत है- 'यह भय अतार्किक एवं निराधार है।"[2] इस अधिनियम के द्वारा हिन्दू पुरुषों के अनुचित विशेषाधिकार समाप्त हो गये हैं। पुरुष के लिए भी वही यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध निर्धारित हो गये हैं जो हिन्दू स्त्रियों पर वर्षों से लाद गये थे।"[3] जहाँ पारिवारिक जीवन दुर्वह हो उठे, स्त्री-पुरुष का साथ रहना कठिन हो जाये, तो उनके लिये यही उचित है कि वे कुत्ते-बिल्ली की तरह लड़ते न रह कर, अपना तथा बच्चों का जीवन नारकीय न करके, विलग हो जायें। ऐसी अवस्था में परित्याग के माध्यम से नया पर्यावरण बना सकेंगे : जीवन में भूल हो सकती है, पर यह कहाँ तक तर्कसंगत है कि किसी महत्वपूर्ण व्यवस्था में भूल सुधारने का कोई उपाय न हो। भारत में यह व्यवस्था

---

१. के० एम० कपाडिया-'मैरेज एण्ड फैमेली इन इंडिया' (१९६६), पृ० १८७.
२. वही, पृ० १८७
३. वही, पृ० १८७.

इतनी जटिल है कि इस परेशानी के कारण तथा न्यायिक दाव-पेच के कारण लोग अपने जीवन को नर्क स्वरूप किये हुए भी अप्रिय बन्धन में बन्धे रहने के लिये बाध्य रहते हैं। आचार्य रजनीश ने 'धर्मयुग' मे प्रकाशित अपने लेख मे कहा – "तलाक इतना सरल होना चाहिए कि वह हौवा नही लगे।" इनका मत है कि तलाक अगर सीधा सामने खडा हो तो ९० प्रतिशत मौके आप छोड देंगे, कलह एकदम कम हो जायगा, क्योंकि कलह बेमानी है, कलह सिर्फ इसलिये है कि दोनो व्यक्ति अलग नही होते, आपसे कह दूँ, जाइये, बात खत्म हो गई। इसमें झगडा क्या है ? मगर जान को कह नही सका, और आप जा नही सकते, मैं भी जा नही सकता, बैठना यही है तो कलह जारी रहेगा। तलाक इतना सरल होना चाहिये जैसे एक मित्र से मित्रता छूट जाती है इससे ज्यादा उसका कोई अर्थ नही है।"१

आचार्य रजनीश के लेख के प्रत्युत्तर मे सुधा अरोडा ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है – "तलाक आसान सिर्फ इस अर्थ मे होना चाहिये कि रिश्ते जब दोनो ओर से अर्थ खो दें, तो उन्हें ढोते चले जाने मे कोई तुक नही है। लेकिन यह भी पाया जाता है कि ज्यादातर झगडे या तलाक की इच्छा के मूल मे कोई ठोस कारण नही होता। बधन वह कैसा भी हो – नैतिक, सामाजिक, पारिवारिक – निभाना मुश्किल होता है। वह बन्धन जितना कसता जाता है, व्यक्ति उतना ही उससे छटपटाता है।"२

मन्नु भण्डारी के धारावाहिक उपन्यास 'आपका बन्टी' मे पारिवारिक जीवन की धुरी के गडबडा जाने पर जिन्दगियाँ लडखडा जाती हैं – "शकुन ने अपने तथा अजय (पति) के सम्बन्धो के रेशे रेशे उधेडे है—सारी स्थिति मे बहुत लिप्त होकर भी और सारी स्थिति से बहुत तटस्थ होकर भी – पर निष्कर्ष हमेशा एक निकला है कि दोनो ने एक दूसरे को कभी प्यार किया ही नही। समझौते का प्रयत्न भी दोनों मे एक अण्डरस्टैंडिंग पैदा करने की इच्छा से नहीं होता था, वरन् दूसरे को पराजित करके अपने अनुकूल बना लेने की आकाक्षा से तर्कों और बहसों मे दिन बीतते थे और ठडी लाशों की तरह लेटे-लेटे दूसरे को दुःखी, बेचैन और छटपटाते हुए देखने की आकाक्षा मे रातें भीतर ही भीतर चलने वाली एक अजीब-सी लडाई थी। वह भी जिसम दम साध कर दोनो ने हर दिन प्रतीक्षा की थी कि कब सामने वाले की सास उखड जाती है, और वह घुटने टेक देता है, जिससे कि फिर वह बडी उदारता और क्षमाशीलता के साथ उसके सारे गुनाह माफ कर उसे स्वीकार कर ले, उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को निरे एक शून्य मे बदल कर और इस स्थिति को लाने के लिये सभी तरह के दाव-पेच खेले गये थे।"३ दोनों प्रयास करते समझौते के, कभी कोमलता

---

१ आचार्य रजनीश – 'धर्मयुग' ३ मई अक, (१६७०), पृ० ५१.
सुधा अरोडा — धर्मयुग १० मई, १६७०
३. मन्नु भण्डारी — 'आपका बटी' धर्मयुग २२ नवम्बर, १६७०, पृ० ३०.

के, कभी कठोरता के, कभी सब कुछ लुटा देने वाली उदारता के, तो कभी सब कुछ समेट लेने वाली कृपणता के । प्रेम के नाटक भी हुए थे और तन-मन को डुबो देने वाले विभोर क्षणों मे कभी भावकता आवेग या उत्तेजना रही भी हो पर शायद दोनों के ही शकालु मनों ने कभी उन्हें उस रूप में ग्रहण ही नहीं किया; दोनों ही एक दूसरे की हर बात, हर व्यवहार और हर अदा को एक नया दाव समझने को मजबूर थे और इस मजबूरी ने दोनों के बीच की दूरी को इतना बढ़ाया इतना बढाया कि फिर बंटी भी उस खाई को पाटने के लिये सेतु नहीं बन सका नहा बना ।" १

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जब साथ रहने की यत्रणा विकट हो जाती है तो ऐसी अवस्था मे तलाक प्राप्त करना उसी प्रकार आवश्यक हो जाता है जिस प्रकार भयकर फोड़ा हो जाने पर सब प्रकार के उपचार निरर्थक सिद्ध हों और आपरेशन अन्तिम विकल्प हो, तो उस पीडा से मुक्ति प्राप्त करने के लिये अपने शरीर पर चाकू लगवाना ही होगा । कोई भी व्यक्ति अपने शरीर पर चाकू नहीं लगवाना चाहता, परन्तु कोई और उपाय न होने पर आपरेशन द्वारा उस गलित अंग को अलग करना ही पडता है, नहीं तो उसकी सडाव सारे शरीर में विष फैला दगी । इसी प्रकार जब वैवाहिक सम्बन्ध एक दूसरे के लिये असह्य हो जाएं और परित्याग के अतिरिक्त कोई चारा न रह जाये तो अनपेक्षित बन्धन मे बंधे रहना अपने जीवन को विषाक्त करना है, तब इस आवश्यक बुराई (तलाक) को अपनाना ही उचित होगा, क्योंकि घुटी-घुटी कृत्रिम जिन्दगी अधिक दिन व्यक्ति जी नहीं सकता । नदी के द्वीप' की रेखा उस पति से विच्छेद कर लेती है जो उसे क्षुधापूर्ति का साधन मानता है । 'झूठा सच' की तारा और कनक भी थोपे हुए वैवाहिक सम्बन्धों को तोड़ देती है । 'एक इन्च मुस्कान' की रजना, पति अमर को एकनिष्ठ न पाकर झटके से सम्बन्ध तोड लेती है । 'एक कटी हुई जिन्दगी एक कटा हुआ कागज मे दीप्त के समक्ष पति 'केवल' का जब विकृत स्वरूप स्पष्ट होता है, तो उससे विलग हो जाती है । रमेश बक्षी के उपन्यास 'चलता हुआ लावा' मे भी लंगड़े सम्बन्धों के कारण विच्छेद हो जाता है । परन्तु भारत मे तलाक की विधि बडी विकट है ।

तलाक की विधि सरल होनी चाहिये, इससे यह तात्पर्य नहीं कि मुसलमानों की तरह तीन बार तलाक दिया, तलाक दिया, तलाक दिया कह देने से तलाक हो जाय या पश्चिम की भांति छोटी-छोटी बात पर अलग होने की सोच लें और तलाक हो जाये । रूस में तलाक के नियम अति कठोर हैं, परन्तु अमेरिका में उतने ही सरल जिससे वहाँ परिवार की स्थिरता नहीं है । परन्तु तलाक की विधि भारत की तरह इतनी जटिल भी नहीं होनी चाहिये । भारत मे पुरुष के स्त्री पर आरोप लगाने मे उसे सुविधा से तलाक प्राप्त हो जाता है, जबकि स्त्री को तलाक प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पडता है । नारी अपने नम्र स्वभाव के कारण वैसे भी आरोप लगाने में अपने को विवश पाती है । स्त्री की आत्मा यत्रणा से जब तक तिलमिला नहीं उठती, वह कभी ऐसा साहसिक कदम नहीं उठाती । इतिहास साक्षी है,

१. मन्नु भडारी - 'आपका बंटी', धर्मयुग २२ नवम्बर, १९७०, पृ० ३०.

युगों से नारी ही प्रताडित रही है—दमयन्ती, शकुन्तला, सीता जैसी महान् नारियो का परित्याग किया गया, किसी नारी के द्वारा किये गये परित्याग के ऐसे उदाहरण नही मिलते। राम द्वारा निर्वासित सीता ऋषि वाल्मीकि के आश्रम मे शरण ले ी है, जहाँ वह पुत्र लव और कुश को जन्म देती है। निर्दोष सीता आसन्नप्रसवावस्था मे एकाकी जगल मे छोड दी जाती है परन्तु उसकी यह महत्ता है कि उसने किसी से दया की भीख नही मांगी। जो सीता, राम के वनगमन के समय छाया की तरह साथ रही, उस का यह प्रतिकार, उस महिमामयी को मिला है, वह कोई स्पष्टीकरण नही देना चाहती। वह लव-कुश को सभी प्रकार की अस्त्र-शस्त्र विद्या सिखा कर अपनी योग्यता का परिचय देती है। धरती मे समाकर उसने अपनी मर्यादा तथा स्वाभिमान का परिचय दिया है।

शकुन्तला भी दुष्यन्त द्वारा परित्यक्त किये जान पर, स्वाभिमान के कारण अपने को दुष्यन्त पर थोपती नही, वरन् वन मे राज्य की सीमा से दूर रहती है, जहाँ वह भरत को जन्म देती है और उसे स्वय, सभी प्रकार की शस्त्र विद्या सिखाती है। यह स्व की महिमा से मडित नारियाँ अपने अवमानना नही होने देती और अपने आत्मबल मे परिस्थिति का सामना करके अपनी मिसाल आप बन गई हैं।

आधुनिक युग मे नारी पुरुष की प्रताडना सहकर भी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक कारणो से बधी रहती है। परन्तु उस सुविधा तो होनी चाहिये कि जब दमघाट जीवन की घुटन असह्य हो जाये तो वह मुक्त हवा मे साँस ले सके, न कि साँसों के रुकने की प्रतीक्षा मे दम साधे रहे। विवाह सम्बन्धी पूववर्ती दृष्टिकोण को युगीन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने अस्वीकारा है। पूर्व वर्ती दृष्टिकोण मे विवाह. स्त्री के लिये अनिवार्य था, क्योंकि उसे किसी न किसी पुरुष के सरक्षण मे रहना अनिवार्य था — बाल्यकाल मे पिता, युवा होने पर पति का सरक्षण आवश्यक था, क्योंकि पिता अधिक दिन भार नही वहन कर सकता था, इसलिये आर्थिक सुरक्षा तथा सरक्षता की दृष्टि से विवाह आवश्यक हो गया और यह ऐसा सामाजिक सम्बन्ध माना जाता था, जिसे तोडा नही जा सकता था। परन्तु मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक उपन्यासकार विवाह को वैयक्तिक समझौता मानते हैं और यदि जीवन के लिये यह अनुबन्ध बधन बन जाये तो उससे मुक्त हुआ जा सकता है। कानूनी तौर पर चाहे यह सुविधा अब प्राप्त है, परन्तु सामाजिक और नैतिक मान्यता की अभी भी कमी है। युगीन उपन्यासो मे इस सस्था के प्रति विद्रोह के स्वर मुखरित हैं। समाजशास्त्रीय विवेचन से ज्ञात होता है कि तलाक विघटन को स्थिति है। परिवार के विघटन से सामाजिक व्यवस्था में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, इसलिये तलाक अन्तिम विकल्प के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिये जिससे सामाजिक सगठन बना रहे।

पुर्नाविवाह :

"हिन्दू-विवाह पद्धति की विडम्बना है कि पुरुष जितने चाहे विवाह कर सकता है, परन्तु स्त्री के लिये यह अनैतिक माना जाता है। स्त्री पति के न रहने पर

जीवनपर्यन्त उसी के नाम पर एकाकी जीवन बिताने के लिये बाध्य की जाती है, यह प्रकृति विरोधी है। ''प्रकृति विरुद्ध इन चुनौतियों ने ही समाज में पाखण्ड और भ्रष्टाचार का प्रसार किया है।''१ समाज परिवर्तनशील है, वैयक्तिक मूल्यों में भी समय के साथ परिवर्तन होना स्वाभाविक है। पुरुष के लिये पुनर्विवाह सदा से मान्य रहा है। 'गोदान' में सोना का पति बड़ी आयु में सोना से विवाह करता है। आज भी ऐक्य विवाह पद्धति होने के कारण एक साथ अधिक पत्नियाँ नहीं रख सकता, परन्तु पत्नी के न रहने पर पुरुष किसी भी अवस्था में पुनर्विवाह कर सकता है, जैसे 'निर्मला' में तोताराम तीन लड़कों के होते हुए भी निर्मला से विवाह करता है। परन्तु स्त्री चाहे कितनी भी छोटी अवस्था की हो उसका पुनर्विवाह समाज की दृष्टि में हेय माना जाता है। विधवाओं की शोचनीय स्थिति का मुख्य कारण यही है कि उन्हें पुनर्विवाह की अनुमति नहीं दी जाती थी। यदि कोई स्त्री साहस का परिचय देकर विवाह कर लेती तो समाज उसका बहिष्कार कर देता था, परन्तु एक जीवित स्त्री मृत्यु के लिये जीवन्त मृत्युसी बनी रहे यह कहाँ तक उचित है। विधवाओं के पुनर्विवाह की समस्या को कई समाज सुधारकों ने उठाया, विचारा; परन्तु पूर्व प्रेमचन्द युग के उपन्यासों में विधवा-विवाह का विरोध ही पाया जाता है। मनु, याज्ञवल्क्य तथा वशिष्ठ इत्यादि ने भी विधवा पुनर्विवाह का विरोध किया है। परन्तु धर्मशास्त्रों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में विधवा पुनर्विवाह पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं था। दफ्तरी के अनुसार-''विधवा पुनर्विवाह तथा नियोग प्राचीन भारत की विशेषता थी।''२ अलतेकर के अनुसार 'नियोग के साथ-साथ विधवा पुनर्विवाह भी वैदिक समाज में प्रचलित था।''३ वशिष्ठ ने लिखा है "यदि यात्रा पर गया हुआ पति पाँच वर्ष तक वापस न लौटे तो स्त्री को पुनर्विवाह कर लेना चाहिये। मृत्यु होने पर तो प्रतिबन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।" कौटिल्य तथा नारद ने भी इसी प्रकार के नियम निर्धारित किये हैं। पुनर्विवाह का विरोध बहुत बाद में शास्त्रों में किया जाने लगा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने बड़े भाई की मृत्यु के बाद उसकी स्त्री से विवाह किया, विभीषण और सुग्रीव ने भी बड़े भाइयों की मृत्यु के बाद क्रमशः मन्दोदरी, तारा से विवाह किया। पुनर्विवाह का विरोध दूसरी शताब्दी ई० में होने लगा था फलतः विरोध करने वाले शास्त्र मध्ययुगीन हैं। स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति न देना यौन सम्बन्धों में दोहरी नैतिकता को प्रमाणित करना है, जैसे एक ओर तो स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात् उसी के नाम पर मृतप्राय जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य किया गया, दूसरी ओर पुरुष को पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरी स्त्री से

---

१. डा. राजेन्द्र शर्मा-'हिन्दी गद्य के निर्माता बालकृष्ण भट्ट,' पृ० २६३.
२. के० एल० दफ्तरी-'द सोशियल इंस्टिट्यूशन्स इन एनसिएन्ट इण्डिया,' पृ० १५८.
३. ए० एस० अलतेकर-'द पोजीशन आव् विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,' पृ० १५०.

विवाह करना अनिवार्य बताया गया है, जो इस श्लोक से स्पष्ट है–"पूर्व मरी स्त्री की अन्त्येष्टि में अग्नि देकर गृहस्थाश्रम के निमित्त पुनः विवाह करे तो फिर अग्नि होम लेवे।"[1] यह दोहरी नीति किसी न्याय सिद्धान्त के अनुसार उचित नहीं है। यदि कोई पुरुष पुनर्विवाह करने का अधिकारी है, तो स्त्री को भी यह अधिकार प्राप्त होना चाहिये। निर्दोष तथा निरपराध बालिकाओं को इस अधिकार से वंचित रख कर आजीवन कारावास का दण्ड प्रदान करना है। मानवता का कोई भी सिद्धान्त इसे उचित नहीं ठहरा सकता। हिन्दू शास्त्रों में आत्मसंयम का विधान स्त्रियों के लिये बनाया गया है, जो अप्राकृतिक है।

विधवाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिये कुछ समाज सुधारकों ने अथक परिश्रम किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि के प्रयत्नों द्वारा १८५६ में हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (हिन्दू विडो रिमैरेज एक्ट, १८५६) पास हुआ, जिसमें विधवा को विवाह करने का अधिकार प्राप्त हुआ। विधवा पुनर्विवाह न्यायसम्मत माना जाने के बाद भी हिन्दू समाज उसे हेय दृष्टि से देखता है।

हिन्दी साहित्य के पूर्व प्रेमचन्द युग के उपन्यासों में विधवा विवाह का विरोध पाया जाता है। प्रेमचन्द ने भी विधवा आश्रमों में ही उन्हें भेज कर अपना कर्त्तव्य मानो पूर्ण कर लिया है। पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने विधवाओं की दयनीय स्थिति का चित्रण किया है जिसमें वह नियति के हाथों खिलौना मात्र है, उसे समाज के लाछन सहने पड़ते हैं। वह यदि पुरुष की पाशविकता का शिकार कभी हो गई तो उसे या तो पतित जीवन जीना पड़ता है अथवा आत्महत्या करनी पड़ती है। नरेश मेहता के उपन्यास 'धूमकेतु – एक श्रुति' की वल्लभा समाज के समस्त मान-मूल्यों का कठोरता से पालन करती है, परन्तु अपने ही पिता की पाशविकता का शिकार होने पर उसका मन तीव्र घृणा से भर उठता है, जिसकी चर्चा भी वह किसी से नहीं कर सकती उसकी आत्महत्या में गहरी पीड़ा का भाव है।"[2] आत्महत्या करके वह अपनी घृणित देह से छुटकारा पाती है। वल्लभा के माध्यम से लेखक ने तीव्र व्यंग्य किया है।

राजकमल चौधरी के उपन्यास 'नदी बहती थी' में बाल-विधवा कृष्णा, जो नियम-संयम का जीवन बिता रही थी, पुरुष की वासना का शिकार हो जाती है। ऐसी विधवाओं को हिन्दू समाज अपनाता नहीं और उसे मृत्यु की शरण लेनी पड़ती है। वह किसी से अपने लिये बच्चा तो ले सकी, मगर बच्चे का पिता नहीं दे सकी।"[3]

---

१ मनुस्मृति अध्याय ५ श्लोक १६८.

२. नेमीचन्द्र जैन –, अधूरे साक्षात्कार, पृ० १५५.

३. राजकमल चौधरी–'नदी बहती थी' (प्र० संस्क० १९६१), पृ० ६७.

इसी विवशता ने उसे मृत्यु का आलिंगन करने के लिये विवश किया। लेखक का मत है कि कृष्णा को समाज ने फांसी पर लटकाया। यदि उसे पुनर्विवाह की सुविधा होती तो बेगुनाह कृष्णा, समाज की दृष्टि में गुनाहगार न बनती और पुरुष अपराधी होकर भी उन्मुक्त, पवित्र न बना रहता।

प्रभाकर माचवे के उपन्यास 'परन्तु' में विधवा हेमवती की मूक व्यथा व्यंजित है। वृद्ध साहूकार उसकी आर्थिक विषमता का लाभ उठाता है और वह आवाज भी नहीं निकाल सकती। यदि समाज के ठेकेदारों को अपनी काम-पिपासा शान्त करने का अवसर नहीं मिलता तो वह विधवा पर तरह-तरह के लाञ्छन लगाते हैं। लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' में ऐसी ही विधवा का चित्रण किया है। यमुना के सशक्त व्यक्तित्व को देख कर गाँव के धर्मावलम्बी उस पर तरह-तरह से अत्याचार करते हैं ताकि वह विवश होकर आत्म-समर्पण करदे। परन्तु वह जीवट वाली स्त्री झुकती नहीं। यही नहीं कि विधवा को पुनर्विवाह की सुविधा नहीं, वरन् वह अच्छे कपड़े नहीं पहन सकती, पौष्टिक भोजन नहीं खा सकती। लोगों की आँखें सदा उसका पीछा करती रहती हैं कि वह कहाँ बैठती है, किससे बात करती है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'चलते चलते' में लाली का भाई पुनर्विवाह कर सकता है, परन्तु समाज लाली को इसकी अनुमति नहीं देता। "विधुर पक्ष में एक स्त्री के मर जाने और तुरन्त उसकी जगह दूसरी आ जाने पर उसकी (समाज की) मन्थर गति में अन्तर नहीं आता वैसे ही विधवा के पक्ष में एक पति के स्थान पर दूसरा आ जाने पर उसकी नानी नहीं मर जानी चाहिये।"[1]

"हिन्दू-विधवाओं का चीत्कार समाज के कर्णरन्ध्रों तक नहीं पहुँच पाता और इस ओर से मानो उसने आँखें भी बन्द कर ली हैं। समाज अपनी अंधता में ज्यों का त्यों स्थिर है, यहाँ तक कि अब तो उसे आँखों पर लाज की पट्टी बाँधने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।"[2] लाली के बीमार होने पर कोई ध्यान नहीं देता, समाज को भी इसकी चिन्ता नहीं। लेखक की लाली के साथ पूर्ण सहानुभूति है। विधवा अपने उत्पीड़ित जीवन से ऊब कर यदि विद्रोह भी करना चाहती है, तो संस्कार बाध्यता से उबर नहीं पाती। कभी-कभी दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध होने पर भी पुनर्विवाह नहीं हो पाता, जैसे भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' में जैदेई, ज्वालाप्रसाद को हृदय से दूसरा पति स्वीकार करती है, फिर भी वह पुनर्विवाह की चेष्टा नहीं करती, ज्वालाप्रसाद का भी उससे लगाव है, फिर भी वह विधवा ही बनी रहती है।

विधवा-विवाह के लिये आज भी समाज बहुत उदार तो नहीं है, फिर भी पुनर्विवाह को स्थान दिया जाने लगा है। 'अमृत और विष' की 'रानी' अल्पायु में

---

१ भगवतीप्रसाद वाजपेयी – 'चलते चलते' (प्र० संस्क० १९५१), पृ० २०४.

२. वही, पृ० १६७.

विधवा हो जाती है, युवा होने पर शिक्षा के कारण उसमे जागरूकता आ जाती है। वह रमेश की ओर आकर्षित होती है, परन्तु बार-बार सस्कारी मन म वैधव्य की चेतना से झिझक उठती है – "जवानी म होश समालने के साथ ही रानी का मन एक ऐसे डिब्बे मे बन्द हो गया था, जिसके तले म जीवन का स्पर्श था और ढक्कन मे मृत्यु की घुटन।"[१] पिता के पुनर्विवाह के बाद वह सोचती है, "पुरुष के लिये यह पाप क्यो नहीं ? अम्मा आखिर मुझ से कौन बडी है, मैं उससे एक साल ही तो छोटी हू।"[२] वह अपने समस्त जीवन को अभिशप्त बनाने के लिये तैयार नही । स्त्री पुरुष के सामाजिक वैषम्य का विरोध रानी की नई माँ भी करती है। लेखक ने रानी का रमेश से विवाह करा कर इस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है।

नागार्जुन के उपन्यास 'उग्रतारा' मे विधवा उगनी के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया गया है । कामेश्वर उगनी से विवाह करना चाहता है, परन्तु षडयन्त्रकारी सामाजिक प्रवृत्तियो के कारण दोनो को जेल हो जाती है। उगनी पुलिस की वासना का शिकार बन जाती है। कामेश्वर जेल से लौटने पर गर्भवती उगनी को पत्नी रूप मे ग्रहण करता है। उगनी सोचती है – "प्रथम बार आज एक पुरुष ने गर्भिणी नारी के सीमान्त मे सिन्दूर भरा था। धोखे मे नहीं जान बूझ कर।"[3] उगनी की कल्पना से यह परे था कि पुरुष कभी इतना उदार भी हो सकता है । उगनी का विवाह कराकर लेखक ने समस्त परम्परित मान्यताओं पर गहरा प्रहार किया है।

हिन्दू समाज मे विधवा का जीवन व्यर्थ माना गया है – "विधवा का जीवन एक ठूँठ की तरह होता है जिस पर कभी हरियाली नही आन की, कभी फल-फूल नही लगने के – व्यथ बिल्कुल व्यर्थ – धरती का व्यर्थ भार । हा ठूँठ का बस एक उपयोग होता है, उसे क ट कर लावन मे जला दिया जाता है गृहस्थ जीवन मे ऐसी विधवा का उपयोग भी शायद लावन की ही तरह है – जिन्दगी भर जलते रहना, जल कर गृहस्थी की सेवा करना, जिस सेवा के फल का भोग दूसरे करें और खुद राख होकर रह जाय।"[४] लेखक ने विधवा का बडा कारुणिक चित्रण किया है – "जिन्दगी की एक मुर्दा तस्वीर हो या जैसे एक मुर्दा जिन्दा होकर चल फिर रहा हो।"[५] विधवा को पहले पुर्नविवाह की सुविधा नही थी । उसे पराश्रित होकर जीवन काटना पडता था। आज उसे पुर्नविवाह की सुविधा तो है, पर सस्कारी मन की झिझक बाधक है।

---

१. अमृतलाल नागर – 'अमृत और विष' (प्र० स० १९६६), पृ० १८२.
२. अमृतलाल नागर – 'अमृत और विष', पृ० १८३.
३. नागार्जुन – 'उग्रतारा' (१९६३) पृ० ९८
४. भैरवप्रसाद गुप्त – गगा मैया' (द्वितीय सस्करण १९६०), पृ० ४४
५ भैरवप्रसाद गुप्त – 'गगा मैया', पृ० ४७

प्रेमचन्द की विधवा के साथ सहानुभूति तो पूर्ण थी, परन्तु विवाह सम्पन्न कराकर नवीन जीवन की खुशहाली प्रदान इन्होंने कहीं नहीं की। परन्तु युगीन उपन्यासकार शोषित जीवन की मुक्ति पुनर्विवाह में मानते हैं। शिक्षा तथा आत्म-निर्भरता ने उसमें साहस भी उत्पन्न कर दिया है। उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'एक नीड़ दो पंछी' की साधना नर्स बन जाती है, वह कहती है – "समाज यदि मुझे नहीं चाहता तो मैं क्व समाज को चाहती हूँ। मैंने क्या पाप किया है जो समाज मुझे इस प्रकार अन्ततः कष्ट भोगने के लिये बाध्य कर दे।"[1] समाज किसी के दुःख को कब जानने का प्रयास करता है, वह अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहती है – "मैं देवी नहीं हूँ, राक्षसी भी नहीं होना चाहती। अपने को स्त्री क्यों न रहने दूँ।"[2] साधना इस प्रकार समाज से विद्रोह करती है। यदि समाज उसे नवीन जीवन प्रदान नहीं कर सकता तो वह ऐसे समाज की परवाह नहीं कर सकती। समाज के सूत्रधार उसके जीवनयापन का कोई सम्मानपूर्वक रास्ता नहीं बनाते, फिर वह उनकी परवाह क्यों करे? गाँवों में विधवाएँ तिरस्कृत-उपेक्षित जीवन रोकर काटती हैं या अपने भारस्वरूप जीवन से ऊब कर मौका पाते ही भाग जाती है और यदि वहाँ भी पुरुष ने धोखा दिया तो किसी कुएँ बावड़ी की शरण लेती है। नगरों में यदि पढ़ कर जीविका भी कमाने लगती है, तो भी उसे कुलच्छनी समझा जाता है और हर कृत्य पर समाज आँखें गड़ाये रहता है तथा लांछित करने का अवसर ढूँढ़ा करता है। कभी-कभी तो उसकी कमाई पर भी सम्बन्धी, चाहे वे मातृ-पक्ष के हों या ससुराल के – आँखें लगाये रहते हैं, उससे जोंक की तरह चिपके रहते हैं। साधना इन सब की अवहेलना करती है। वह समाज की थोथी मर्यादाओं के लिये अपना जीवन होम नहीं करती।

आधुनिक उपन्यासकार प्रगतिशील विचारों के कारण पुनर्विवाह की पूर्ण सुविधा के पक्षपाती हैं। विधवा पुनर्विवाह को न्याय सम्मत माना जाने के पश्चात् भी हिन्दू समाज इसे हेय तो मानता ही है, फिर भी इसे मान्यता देने लगा है, परन्तु परित्यक्त स्त्री के पुनर्विवाह को तो समाज स्थान देने का पक्षपाती नहीं है। पहले तो कोई जल्दी से उससे विवाह करने को तैयार ही नहीं होता और यदि उसका किसी व्यक्ति से सम्बन्ध हो भी जाये तो समाज के ठेकेदार इसे सहन नहीं कर पाते। "जल टूटता हुआ" में परित्यक्त बदमी का तिवारी (कुंजु) से सम्बन्ध-परिवार, समाज किसी को भी सह्य नहीं। इसीलिये बदमी का सौतेला भाई उसे बहुत मारता है, परन्तु कुंजु की वफादारी बदमी को समाज की ताड़ना से राहत दिलाती है और अन्त में वह बदमी को लेकर दूर किसी अज्ञात स्थान को चल देता है। परन्तु इतने साहसिक लोग बहुत कम होते हैं, जो समाज की प्रताड़नाओं के समक्ष अपनी इच्छाओं

१. उदयशंकर भट्ट – 'एक नीड़ दो पंछी,' पृ० ४८२.

२. वही, पृ० ४४२.

का बलिदान नहीं करते। तलाक के पश्चात् नया जीवन आरम्भ करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिये। झंझा से नीड छिन्न-भिन्न हो जाने पर पक्षी नया घर बसा लेता है। जीवन की झंझा ने यदि जीवन के पोषक तत्त्व को नष्ट कर दिया है तो उसी पर आंसू बहाते रहना कहाँ तक ठीक है। पुरातन के भग्नावशेष पर जीवन्तता के लिये नूतन का अभिनन्दन वांछनीय है। पुनर्विवाह द्वारा नई आस्था तथा जीने की चाह प्रदान की जा सकती है, इसके लिये समाज का स्वस्थ दृष्टिकोण अपेक्षित है।

(ङ.) बाल-विवाह तथा बहु-विवाह

विवाह से सम्बन्धित अन्य समस्याओं (विधवा विवाह, बेमेल विवाह, तलाक तथा पुनर्विवाह) की भांति बाल-विवाह भी एक प्रमुख समस्या है। भारत में बाल-विवाह की प्रथा अत्यधिक प्रचलित है। पाराशर के अनुसार कन्या का विवाह, रजस्वला होने के पूर्व कर देना चाहिये। ब्रह्मपुराण के अनुसार "कन्या का विवाह, चार वर्ष की आयु के उपरान्त कभी भी कर देना चाहिये।" महाभारत पराशर स्मृति में भी बाल-विवाह के पक्ष में ही विचार प्रकट किये हैं।[1] शास्त्रों के ऐसे विचारों के कारण बाल-विवाह प्रथा सभी जातियों द्वारा स्वीकार कर ली गई।

हिन्दू समुदाय हजारों उपजातियों में विभक्त है। प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाह की इकाई है, इसलिये साथी चुनने का क्षेत्र सीमित हो गया। माता-पिता अच्छा वर खोना नहीं चाहते थे। विवाह की बड़ी आयु होने पर वर खोजने की कठिनाई से बचने के लिये भी संरक्षक बाल-विवाह कर देते थे।

दहेज प्रथा के कारण भी बाल-विवाह प्रथा अधिक पायी जाती है, जैसे-जैसे कन्या बड़ी होती जाती है वैसे-वैसे उसके लिये बड़ी आयु का वर खोजना पड़ेगा। वर की आयु बढ़ने के साथ तथा जीवन में सफलता प्राप्त करने से वर-मूल्य (दहेज) भी बढ़ता जाता है। अधिक दहेज देने में असमर्थ संरक्षक बाल-विवाह कर देना उपयुक्त समझते हैं। संयुक्त परिवार व्यवस्था ने भी बाल-विवाह को प्रोत्साहन दिया, क्योंकि इसमें एक स्त्री-पुरुष का ही विवाह नहीं होता, वरन् दो परिवारों का सम्बन्ध होता है, जिसमें वर की योग्यता तथा धनोपार्जन पर ध्यान ही नहीं दिया जाता।

बाल-विवाह की प्रचलित प्रथा के कारण यदि अधिक आयु तक माता-पिता विवाह नहीं कर पाते तो उनकी समाज में निन्दा होती, इसलिये लोक-निन्दा के कारण बाल विवाह कर दिये जाते हैं। बाल-विवाह के साथ गौने की प्रथा भी पाई जाती है, जिसमें विवाह तो बाल्यकाल में कर दिया जाता है, परन्तु वर-वधू को युवा होने पर ही साथ रहने का अवसर दिया जाता है। बाल-विवाह से कई समस्याएं सामने आईं। विवाह जीवन की महत्त्वपूर्ण क्रिया है, परन्तु बाल-विवाह

---

१. कपाडिया—"हिन्दू मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया", पृ० १४२. (१९६६).

के कारण इसका कोई महत्व नहीं रह जाता, क्योंकि जो दो प्राणी इस सूत्र में बँधते हैं वे इसके महत्व से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। विवाह का उद्देश्य है धर्म, प्रजा तथा रति। बाल-विवाह से इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती।

अल्पायु में विवाह होने पर अपरिपक्वावस्था में यौन सम्बन्धों के कारण वर-वधू का स्वास्थ्य तो खराब होता ही है, साथ ही निर्बल सन्तानों को जन्म देते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार स्त्री-पुरुष दोनों का शारीरिक विकास नहीं हो पाता तथा अपरिपक्वावस्था में प्रजनन का भार वहन न कर पाने के कारण स्त्रियों की अल्पायु में मृत्यु हो जाती है या वह क्षयरोग से ग्रस्त हो जाती हैं। अल्पायु में यदि जीवन का भार ढोना पड़ जाता है तो उनका स्वयं का जीवन भारस्वरूप हो जाता है। वे अपना बचपन पार नहीं कर पाते कि अनेक बच्चों के माता-पिता बन जाते हैं और इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि का दायित्व बहुत हद तक बाल-विवाह पर है। साथ ही लाखों कन्याओं को वैधव्य का अभिशप्त जीवन बिताना पड़ता है। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में इन दोनों समस्याओं—बाल-विवाह तथा वैधव्य—का चित्रण मिलता है तथा प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों ने भी इन समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दू समाज सुधारकों ने बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया। राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि सुधारकों के प्रयास से १८४६ ईस्वी में विधि आयोग (ला कमीशन) तथा *१८६० में भारतीय दण्ड विधान इंडियन पीनल कोड आफ् १८६०)* ने १० साल की आयु से कम वाली पत्नी के साथ यौन सम्बन्ध रखने वाले को आजीवन कारावास तक का दण्ड दिया जा सकता है, घोषित किया गया। बंगाल विधान सभा में १८९१ ई० में मनमोहन घोष ने विवाह की आयु बारह वर्ष निश्चित करने के लिये प्रस्ताव पेश किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। सर्वप्रथम मैसूर और बड़ौदा के देशी राज्यों ने बाल-विवाह पर प्रथम अधिनियम पारित किया। १८९४ में मैसूर सरकार ने यह अधिनियम पारित किया कि जो व्यक्ति नौ वर्ष से कम आयु की कन्या से विवाह करेगा उसे ६ माह तक का साधारण कारावास का दण्ड दिया जायेगा। १९०४ ई० में बड़ौदा सरकार ने अल्पायु विवाह निषेध अधिनियम पारित किया, जिसके अनुसार बारह वर्ष से कम की कन्या का विवाह नहीं किया जा सकता था। १९१८ में इन्दौर राज्य ने कानून द्वारा कन्या के विवाह की आयु बारह वर्ष नियुक्त की।[1] भारत सरकार ने १९२९ में बाल-विवाह नियन्त्रण अधिनियम (चाइल्ड मैरिज रेस्ट्रिक्शन एक्ट) पारित किया, जिसे शारदा विवाह अधिनियम कहा जाता है। इसके अनुसार कन्या की आयु १२ वर्ष और लड़के की आयु १५ वर्ष प्रस्तावित की गई थी। "हिन्दू विवाह अधिनियम १९५५ के बाद कम से कम लड़की की आयु १५ वर्ष मानी गई है, परन्तु १८ वर्ष अधिक उपयुक्त है।"[2]

---

१. कपाडिया – 'हिन्दू मैरेज एण्ड फैमिली इन इण्डिया' (१९६६), पृ० ५२.
२. वही, पृ० १५६.

बाल-विवाह नियत्रक अधिनियम द्वारा वर की आयु १८ वर्ष तथा वधू की आयु १५ वष से ऊपर होनी चाहिये, निश्चित की गई, । इसकी अवहेलना करने पर दण्ड दिया जायगा । परन्तु जितनी इस कानून की अवहेलना हुई, उतनी सभवत किसी अन्य अधिनियम की नहीं, क्योकि यह ज्ञातव्य (कॉग्निजिबल) अपराध नहीं है, इसीलिये निष्प्राण है। यही कारण है कि आज भी हजारों की सख्या मे बाल-विवाह होत हैं। राजस्थान मे अक्षय तृतीया के दिन सैकडों अबोध बालक-बालिकाओं का विवाह कर दिया जाता है। सरकार की ओर से इस अधिनियम का कठोरता स पालन होना चाहिये ताकि जीवन के महत्त्वपूर्ण बन्धन स बन्धन से पूर्व वर-वधू इसके महत्त्व को जान सकें।

आज शिक्षा के प्रसारण से बाल विवाह की प्रथा कम हो रही है। पूर्ववर्ती उपन्यासो मे बाल विवाह की समस्या का चित्रण किया गया है । जैस जैनेन्द्र के उपन्यास 'परख' की कट्टो बाल-विधवा है और वैधव्य-यज्ञ मे ही उसका जीवन आहूत होता है। प्रसाद के उपन्यास 'कंकाल' की घटी भी बाल-विधवा है । ये विधवाएं बाल-विवाह के कारण ही समाज की प्रताडनाओं को सहती हैं। परन्तु आधुनिक काल मे शिक्षित लोगो मे बाल विवाह प्राय नगण्य है, इसलिये इस सामाजिक समस्या का चित्रण आधुनिक उपन्यासो म नहीं पाया जाता।

बहु-विवाह

बहु-विवाह की द्विपत्नी विवाह प्रथा, भारत मे अधिक प्रचलित थी। पहली पत्नी के सन्तान न होने के कारण दूसरा विवाह कर लिया जाता था, जिसका उदाहरण प्रेमचन्द जी की 'सौत' कहानी मे मिलता है । खेती के काम में हाथ बँटाने के लिय भी व्यक्ति दूसरा विवाह करते थे। पुरुष कभी कभी सामाजिक प्रतिष्ठा का विषय मान कर भी दो पत्नियाँ रखते थे। हिन्दू विवाह अधिनियम (हिन्दू मैरेज एक्ट १९५५) के पारित होने के पूर्व बहुत से लोग दो पत्नियाँ रखते थे।

बहु-पत्नी विवाह (पोलीगैमी) से तात्पर्य है एक से अधिक पत्नियाँ । प्राचीन काल मे यह प्रथा अधिक प्रचलित थी। राजाओं के रनिवासों तथा हरमों मे रानियाँ तथा बेगमो की सख्या बहुत हुआ करती थी। बहु-पत्नी विवाह पुरुष की एकाधिकार (मोनोपोली) की भावना का द्योतक है । यह प्रथा घनी, उच्च वर्ग तथा विश्व की अनेक जन-जातियो मे प्रचलित रही है। राजाओं के रनिवासों तथा हरमों मे रानियाँ और बेगमो की भरमार होती थी। अफ्रीका में बेनिन (Benin) के राजा की रानियों की सख्या ६०० से ४००० के बीच मे थी।"[१] भारत मे हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों जातियों में बहु विवाह न्यूनाधिक मात्रा मे प्रचलित था। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'मृगनयनी' मे गुजरात के शासक नसीरुद्दीन की १५,००० बेगमों का उल्लेख

---

१ प्रो० तोमर — परिवारिक समाजशास्त्र', पृ० २२५,

है, जिसे वह परिस्तान कहता था। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने 'गोली' उपन्यास में राजाओं की विलासिता का वर्णन करते हुए लिखा है—"रंगमहल का एक भाग ड्योढ़ी कहलाता था। जिसमें तीन सौ से अधिक स्त्रियाँ थी। वहाँ की सभी वाले पुष्प रखी जाती थीं। राज्य की मानों जान की औरतें वहीं थीं। रियासत की जिस किसी सुन्दरी स्त्री पर महाराज की नजर पड़ जाए वह ड्योढ़ियों में किसी न किसी भाँति आ ही जाती थी।"[२] कपाडिया के अनुसार "भारत वर्ष में यह प्रतिमान वैदिक युग से वर्तमान समय तक प्रचलित रहा।"[३] उन्सरों के समय हिन्दू-शास्त्रों ने चार स्त्रियाँ स्वीकार की हैं।[४] मनु के दस और याज्ञवल्क्य के दो पत्नियाँ थीं। इस्लाम के अनुसार प्रत्येक मुसलमान को चार पत्नियाँ रखने का आज भी अधिकार है। यदि वह चार से अधिक विवाह करना चाहता है तो पहली चार में से किसी एक को तलाक देना पड़ेगा। परन्तु बादशाहों के लिए यह नियम नहीं था, वे जितनी भी चाहें बेगमें रख सकते थे।

बहु-विवाह को हिन्दू-विवाह अधिनियम (हिन्दू मैरिज एक्ट आव् १९५५) के द्वारा दण्डनीय घोषित कर दिया है। अन्य देशों में भी कानून एवं धार्मिक रीति-रिवाजों द्वारा बहु-पत्नी विवाह को नियन्त्रित किया गया है, फिर भी जन-जातियों में यह प्रथा अभी भी पाई जाती है।

बहु-विवाह प्रथा में स्त्रियों की भावनाओं का हनन होता है तथा गृह-कलह बनी रहती है। मानवीय अधिकारों के लिये भी इस प्रथा का समाप्त होना उचित है। इससे आर्थिक व्यवस्था बिगड़ जाती है, एक पुरुष के लिये अधिक स्त्रियों का भार वहन करना कठिन होता है। यही कारण है कि सम्प्रति-काल में आदिवासियों में भी इस प्रथा का लोप तथा एक विवाह-प्रथा का आविर्भाव हो रहा है। इस प्रथा की एक बुराई यह भी है कि इसमें स्त्रियों का स्तर अति निम्न हो जाता है, सम्पत्ति के विभाजन की भी समस्या खड़ी हो जाती है। इस प्रथा में निरन्तर पारिवारिक झगड़े बने रहते हैं, जिससे सदैव मानसिक असन्तोष बना रहता है। इन्हीं आर्थिक तथा भावात्मक समस्याओं के कारण बहु-विवाह प्रथा को समाप्त किया गया है।

बहु-पति विवाह :

इस प्रथा में एक स्त्री का एक समय में दो या दो से अधिक पुरुषों के साथ विवाह होता है। यह प्रथा आदिम-जन जातियों में पाई जाती है। जहाँ स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम होती है, प्राकृतिक साधनों का अभाव और गरीबी होती है, वहाँ बहु-पति विवाह प्रथा पाई जाती है। पोमेराय के अनुसार "विस्तृत अर्थों में यह केवल

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री – 'गोली', (१९६६), पृ० १३४.
२ कपाडिया – 'हिन्दू मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया', ९७.
३. वही, पृ० ९७.

उन्हीं प्रदेशों में पाई जाती है, जहाँ प्रकृति मनुष्य की शत्रु होती है, जीवन दुष्कर होता है भोजन की अत्यधिक कमी होती है तथा पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक होती है।" १

परन्तु आधुनिक काल मे बहुपति विवाह प्रथा विश्व की निम्न जन जातियों में प्रचलित है – ग्रीनलैण्ड के एस्किमो, समस्त तिब्बती जातियां मे, हिन्दुस्तान के टोडा, नेयर, कुर्ग, मालाबार में इरवान तथा कमाल, समाल आदि में यह प्रथा विषम आर्थिक स्थिति के कारण पाई जाती है। बहु-पति विवाह के भी दो रूप पाये जाते हैं—

(१) भ्रातृ सम्बन्धी (फ्रेटर्नल पोलिएण्ड्री) :

इसमे स्त्री के सभी पति सहोदर भाई होते हैं। जब बडा भाई किसी स्त्री से विवाह करता है, तो इस प्रथा के अनुसार वह स्त्री सभी अनुज भ्राताओं की पत्नी मान ली जाती है। १ जब एक पुरुष किसी स्त्री से विवाह कर लेता है तो वह स्त्री प्राय. उसी समय अन्य भाईयों की पत्नी भी बन जाती है और यदि छोटा भाई विवाह के समय बालक ही है तो बडा होने पर वह भी बडे भाइयों के अधिकारों मे भागीदार माना जाता है। भ्रात सम्बन्धी बहु पति विवाह भारत की खास, टोडा जातियों मे हिमालय प्रदेश के लद्दाख और जौनसार, बावर (देहरादून जिला तथा तिब्बत मे प्रचलित है। '*खासी जाति मे जहाँ बहु-पति विवाह प्रथा पाई जाती है वहाँ भ्रात* बहु विवाह प्रथा अधिकतर प्रचलित है।" २ द्रोपदी के विवाह का उदाहरण भी इसीका प्रतीक है, परन्तु मनोवैज्ञानिक आधार पर यह अनुचित है।

(२) अभ्रात्र सम्बन्धी बहु–पति विवाह·

इसमे स्त्री के पति आपस मे सहोदर भ्राता न होकर अन्य गोत्रों के व्यक्ति होते है। दक्षिण भारत की जन जातियों विशेषकर मालाबार और कोचीन की नैयर जाति मे यह प्रथा प्रमुखत प्रचलित है। नैयर जन जाति मे पतियों का आपस मे भाई होना आवश्यक नही। मालाबा और कोचीन मे बहु पति विवाह दूसरे गोत्र के सदस्यों के साथ भी हो सकता है। इसमे स्त्री बारी बारी से अपनी इच्छानुसार किसी भी पति के पास जितने दिन चाहे रह सकती है।

उपर्युक्त विवाह रीतियों के अतिरिक्त विवाह के दो रूप भी पाये जाते हैं जिसे देवर-भाभी विवाह तथा साली विवाह (Levirate Sororate) कहते हैं। यह कई समाजों मे पाये जाते हैं। पति की मृत्यु के बाद छोटे या बडे भाई से स्त्री का विवाह कर दिया जाता है। इसी प्रकार पत्नी की मृत्यु के बाद साली से पुरुष भी

---

१ राल्फ डे पामेराय – 'मैरिज पास्ट, प्रजेन्ट एण्ड फ्यूचर', (१९३०), पृ० ४५
२ कपाडिया – 'हिन्दू मैरेज एण्ड फैमिली इन इण्डिया', पृ० ६४
२. वही, पृ० ६४.

विवाह कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि परिवार का विघटन न हो, परन्तु सभ्य समाज इसे उचित नहीं मानता। साली विवाह तो सभी समाजों मे इतना हेय नहीं माना जाता, जितना देवर-भाभी विवाह। सागी जाति में पुरुष की मृत्यु के बाद स्त्री मृतक व्यक्ति के भाई के द्वारा रख ली जाती है और यदि कोई बाहरी व्यक्ति विवाह करता है तो उसे परिवार को निश्चित धन राशि देनी पड़ती है। यदि स्त्री अपने देवर को पसन्द नहीं करती या देवर नहीं चाहता तो बाहरी व्यक्ति को अधिकार दिया जाता है। इस प्रथा को टीकवा (Tekwa) कहा जाता है।"[1] पंजाब में भी यह प्रथा पाई जाती है।

राजेन्द्रसिंह बेदी के उपन्यास 'एक चादर मैली सी' मे भाई की मृत्यु के बाद छोटे भाई का भाभी से विवाह कर दिया जाता है। इस प्रथा को पंजाब में चादर डालना कहा जाता है। रानो के पति की मृत्यु के बाद ज्ञानचन्द (पात्र) कहता है– "रानो को मंगल से चादर डाल लेनी चाहिये, गाँव मे आई औरत बाहर क्यों जाय? इधर-उधर क्यों झांके. इससे गाँव के सब मर्दों की बदनामी होती है।"[2] विधवा को समाज अरक्षित समझ प्रताड़ित न करे इस भावना से भी यह प्रथा प्रचलित थी। ज्ञानचन्द सोचता है, "हमारे देश पंजाब में जहाँ औरतों की कमी है, क्या मर्दों से उनका हक छीना जाए? क्यों एक औरत को बेकार जलने-सड़ने दिया जाये।"[3] इस प्रकार रानो और मंगल की इच्छा न होते हुए भी समाज, बिरादरी के लोग चादर डाल देते हैं। यह एक प्रकार से विधवा पुनर्विवाह है, जिसे समाज ने मान्यता देकर विधवा को सुरक्षा देने का प्रयास किया है ताकि लोग उस पर उँगली न उठायें साथ ही उसके बच्चों का पालन हो सके।

'हिन्दू विवाह अधिनियम, १६५५' के पश्चात्, मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य सभी जातियों के लिये, ऐक्य विवाह का पालन करना अनिवार्य हो गया है। यही कारण है कि इन प्रणालियों का विवेचन आधुनिक उपन्यासों मे नहीं होता।

---

१. कपाड़िया – 'मैरेज एण्ड फैमिली इन इण्डिया', पृ० ६४–६५.
२. राजेन्द्रसिंह बेदी – 'एक चादर मैली-सी,' पृ० ३८ (पाकेट बुक १६६८).
३. राजेन्द्रसिंह बेदी – 'एक चादर मैली-सी' (पाकेट बुक १६६८), पृ० ३८

अध्याय ६

मूल प्रवृत्तियाँ तथा सामाजिक नियंत्रण

(क) मूल प्रवृत्ति की अवधारणा तथा नया उपन्यास साहित्य

मूल प्रवृत्ति की अवधारणा :

आधुनिक काल में हिन्दी उपन्यास साहित्य, जन-जीवन का केवल कलात्मक इतिहास ही नहीं, वरन् समाज का समग्र प्रतिबिम्ब है, जिसमें पात्रों की मानसिक स्थितियों का चित्रण तथा उनकी दुर्बलताओं और आन्तरिक द्वन्द्वों का निरूपण किया जाता है। आधुनिक उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक शैली में मूल-प्रवृत्तियों को भी महत्त्व दिया जाता है। नवीन उपन्यास साहित्य में पुरातन विश्वास शिथिल पड गये हैं। आज पात्रों के चारित्रिक विकास मूल प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। आज आदर्शों का आग्रह नर-नारी को नहीं बांधे हुए है, वरन् वह परिस्थितियों से परिचालित हैं। उपन्यासकार मानव को पवित्रता की कसौटी पर कसने की अपेक्षा चेतन-अवचेतन मन की प्रवृत्तियों के आधार पर उसे परखने की चेष्टा करते हैं। नैतिकता के पूर्वाग्रहों की कट्टरता शिथिल हो रही है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि ने अपने पात्रों की निजी मनोवृत्तियों का उद्घाटन किया है।

जैनेन्द्र, प्रथम उपन्यासकार हैं, जिन्होंने मानव के वैविध्य और वैचित्र्य को उभारा[1] तथा व्यक्ति की मान्यताओं को सामाजिक धरातल पर अभिव्यक्ति दी और बाहर से भीतर की ओर आये, सामाजिक समस्याओं के स्थान पर व्यक्तिगत उलझनों का निरूपण किया है। आत्मा की पवित्रता शारीरिक पवित्रता से महत्त्वपूर्ण है, जिसका चित्रण जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास 'त्यागपत्र' में किया है। 'त्यागपत्र' की

---

१. डा० बेचन-'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र विकास',
(१९६५), पृ० १५७.

मृणाल परिस्थितिवश परम्परागत मापदण्डों के अनुसार पतित है, परन्तु नवीन दृष्टिकोण से वह सहानुभूति की अधिकारिणी है। "सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा आन्तरिक सदाचार को अधिक मूल्य प्रदान किया गया है।"[१] शरद् भी सतीत्व से नारीत्व को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने कहा है–मैं मानव-धर्म को सती-धर्म से ऊपर स्थान देता हूं।" आज के उदारवादी उपन्यासकार नैतिकता का कोई आग्रह नहीं मानते। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने परम्परागत सामाजिक नियन्त्रण में परिवर्तन लाने का प्रयास किया। ऐसे पात्रों का भी उन्होंने चित्रण किया जो दमित इच्छाओं तथा वैयक्तिक विकृतियों के शिकार हैं तथा जो सामाजिक और आर्थिक विवशता की घुटन के कारण कभी-कभी सामाजिक विधान का उल्लंघन कर विद्रोही हो उठते हैं।

जैनेन्द्र का 'परख' हिन्दी का महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, जिसमें कुछ पात्रों के अन्तर्जगत का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। उपन्यास में 'हृदय और बुद्धि का अविराम संघर्ष चलता रहता है।'[२] लेखक ने कट्टो, सत्यधन तथा बिहारी के माध्यम से व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों तथा सामाजिक विधान के घात-प्रतिघात की क्रिया-प्रक्रिया को अभिव्यक्ति दी है।

कट्टो, जो बाल विधवा है, यौवन की देहरी पर पहुँचते ही, सहज दमित भावनाओं से प्रेरित हो सत्यधन की ओर आकर्षित होती है, परन्तु सत्यधन कट्टो के मूक समर्पण से प्रभावित होने पर भी अपने मित्र बिहारी की बहिन गरिमा से विवाह कर लेता है और कट्टो बिहारी के साथ आजीवन वैधव्य-यज्ञ में कूद पड़ती है। "उपन्यास में बुद्धि तथा हृदय, व्यक्ति तथा समाज के संघर्षों का अंकन है। सत्यधन तथा कट्टो के प्रेम-व्यापार में यौनाकर्षण की सहज प्रवृत्ति का चित्रण है।"[३] कट्टो के माध्यम से हृदय की कोमल भावनाओं का निरूपण किया गया है, जो अनुराग की वेदी पर सर्वस्व अर्पित कर सेवा-धर्म का व्रत लेती है। "सत्यधन व्यावहारिक बुद्धि अपनाकर भी विफल है। उसकी आत्मप्रवचना छिपती है, जिसे कट्टो ने भी परख लिया है।"[४] इसलिये वह बिहारी के साथ आत्मिक तादात्म्य स्थापित करती है, परन्तु बन्धन तन का नहीं मन का है।

'परख' में उन मनोभावों का अंकन है, जो प्रणय की दीपशिखा पर स्वयं का दान करने के लिये बाध्य करते हैं।

---

१. डा० त्रिभुवनसिंह – 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' (चतुर्थ संस्क० सं० २०२२ वि०), पृ० २३३.

२. डा० सुरेश सिन्हा – 'हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास' (१९६५) पृ ३५०.

३. सुषमा धवन – 'हिन्दी उपन्यास', पृ० १७६.

४. वही पृ० १७६.

'सुनीता' मे भी हरिप्रसन्न की दमित कामेच्छा सुनीता के सम्पर्क से आसक्ति के शिखर पर पहुँच जाती है। उसकी आत्मा म कही गाँठ पडी है[1] पर सुनीता को अनावृत देख हरिप्रसन्न का मन ग्लानि से भर उठना है, नग्न यथार्थ सदैव अप्रिय हुआ करता है, शायद इसीलिये जीवन की वास्तविकता को जान कर हरिप्रसन्न वितृष्णा से भर उठता है और वह सुनीता को घर छोड कर अज्ञात पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। दमित इच्छाओं का विस्फोट हरिप्रसन्न के मानस पर आघात करता है और वह पलायनवादी बन जाता है।

सुनीता' मे व्यक्ति और समाज विवाह और प्रेम का द्वन्द्व है। अनिच्छिन्न वैवाहिक बन्धन मे बध कर नारी े प्रेम की मूलप्रवृत्ति कुण्ठित तो अवश्य हो जाती है पर समूल नष्ट नही हो सकती। सामाजिक प्रतिबंधा के कारण नर-नारी का सहज आकर्षण समाप्त नहीं हो सकता, परन्तु समाज के नियत्रण के कारण अनुभूति, दुविधा तथा उलझन बनी रहती है। इसी को लखक न चित्रित करने का प्रयास किया है। 'त्यागपत्र' मे जैनेन्द्र ने मृणाल की अतृप्त, अमुक्त वासनाओ का चित्रण किया है, जो उसकी जीवन धारा का बदल दती है। मृणाल का जीवन प्रारम्भ से ही अभावो स परिपूर्ण है। वह बाल्यकाल से ही माता-पिता की स्नेहिल छाया से वचित है, भाई-भाभी के सरक्षण में बडी होती है, कठोर अनुशासन के कारण अपने मे ही सहमी-सिमटी रहती है, अपने भतीजे प्रमाद म सहज स्नेह की झलक देखकर उसे अपने सुख दु ख का साथी समझने लगती है। अ ग्रेजी स्कूल में पढ़ते समय उसका अपनी सहेली शीला के भाई स प्रम हो जाता है, जिसका पता भाभी को लगने स कठोर दड की भागी बनती है और अनजान क्रूर व्यक्ति स मृणाल का विवाह कर दिया जाता है। वह अपने सरल स्वभाववश अपने पूर्वप्रेमी का उल्लेख पति से कर दती है, जिसके कारण उसे घर से निकाल दिया जाता है। कुछ दिन कोयले के व्यापारी के साथ रहती है, जो उद्दाम वासना के शमन के बाद उसे छोड जाता है। मृणाल अस्पताल मे एक बच्ची को जन्म देती है, जो दस महीने बाद मृणाल को छोड जाती है। कुछ दिन डाक्टर के यहाँ नौकरी करती है और फिर भटकती हुई समाज के निम्नतर तबके के लोगों मे पहुँच जाती है जहाँ घातक रोग के कारण जीवन की समस्त वेदना और सताप को लिये ससार से चली जाती है। मृणाल के जीवन-त्याग के आघात से विह्वल हो प्रमोद जीवन को निस्सार मानन लगता है और जज के पद से त्यागपत्र दे देता है।

मृणाल का जीवन एक तीखा व्यग्य है। जीवन मे सदा नकार पाते रह कर भी उसका मन विद्रोही नहीं हुआ। वह अतिशय सवेदनशील हो गई है, प्रमोद के आग्रह करने पर भी वह घर नही जाती वरन् अपने परिप्रेक्ष्य के पतित लोगों का प्रमोद की धनराशि से उद्धार करना चाहती है। "जैनेन्द्र की मृणाल एक प्रहेलिका

---

१ डा० बेचन – 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र चित्रण', पृ० १५३

है।"[1] शरत के देवदास की भाँति लेखक ने मृणाल के अन्तर्जगत को अधिक प्रस्फुटित नहीं किया। "प्रेम की क्या गरिमा थी, जिससे उसने निन्दा, कलंक और दुःख तीनों को चुपचाप सह लिया।"[2] वह समाज से विलग हो कर भी समाज की मंगलाकांक्षी है, पर उसकी इस महत्ता को समाज नहीं समझ पाया। समाज के मर्माहत प्रहारों ने उसे कुंठित कर दिया है; वह जड़वत सब सहन करती है। उसका विद्रोह भी आत्म-विद्रोह है, जहाँ वह समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में स्वयं ही टूटती रहती है।"[3]

वह तिलतिल कर जीवन को होम कर देती है। "विषम विवाह तथा विफल प्रेम ने खीज, निराशा तथा विवशता भर दी है और आत्म-पीड़न को ही वह जीवन का लक्ष्य मान लेती है।"[4] इसमें लेखक ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जीवन में सहज प्रवृत्तियों के कुंठित होने पर जीवन दुःखान्त विभीषिकाओं से भर उठता है। सामाजिक विधान के आवरण से मूल प्रवृत्तियों को चाहे कितना ही झुठलाया क्यों न जाये, परन्तु वे अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ रहती हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यास व्यक्तिप्रधान हैं। इसमें व्यक्ति का अपने व्यक्तित्व के लिये संघर्ष है। इनके नारी पात्रों के समक्ष विवाह एक विकट समस्या के रूप में उपस्थित है, जिसमें व्यक्तिगत कामनायें उन्हें अपनी ओर खींचती हैं समाजगत धारणाएँ अपनी ओर। इस द्वन्द्व के कारण उनका जीवन विकल हो जाता है — सुनीता, सुखदा, मृणाल आदि का जीवन वेदनामय है। पुरुष पात्रों के जीवन में भी पलायन तथा विरक्ति ही परिलक्षित होती है। हरिप्रसन्न के पलायन का कारण सुनीता में विरक्ति है, सर दयाल, जजी से त्यागपत्र देकर साधु बन जाते हैं। जयन्त गैरिक वस्त्र धारण करता है। इससे स्पष्ट है कि आज समाज की परम्परागत मान्यताएँ व्यक्ति के विकास में बाधक हैं और नवीन मान्यताएँ अभी स्थापित नहीं हो पाई हैं। इस संक्रान्तिकाल में उदासमना मानव, अंधी गलियों में भटक रहा है।

जैनेन्द्रजी ने अहं तथा समर्पण की मूलप्रवृत्तियों का अपने उपन्यासों में चित्रण किया है। 'सुनीता' उपन्यास में श्रीकान्त का समर्पण तथा हरिप्रसन्न का अहं द्रष्टव्य हैं। 'त्यागपत्र' में मृणाल का त्याग सारी सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्य है, उसका समर्पण अपूर्व है। प्रमोद जजी से त्यागपत्र देकर समर्पण का परिचय देता है। 'विवर्त' में भुवनमोहिनी का जितेन के प्रति संवेदनमय समर्पण है। 'व्यतीत' में जयन्त अनिता के अनुराग के कारण उसे ही समर्पित है। "अहं और समर्पण परस्पर विरोधी वृत्तियाँ हैं, जिनके लिये लेखक ने आत्मपीड़न का विधान किया है। 'सुखदा'

---

१. जैनेन्द्र कुमार — 'त्याग पत्र' पाँचवा संस्करण १९५०, पृ० ७२.
२. पदमलाल पुन्नालाल बख्शी — 'हिन्दी कथा साहित्य' (१९५४), पृ० १०१-१०२.
३. जैनेन्द्र कुमार — 'त्यागपत्र', पृ० ९०.
४. डा० सुरेश सिन्हा — हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास, पृ० ३५८.

के जीवन की मूल समस्या यह की है, जिसके उत्सर्ग के लिये वह अपने को हठात पीडाग्नि मे जला देती है।"[1] लेखक ने मानव मन की अनुभूतियो को महत्त्व देकर आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य मे मनोवैज्ञानिक उपन्यास का शिलान्यास किया है।"[2]

आधुनिक काल में काम प्रवृत्ति को चेतना का प्रेरणा आधार माना जाने लगा है और इसलिये भूख के समान भोग को एक दुर्निवार प्रवृत्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है। "काम-वजनाओं से उद्भूत वैचारिक विकृतियों के विश्लेषण की ओर आग्रह बढता जा रहा है।"[3]

युगीन उपन्यासकारो ने मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियों को महत्त्व देना प्रारम्भ किया है। काम प्रवृत्ति को मनुष्य की आदिम मूल-प्रवृत्ति मानते हैं, जो स्त्री-पुरुष की दैहिक प्रवृत्तियो से सम्बन्धित होने के साथ सामाजिक जीवन के सभी पहलुओ को भी प्रभावित करती है और उनका रूप भी निर्धारित करती है। इसीलिए आधुनिक जीवन मे इनका इतना महत्त्व है।[4] यही कारण है कि युगीन उपन्सकार नर-नारी के सहज आकर्षण को घृणा की दृष्टि से नही देखते। अब काम-भाव की समस्या की विविधता से चित्रण किया जाने लगा है।

मनुष्य का चरित्र उसके चेतन से नही, अवचेतन से भी निर्मित और सचालित होता है। अवचेतन मे मनुष्य की वे आदिम प्रवृत्तियां होती हैं, जो सत्-असत् की चिन्ता किये बिना कार्य करती हैं और यह भी सत्य है कि ये ही हमारे सारे व्यक्तिगत और सामाजिक आचारों के मूल में होती हैं।[5] आधुनिक उपन्यासकारो की चरित्र सम्बन्धी धारणाएं बदल गई हैं, क्योंकि मनोग्रथियाँ, मनोवृत्तियाँ चरित्र को प्रभावित करती हैं। मूल प्रवृत्तियों को मानव-जीवन की परिचालिका माना जाने लगा है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक परिवर्तनों के परोक्ष मे भी इन्हीं आदिम प्रवृत्तियों को देखते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हिंसा को मनुष्य की मूल प्रवृत्ति मानते हैं—हिंसा-अहिंसा की विवेचना इसी दृष्टिकोण से करते हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' का हरिप्रसन्न, 'सुखदा' का लाल तथा 'विवर्त' का जितेन सभी क्रान्तिकारी पात्र मनोवैज्ञानिक आधार पर हिंसा की सहज वृत्ति की उपज हैं।

---

१. डा० नगेन्द्र—"आस्था के चरण", पृ० ६२२.
२ सुषमा धवन—हिन्दी उपन्यास, पृ० २००
३ शिवनारायण श्रीवास्तव—हिन्दी उपन्यास, पृ० २८४
४ बिन्दु अग्रवाल—हिन्दी उपन्यास में नारी-चित्रण, पृ० ४६.
५ डा० रामदरश मिश्र—'हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा,' पृ० ३१.

इलाचन्द्र जोशी, फ्रायड से प्रभावित हैं; स्त्री और पुरुष को विश्व के दो वर्ग मानते हैं। इनके 'जिप्सी' उपन्यास में वीरेन्द्रसिंह को साम्यवादी बनने के लिये उसकी घरेलू परिस्थितियों ने बाध्य किया है। उसकी माँ कहार की लड़की थी और धनी व्यक्ति की रखैल, इस मानसिक कुंठा ने उसे साम्यवाद की ओर प्रेरित किया। जोशी जी की राजनीति समाज पर आधारित न होकर व्यक्ति और उसके अन्तर्मन पर आधारित है। जोशी जी के पात्र जन्मजात मनोग्रंथियों की उपज हैं और राजनीतिक विचार भी इन मनोग्रंथियों पर आधारित हैं। "जोशी जी का दृष्टिकोण मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद के समन्वय की ओर उन्मुख है। मार्क्सवाद बाह्य जीवन का विश्लेषण करता है और मनोविश्लेषण आन्तरिक"[१] जीवन का विश्लेषण करता है। जोशी जी के अनुसार व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिये इन दोनों का सामंजस्य आवश्यक है।

फ्रायड, व्यक्ति तथा समाज की समस्याओं के मूल में काम-वासना की अतृप्ति को मानते हैं। इन्होंने इद, ईगो, सुपरईगो अर्थात् अवचेतन; अचेतन तथा चेतन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। फ्रायड यौन-प्रवृत्ति को मानव-जीवन की मूल परिचालिका मानते हैं। फ्रायड के अनुसार सभ्यता के विकास के साथ-साथ यौन-प्रवृत्ति का स्वच्छन्द प्रदर्शन, नैतिक दृष्टि से हेय माना जाने लगा, इसलिये मानव मन इन मनोवेगों को मन के भीतर दमित रखने का प्रयास करने लगा, परन्तु इन दमित मनोवेगों में कभी-कभी भूकम्प-सा आ जाता है या मथन होने लगता है। चेतन तथा अवचेतन मन के बीच द्वन्द्व मच जाता है, जिसके फलस्वरूप विविध मानसिक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं।[२]

जोशी जी, फ्रायड से सहमत हैं परन्तु "युंग के मत को भारतीय आध्यात्मिकता के अधिक निकट मानते हैं।"[३]

युंग के मत की व्याख्या जोशीजी ने इस प्रकार की है—"साधारण अवस्था में अचेत मन को जिन प्रवृत्तियों का पता नहीं होता वही असाधारण अवस्था में पूरे वेग से उभरती हैं, और सचेत मन में भारी हलचल मचा देती हैं। जोशी जी मानते हैं कि मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खण्डों में नहीं किया जा सकता, मानव का मनोलोक असंख्य स्तरों में विभक्त है। जिन मनोवेगों का दमन किया जाता है वे मनोलोक के अनेक स्तरों में जाकर घुलमिल जाते हैं। असाधारण अवस्था में अनेक स्तर एक-दूसरे से टकराते हैं और सचेत मन पर आक्रमण करते हैं। इस तरह अन्तस्थल में भूकम्प की-सी स्थिति उत्पन्न होती है।"[४] जोशी जी अन्तर्जगत के

---

१. सुषमा धवन-'हिन्दी उपन्यास,' पृ० २०४–५ (१९६१).
२. इलाचन्द्र जोशी–'विश्लेषण' (१९५४), पृ० १०७.
३. वही, पृ० १०८.
४. इलाचन्द्र जोशी–'विश्लेषण' (१९५४), १०९.

प्रभाव को बाह्य जगत से अधिक गहन मानते हैं। आन्तरिक शक्तियाँ ही, बाह्य जीवन का परिचालन करती हैं। इन्हीं आन्तरिक प्रेरणाओं के अभिव्यक्त रूप सामाजिक अथवा असामाजिक कहलाते हैं। जोशीजी अहं-भाव को जीवन की महत्त्वपूर्ण संचालिक शक्ति मानते हैं। व्यक्ति को समाज में उसके कार्यों से मान्यता दी जाती है और कार्य (रोल) की परिचालिका अन्तः प्रवृत्तियां हैं। अहं की प्रवृत्ति का कुंठित स्वरूप इनके उपन्यास 'सन्यासी' के नन्दकिशोर में दिखाई देता है, जो उसमें सन्देह और ईर्ष्या की भावना भर देता है। सन्देह वृत्ति के कारण ही उसके जीवन में अस्थिरता है। वह अतृप्त अहंभाव के कारण सन्देह-जाल में सिर धुनता रहता है और अन्त में पलायनवादी बनता है, जो उसकी असामाजिक प्रवृत्ति का द्योतक है। 'सन्यासी' के पात्रों का जीवन अवसाद और निराशा से परिपूर्ण है, जिसके कारण नन्दकिशोर सन्यासी हो जाता है और जयन्ती आत्महत्या करती है। यह उनके कुंठित जीवन की ही प्रतिक्रिया है। जोशी जी जीवन को संचालित तथा विकृत करने वाली मूल भावना अहं-भावना को मानते हैं। अहं के विविध रूप हमें 'सन्यासी' उपन्यास में मिलते हैं।

जयन्ती, नन्दकिशोर के अहंकारी स्वभाव की ओर लक्ष्य करती हुई कहती है "आपका अहंकार हद दर्जे तक आगे बढ़ा हुआ है। उसके कारण आपके जीवन में अक्सर अशान्ति और बेचैनी छाई रहती होगी। आप चाहते हैं, जिस स्त्री से आपका सम्बन्ध हो पूर्णरूप से आपकी होकर रहे उसका कुछ भी स्वतंत्र रूप से अपना कहने को न रहे।"[1]

आधुनिक काल में पूंजीवादी व्यवस्था के कारण व्यक्ति और सामाजिक विधान में असमानता है, जिससे कुंठा घनीभूत हो रही है। जोशीजी के उपन्यास 'जहाज का पंछी' में इसी सामाजिक कुहासे का अंकन है। "प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति बाह्य आडम्बर तथा वैभव का जामा पहने हुए संकीर्ण अहम् से भरा हुआ है; प्रत्येक अकिंचन व्यक्ति जीवन के अभावों से ग्रस्त है और मध्यवर्गीय स्थिति के लोग विरोधी परिस्थितियों से जूझते हुए नियति के क्रूर उपहास का शिकार हैं।"[2] सारा जीवन-परिप्रेक्ष्य भारस्वरूप तथा बेमानी है, जो पूंजीवाद और व्यक्तिवादी युग-चेतना की देन है, जिसने 'जहाज का पंछी' के नायक को बार-बार चौराहे पर ला खड़ा किया है।

नायक समाज के सभी वर्गों के सम्पर्क में आता है—"उसे प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्वार्थ की भावना ही प्रबल दिखाई देती है और वह व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के उद्देश्य से ही सामूहिक स्वार्थ में योग देता है।"[3] निम्नवर्ग में तो फिर भी

१. इलाचन्द्र जोशी—'सन्यासी' (१९४१), पृ० ३८१.
२. वही, 'जहाज का पंछी' (१९५५), पृ० ५९.
३. वही, 'जहाज का पंछी', पृ० ५८.

नायक को सहानुभूति, सौहार्द प्राप्त होता है, परन्तु अन्य दोनों वर्गों (उच्च तथा मध्य) में रीतापन है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण इन्हें और भी पीड़ित किये हुए है। नायक अपनी जिजीविषा के कारण परिस्थितियों से जूझता है। वह व्यक्ति के विकास के लिये स्वस्थ सामाजिक विधान की परिकल्पना करता है। इस उपन्यास में जोशीजी "व्यक्ति से समाज की ओर अभिमुख होते हुए प्रतीत होते हैं"[1] जबकि इनका दृष्टिकोण मानव की अन्तश्चेतना को उभारने का है। वे व्यक्ति के माध्यम से ही समाज तथा व्यक्तिगत जीवन का निरूपण करते हैं। वे बाह्य जीवन के क्रिया-कलापों का आधार अन्तर्मन की प्रच्छन्न शक्तियों को मानते हैं। जोशीजी मनोविज्ञान के सहारे आदिम पशु-प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण करते हैं, जो सभ्यता के कारण दमित रहती है और मौके बेमौके मानस-पटल पर छाये कुहासे में से कौंध-कौंध जाती है। जोशीजी पात्रों के अचेतन मन को झकझोर कर व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों का उद्घाटन करते हैं ताकि वास्तविक स्वरूप के आलोक में व्यक्ति का विकास हो सके।

सामाजिक पृष्ठभूमि पर अज्ञेय ने अपने उपन्यासों में मन के सूक्ष्म तारों का स्पर्श किया है। अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास में शेखर के अवचेतन मन के सूक्ष्म भावों को शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है। उपन्यास में मूलप्रवृत्तियों को स्वतन्त्र माना है और इनके बाधक सामाजिक सम्बन्धों को अस्वीकारा है। शेखर का यह अस्वीकार ही उसके जीवन को विद्रोह से भर देता है, जिससे उसके जीवन का अन्त अकल्याणजनक होता है। जीवन को संचालित तथा विकृत करने वाली अहंभावना के दर्शन हमें शेखर में होते हैं।

शेखर और जा क्रिस्तोफ में पर्याप्त समानता है और इसके लिये अज्ञेय ऋणी हैं रोम्यां रोलां के प्रति। शेखर और जा क्रिस्तोफ में भय, अहं एवं काम-भावना की प्रवृत्तियां एक प्रकार की हैं। दोनों के नायकों के मन के भय स्वप्न के रूप में प्रकट होते हैं।[2] लेखक ने शेखर के विद्रोही स्वभाव के पीछे उसकी तीव्र बुद्धि को दर्शाया है-"जहाँ उसने अपनी सहज बुद्धि की प्रेरणा मानी वहाँ उचित किया और जहाँ उसकी बुद्धि को दूसरों ने प्रेरित किया, वहीं लड़खड़ा गया।"[3] लेखक ने व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के आधार पर शेखर के अहंवादी व्यक्तित्व को चित्रित किया है-"शेखर, शशि के प्रति प्रणत है, परन्तु जिस शशि के लिये वह इतना संघर्ष करता है, जिसके प्रति उसका सम्पूर्ण अन्तर-बाह्य तुषार धवल गिरि शृंग की तरह पिघल जाता है, वहाँ भी वह आत्मोत्सर्ग नहीं जिसे प्यार का पूरा नाम दिया जा सके। वह स्वयं कहता है-तुम सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जा कर तेज होता रहा है।"[4] शेखर मध्यतम क्षणों में भी नहीं भूल पाता कि उसका और शशि का

---

१. सुषमा धवन-'हिन्दी उपन्यास', पृ० २३६.

२. डा० सुरेश सिन्हा-'हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास', पृ० ४३५.

३. अज्ञेय – 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम खण्ड) (१९४४), पृ० ५७.

४. डा० नगेन्द्र – 'आस्था के चरण', पृ० ६२७ (१९६८).

सम्बन्ध तलवार और सान का सम्बन्ध है मान का अस्तित्व तलवार के लिये है। इसलिये शशि, शेखर के लिये जीती है, उसी के लिये मर जाती है.[1] शेखर का यह ग्रह ही है, जो उसे शशि के समक्ष भी विशिष्ट बने रहने के लिये बाध्य करता है। परन्तु शेखर का सर्वग्राही ग्रह अपनी नग्नता में एकान्त और एकान्तता में करुण है।[2] वह अपनी एकान्तता को आत्मविभोर होकर अपनी मर्म पीड़ा को भी शशि के स्नेह स्पर्श में भुला देना चाहता है।[3] शेखर चाहे शशि के अनुरूप समरण की उदात्त भूमि पर न हो उसके क्रिया-व्यापार में भिन्नता है, किन्तु इतना फिर भी निश्चित है कि शेखर और शशि दोनों अखण्ड विश्वास में बंधे दो प्राणी हैं।"[4]

अज्ञेय मानव-मानव के आन्तरिक संघर्ष को चित्रित करते हैं। कुछ आलोचकों का विचार है कि अज्ञेय ने शेखर के माध्यम से प्रेम और अहं की दो मूलप्रवृत्तियों का चित्रण किया है। डा० नगेन्द्र अहंकार को शेखर की मूल-प्रवृत्ति मानते हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार अज्ञेय जैसे एक-आध कलाकार द्वारा फायड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी उपन्यास में आये।[5] शेखर के अतृप्त अहंजन्य विद्रोह का कारण सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जो उसके विकास में बाधक हैं, उसे सहज रूप में कुछ प्राप्त नहीं होता। लक्ष्य प्राप्ति के लिये उसे अपार यातना सहनी पड़ती है। शेखर शिक्षित मध्यवर्ग का प्रतीक है, जिसका जीवन सामाजिक संघर्ष से ग्रस्त है। शेखर के संघर्ष को, उसकी अन्तर्व्यथा को केवल शशि जानती है – "शेखर कोई बड़ा आदमी नहीं, वह अच्छा आदमी भी नहीं है, लेकिन वह मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से अपने को पहचानने की कोशिश कर रहा है .. वह जागरूक और स्वतन्त्र और ईमानदार है, घोर ईमानदार।"[6] "नीति और मर्यादा के नाम पर उन्हें जो भोगना सहना पड़ रहा है क्या वही मानव की नियति है ? यदि वह सही नहीं है, यदि वह युक्तिसंगत नहीं है, और यदि वह दोनों की पीड़ा के बीच काम्य नहीं है, तो वे उसे क्यों सहें, क्यों भोगें और क्यों जीवन के सत्य को मिथ्या के द्वारा स्वीकार करें।"[7] यह पात्र ईमानदारी से अपनी स्वतन्त्र इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं।

'नदी के द्वीप' उपन्यास का भुवन, शेखर की भाँति, विद्रोही नहीं है, परन्तु उसमें भी दमित वासनाओं का आग्रह यत्र-तत्र दिखाई देता है। रेखा कहती है –

---

१. डा० नगेन्द्र—'आस्था के चरण', पृ० ६२७.
२. वही पृ० ६२७.
३. विजयेन्द्र स्नातक – चिन्तन के क्षण (१९६१), पृ० १२२
४. वही पृ० १२४.
५. नगेन्द्र – विचार और विश्लेषण' (१९५५), पृ० ६३.
६ अज्ञेय – 'शेखर : एक जीवनी', भूमिका, पृ० १०.
७ विजयेन्द्र स्नातक – चिन्तन के क्षण, पृ० १२५

'भीतर से जो प्रेरणा है अगर उसके साथ ही पाप का, अपराध का, बोध नहीं जुड़ा हुआ है तो वही ठीक है वही नैतिक है। यह नैतिकता अधूरी हो सकती है, पर इसलिये कि उसे इस वाला व्यक्ति अधूरा है।'[1] लेखक ने स्मृति का सहारा लेकर मानसिक स्थितियों का चित्रण किया है। लेखक पर फ्रांसीसी लेखक ज्यां पाल सार्त्र का प्रभाव है।[2] सार्त्र का जीवन को देखने का दृष्टिकोण अहंभाव से प्रेरित है, भुवन का भी यही दृष्टिकोण है। लेखक जीवन को एक सरिता के अनुरूप मानता है, जिसमें व्यक्ति अधिक से अधिक छोटे-छोटे द्वीप हैं, उनके प्रवाह से घिरे हुए भी उससे कटे हुए भी, भूमि से बंधे और स्थिर भी पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी।[3]

फ्रायडवादी सिद्धान्तों के आधार पर शेखर की चारित्रिक दुर्बलताएँ स्वाभाविक हैं। फ्रायड के अनुसार बाल्यकाल में बच्चा अज्ञान रूप से विपरीत लिंग (अपोज़िट सेक्स) के प्रति आकर्षित होता है। फ्रायड ने कहा है कि माता के दुग्धपान तथा स्तन-स्पर्श में भी यौन की मूलप्रवृत्ति निहित रहती है इसीलिये तीन वर्ष की शशि चार वर्ष का शेखर एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हैं। अज्ञेय का काम-चेतना के सन्दर्भ में यह सूक्ष्म अन्वेषण है। अतृप्त वासना उद्दाम काम-चेतना के कारण शेखर का सामाजीकरण नहीं हो पाता, क्योंकि शशि शेखर की मौसेरी बहिन है यह बोध शेखर की अवचेतन चेतना में सदा व्याप्त रहता है[4] वह आधुनिक समाज की अवरुद्ध कुंठाओं का मूर्तिमान रूप है। वह समाज से सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाता और यहाँ तक कि आत्महत्या करना चाहता है, ऐसा करने से शशि उसे बचाती है।

इस प्रकार अज्ञेय ने काम की मूल-प्रवृत्ति की कुंठा को, सामाजिक असफलता का प्रमुख कारण बनाया है और इसी प्रवृत्ति के कारण 'नदी के द्वीप' तथा 'अपने अपने अजनबी' में भी जीवन की घुटन और निराशा है। काम-कुंठा से व्यक्तित्व में अवरोध आ जाता है, इसका चित्रण अश्कजी ने भी किया है। उनके 'गिरती दीवारें' उपन्यास का नायक चेतन ऐसा ही पात्र है, जिसमें मध्यवर्गीय समाज की कुंठाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। चेतन कई नारी-पात्रों के सम्पर्क में आता है – कुन्ती, केसर, नीला, पत्नी-चन्दा आदि। यह उसकी चारित्रिक दुर्बलता है कि उसके नैतिक बन्धन शिथिल होने लगते हैं। उसका विवाह उसकी अनिच्छा से होता है, इसलिये यह कुंठा उसके चरित्र को और भी दुर्बल बनाये रहती है। नीला के प्रति प्रथम दृष्टि से ही आकर्षित है, परन्तु निम्न मध्यवर्गीय समाज की बाधाओं के कारण व्यक्त नहीं कर पाता; उसकी कमजोरियाँ समाज की देन हैं। बुद्धि, धन, नैतिकता, समाज विवाह-

---

१. अज्ञेय – 'नदी के द्वीप' (१९६०), पृ० २२८

२. सुषमा धवन – 'हिन्दी उपन्यास' (१९६१), पृ० २५१.

३. अज्ञेय – 'नदी के द्वीप' पृ० २२.

४. डा० विजयेन्द्र स्नातक – 'चिन्तन के क्षण', पृ० १२१.

ये सब दीवारें जो यथार्थ में उसकी चाहना को घेरे थी।"[1] उन्हीं का यथार्थ चित्रण अश्कजी ने किया है। चेतन ने जीवन में कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। वह घोर परिश्रम करता है, परन्तु बाल्यकाल से ही नियति का खिलौना रहा है। समाज के नैतिक मापदण्डों पर उसकी आत्मा विद्रोह करती है। उसे अपने पर भरोसा है, परन्तु परिस्थितियों के आगे विवश-सा है, जिससे उसके सुदृढ़ व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो पाता।

चेतन की काम-कुण्ठा अन्त तक बनी रहती है। नीला के अनमेल विवाह से उसकी आत्मा उसे धिक्कारती है, वह न तो अपनी दमित भावनाओं को समाज की नैतिकता के भय से व्यक्त कर पाता है, न ही उन्हें निर्मूल कर सकता है। इस अन्तर्द्वन्द्व से वह ग्रस्त है।

सहज प्रवृत्तियों की सहज अभिव्यक्ति में बाधा आने से जीवन की गति बदल जाती है। कुन्ती उसके स्नेह का प्रथम अनुभव है, जिसमें मौन तथा सकोच था,[2] परन्तु समाज के प्रतिबन्धों में ग्रस्त मानव किस तरह प्रेम का नाम ले सकता है। वह घुट-घुट कर मरने का अधिकारी है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि लेखक ने चेतन के चरित्र पर सामाजिक विषमताओं की पड़ने वाली प्रतिक्रियाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया है।[4]

मूलप्रवृत्तियों का उद्घाटन आधुनिक उपन्यास-साहित्य में बहुधा किया जाता है। भारतीय संस्कृति को मूलतः निवृत्तिमूलक तथा पाश्चात्य संस्कृति को प्रवृत्तिमूलक कहा जाता है, इसलिये प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति में भी दृष्टि-भेद पाया जाता है। यौन सम्बन्धों तथा पाप, पुण्य सम्बन्धी मान्यताएं भी विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न अर्थ रखती हैं। भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'चित्रलेखा' में चित्रित किया है कि जीवनगत आदर्श परिस्थितियों के अधीन हैं और वह उन्हीं के अनुकूल बदलते रहते हैं। लेखक की मान्यता है कि मानव संसार रूपी रंगमंच पर अपना अपना अभिनय करता है और मनः प्रवृत्ति से प्रेरित होकर कार्य करता है। "जो मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है, मनुष्य अपना स्वामी नहीं है वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं, वह केवल एक साधन है, फिर पुण्य और पाप कैसा? हम न पाप करते हैं न पुण्य, हम केवल वही करते हैं जो हम करना पड़ता है।"[5]

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क – 'गिरती दीवारें', पृ० ६८७. (दूसरा संस्करण १९४७).
२. वही, पृ० १०३.
३ वही पृ० १९६.
४. डा० सुरेश सिन्हा–'हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास', पृ० ४१६.
५. भगवतीचरण वर्मा–'चित्रलेखा' (प्रथम संस्क० १९३४, पृ० १९४.

'भीतर से जो प्रेरणा है अगर उसके साथ ही पाप का, अपराध का, बोध नहीं जुड़ा हुआ है तो वही ठीक है वही नैतिक है। यह नैतिकता अधूरी हो सकती है, पर इसलिये कि उसे देने वाला व्यक्ति अधूरा है।'[1] लेखक ने स्मृति का सहारा लेकर मानसिक स्थितियों का चित्रण किया है। लेखक पर फ्रांसीसी लेखक जान पाल सार्त्र का प्रभाव है।[2] सार्त्र का जीवन को देखने का दृष्टिकोण अहंभाव से प्रेरित है, भुवन का भी यही दृष्टिकोण है। लेखक जीवन को एक सरिता के अनुरूप मानता है, जिसमें व्यक्ति अधिक से अधिक छोटे-छोटे द्वीप हैं, उनके प्रवाह से घिरे हुए भी उससे कटे हुए भी, भू से बंधे और स्थिर भी पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी।[3]

फ्रायडवादी सिद्धान्तों के आधार पर शेखर की चारित्रिक दुर्बलताएँ स्वाभाविक है। फ्रायड के अनुसार बाल्यकाल में बच्चा अज्ञान रूप से विपरीत लिंग (अपोजिट सेक्स) के प्रति आकर्षित होता है। फ्रायड ने कहा है कि माता के दुग्धपान तथा स्तन-स्पर्श में भी यौन की मूलप्रवृत्ति निहित रहती है इसीलिये तीन वर्ष की शशि चार वर्ष का शेखर एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हैं। अज्ञेय का काम-चेतना के सन्दर्भ में यह सूक्ष्म अन्वेषण है। अतृप्त वासना उद्दाम काम-चेतना के कारण शेखर का सामाजीकरण नहीं हो पाता, क्योंकि शशि शेखर की मौसेरी बहिन है यह दोष शेखर की सम्बन्ध चेतना में सदा व्याप्त रहता है[4] वह आधुनिक समाज की अवरुद्ध कुंठाओं का मूर्तिमान रूप है। वह समाज में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता और यहाँ तक कि आत्महत्या करना चाहता है, ऐसा करने से शशि उसे बचाती है।

इस प्रकार अज्ञेय ने काम की मूल-प्रवृत्ति की कुंठा को, सामाजिक असफलता का प्रमुख कारण बताया है और इसी प्रवृत्ति के कारण 'नदी के द्वीप' तथा 'अपने अपने अजनबी' में भी जीवन की घुटन और निराशा है। काम-कुंठा से व्यक्तित्व में अवरोध आ जाता है, इसका चित्रण अश्कजी ने भी किया है। उनके 'गिरती दीवारें' उपन्यास का नायक चेतन ऐसा ही पात्र है, जिसमें मध्यवर्गीय समाज की कुंठाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। चेतन कई नारी-पात्रों के सम्पर्क में आता है – कुन्ती, केसर, नीला, पत्नी-चन्दा आदि। यह उसकी चरित्रगत दुर्बलता है कि उसके नैतिक बन्धन शिथिल होने लगते हैं। उसका विवाह उसकी अनिच्छा से होता है, इसलिये यह कुंठा उसके चरित्र को और भी दुर्बल बनाये रहती है। नीला के प्रति प्रथम दृष्टि से ही आकर्षित है, परन्तु निम्न मध्यवर्गीय समाज की बाधाओं के कारण व्यक्त नहीं कर पाता; उसकी कमजोरियाँ समाज की देन हैं। बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज विवाह-

---

१. अज्ञेय – 'नदी के द्वीप' (१९६०), पृ० २३८
२. सुषमा धवन – 'हिन्दी उपन्यास' (१९६१), पृ० २५१.
३. अज्ञेय – 'नदी के द्वीप' पृ० २२.
४. डा० विजयेन्द्र स्नातक – 'चिन्तन के क्षण', पृ० १२१.

ये सब दीवारें जो यथार्थ मे उनकी चाहना को घेरे थी।''[1] उन्ही का यथार्थ चित्रण अश्कजी ने किया है। चेतन ने जीवन म कई उतार-चढाव देखे हैं। वह घोर परिश्रम करता है, परन्तु बाल्यकाल से ही नियति का खिलौना रहा है। समाज के नैतिक मापदण्डो पर उसकी आत्मा विद्रोह करती है। उसे अपने पर भरोसा है, परन्तु परिस्थितियो के आगे विवश-सा है, जिसस उसके सुदृढ़ व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो पाता।

चेतन की काम-कुंठा अन्त तक बनी रहती है। नीला के अनमेल विवाह से उसकी आत्मा उसे धिक्कारती है, वह न तो अपनी दमित भावनाओ को समाज की नैतिकता के भय से व्यक्त कर पाता है, न ही उन्हे निर्मूल कर सकता है। इस अन्तर्द्वन्द्व से वह ग्रस्त है।

सहज प्रवृत्तियो की सहज अभिव्यक्ति मे बाधा आने से जीवन की गति बदल जाती है। कुन्ती उसके स्नेह का प्रथम अनुभव है, जिसमे यौन तथा सकोच था,[2] परन्तु समाज के प्रतिबन्धो से ग्रस्त मानव किस तरह प्रेम का नाम ले सकता है। वह घुट-घुट कर मरने का अधिकारी है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि लेखक ने चेतन के चरित्र पर सामाजिक विषमताओं की पडने वाली प्रतिक्रियाओ का अध्ययन प्रस्तुत किया है।[4]

मूलप्रवृत्तियो का उद्घाटन आधुनिक उपन्यास-साहित्य मे बहुधा किया जाता है। भारतीय सस्कृति को मूलत: निवृत्तिमूलक तथा पाश्चात्य सस्कृति को प्रवृत्तिमूलक कहा जाता है, इसलिये प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति मे भी दृष्टि-भेद पाया जाता है। यौन सम्बन्धो तथा पाप, पुण्य सम्बन्धी मान्यताए भी विभिन्न सस्कृतियो मे भिन्न-भिन्न अर्थ रखती हैं। भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'चित्रलेखा' मे चित्रित किया है कि जीवनगत आदर्श परिस्थितियों के अधीन हैं और वह उन्ही के अनुकूल बदलते रहते हैं। लेखक की मान्यता है कि मानव ससार रूपी रगमच पर अपना-अपना अभिनय करता है और मनः प्रवृत्ति से प्रेरित होकर कार्य करता है। "जो मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है, मनुष्य अपना स्वामी नही है वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नही, वह केवल एक साधन है, फिर पुण्य और पाप कैसा? हम न पाप करते हैं न पुण्य, हम केवल वही करते हैं जो हमे करना पडता है।"[5]

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क – 'गिरती दीवारें', पृ० ६८७. (दूसरा सस्करण १९४७).
२. वही, पृ० १०३.
३ वही पृ० १९६.
४. डा० सुरेश सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास', पृ० ४१६.
५. भगवतीचरण वर्मा—'चित्रलेखा' (प्रथम सस्क० १९३४, पृ० १९४.

वर्माजी नियति को कर्त्ता मानते हैं, मानव की सत्ता को नहीं; इसलिये पाप-पुण्य का भागी वह मानव को नहीं, नियति को मानते हैं। डा० चण्डीप्रसाद जोशी के अनुसार-"विचार दर्शन एक ओर इन्हें व्यक्तिवादी बना देता है, जब यह सामाजिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर प्रत्येक व्यक्ति की निज सत्ता मानते हैं, दूसरी ओर उनके व्यक्ति विवश हैं परिस्थितियों तथा नियति के दास हैं, यह विचार दर्शन इन्हें नियतिवादी बना देता है। इन दो विभिन्न विचार-दर्शनों के कारण जोशीजी ने उन्हें पराजयतावादी दर्शन का समर्थक माना है।[1]

प्रत्येक मानव विशेष मन प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यदि नियति उसे किसी कृत्य के लिये बाध्य करती है और वह अपने अन्तर्जगत में सजग होकर कार्य करता है तो ऐसी अवस्था में पराजयता का प्रचारक मानना कुछ ठीक न होगा, क्योंकि लेखक सांस्कृतिक धरातल पर ही चरित्र-चित्रण करता है। 'चित्रलेखा' में विचित्र नीति का प्रश्न, उपन्यासकार के निजी चिन्तन का परिणाम नहीं है, वह अनातोले फ्रांस की छाया से प्रभावित है।[2]

डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' में मध्यवर्गीय समाज के शिक्षित सदस्यों के जीवन की समस्याओं और मान्यताओं का मनोवैज्ञानिक अंकन है। नायक चन्द्रनाथ आदर्शवादी है, परन्तु जीवन की कठोरता उसे यथार्थ की ओर उन्मुख करती है, परन्तु इसमें घोर मानसिक संघर्ष है। "चन्द्रनाथ सेक्स की दमित-शमित भावना से बिल्कुल खण्डित एवं असहस्य पात्र है।"[3] इसके जीवन में तीन नारी-पात्रों से सम्पर्क होता है—सुशीला मधुर स्वभाव की होने पर भी पति के आदर्शों को समझ नहीं पाती। साधना सुशीला की सखी है, जो चन्द्रनाथ के जीवन की साधना है, इसके साथ सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हो पाते, भाई-बहिन के सम्बन्ध रूप में भी प्रश्न स्पष्ट नहीं है, जिसके समाधान के लिये चन्द्रनाथ को घोर मानसिक कष्ट सहना पड़ता है। तीसरी है, आशा, चन्द्रनाथ की दूसरी पत्नी, जिसका सुशीला की मृत्यु के बाद साधना के प्रयास से चन्द्रनाथ के साथ विवाह होता है।

चन्द्रनाथ का "सेक्स की चेतना से आक्रान्त व्यक्तित्व है जो उसे जीवन-संघर्ष से जूझना नहीं, पलायन करना सिखाती है।"[4] उपन्यास में व्यक्तिवादी दर्शन के कारण व्यक्ति और समाज में संघर्ष है। प्रेम की शक्ति पर से विश्वास टूटने पर चन्द्रनाथ में घोर निराशा भर जाती है। "चन्द्रनाथ साधना का स्नेह और विश्वास

---

१. डा० चण्डीप्रसाद जोशी—'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन', पृ० ३०३.
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—'नया साहित्य नये प्रश्न' (१९५९), पृ० १९०.
३. डा० सुरेश सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास', पृ० ५२७.
४. डा० सुरेश सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास', पृ० ५२७.

पाना जीवन का वरदान मानता था।"[1] परन्तु जब समाजवादी दल की सदस्या बन कर साधना उसे छोड जाती है, तो उसके विश्वास को गहरा धक्का लगता है।

उपन्यास मे सामाजिक समस्याओ की व्यक्तिवादी दृष्टिकोण मे अभिव्यक्ति की गई है, जैसे क्या विवाह का आधार वैयक्तिक होना चाहिये या सामाजिक घटना[2], पाप और पुण्य का मूलाधार क्या है, वासना और प्रेम मे क्या अन्तर है ?[3] आदि समस्याओ का निरूपण है। साधना का समाज के प्रति विद्रोह, नारी के स्वातन्त्र्य की सहज प्रवृत्ति का द्योतक है। अपने स्व के लिये नारी, पुरुष तथा समाज के शोषण के प्रति विद्रोह करने के लिये विवश है।

सामाजिक परम्पराओ, तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के कारण आज सघर्ष है, इसका चित्रण देवराज के उपन्यास 'बाहर भीतर' मे भी किया गया है। जहाँ व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की सहज प्रवृत्ति अपेक्षित है वहा सामाजिक मान्यताओं-परम्पराओ के कारण उसका पूर्ण अपहरण किया जाता है, इसलिये दोनो मे सघर्ष है। व्यक्ति के विकास मे वह बाधक है, इसी आधार पर बाहर (समाज) भीतर (व्यक्ति) मे सघर्ष चित्रित किया गया है।

सुमित्रा भाभी और राजन देवर का निश्छल स्नेह, शकालु पति को सह्य नहीं। वह पत्नी को निजी सम्पत्ति समझने का अभ्यस्त है। सुमित्रा विषम विवाह की शिकार है, वह नारी की विवशता को अभिव्यक्त करते हुए कहती है — 'शादी मैंने नही की देवर ! हमारे देश मे लडकियो की शादी कर दी जाती है।"[4] राजन सरल स्वभाव का है। जीवन के यथार्थ से अनजान भावुक युवक है। कालान्तर में एक दूसरे के निकट समर्पित भाव लिये हुए आते हैं, परन्तु सामाजिक बन्धन मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं। सकीर्ण-हृदय पति के क्षुद्र व्यवहार तथा अपनी नैसर्गिक कोमल वृत्तियो के कारण सुमित्रा को बहुत सघर्ष करना पड़ता है। वह आत्मकुंठित हो आत्महत्या करना चाहती है। सुमित्रा का पति, घातक रोग के कारण चल बसता है। राजन का विवाह राय साहब की कन्या से निश्चित हो जाता है और सुमित्रा मानसिक रोग की शिकार हो जाती है। राजन का हृदय इस अनुताप से हाहाकार कर उठता है, वह अपनी दमित वृत्तियों से जूझने में सारी शक्ति क्षय कर रहा है। सुमित्रा के आन्तरिक द्वन्द्व ने उसके जीवनोल्हास को सोख लिया है। बाहर और भीतर के द्वन्द्व ने भीतर को तोड-मरोड कर पगु कर दिया है, जो व्यक्ति (भीतर) और समाज

---

१. देवराज—'पथ की खोज' भाग २ (१९५१), पृ० ४१५.
२. वही, पृ० १६.
३. वही, पृ० ३२७
४. देवराज – बाहर भीतर' (१९५४), पृ० ४४.

रजना के जीवन का मूल्य प्रत्येक पुरुष ने उसके शरीर मात्र में ही पाया है।[1] नरेश मेहता ने अपने उपन्यास 'नदी यशस्वी है' के नायक उदयन के बाल मन पर पड़ने वाले संस्कारों का यथार्थ चित्रण किया है। वह जमींदार घराने का है। नौकर-चाकर हैं, स्कूल में भी उसे विशिष्टता मिलती है। उसके चाचा उच्चवर्गीय दूरी बनाये रखने के लिये निम्न श्रेणी के लड़कों से मेल-जोल न रखने की हिदायत देते हैं, परन्तु वह सोचता है "क्या मैं लड़की हूं जो इस तरह बंध कर रहूं? यह न करो, वहां न जाओ ... लेकिन क्यों?"[2]

उदयन के अवचेतन मन की भावनाएं चेतना के स्तर पर बार-बार आ कर जब लौटती हैं, तो हठात् उसके समक्ष कुछ रहस्य खुल-खुल जाते हैं। बीमारी की हालत में सुनन्दा का स्नेहिल स्पर्श, उसकी अनछुई किशोर भावनाओं के तारों को झनझना देता है। वह सुनन्दा की लज्जा से झुकी आंखों को देखता ही रह जाता है। "लज्जा, वय पर नहीं बोध पर निर्भर करती है। नारी में यह बोध जन्मजात होता है और पुरुष इसे वयस्कता के साथ अर्जित करता है।"[3] इन सहज भावनाओं की अनुभूतियां, उदयन को सुनन्दा के सामीप्य से होती है। उदयन वयस्क होने पर भी अपने अतीत से विलग नहीं हो पाता। वह सोचता है – "हमें अपना भीतर छूट गया हुआ, लेकिन काम्य अतीत किस तरह घेरे रहता है, परन्तु वर्तमान की बाध्यता हमें प्रतिपल दूर-दूरतर करती ही जाती है, मैं अपने इस आभ्यन्तर के वैषम्य को उस प्रकार समरस नहीं कर पाता, जिसके कारण कि एक राग का जन्म हो सके; फलतः विवादी स्वर की भांति अतीत मुझमें छूटे हुए राग स्वर-सा आरोहिक बजता रहता है।"[4]

अतीत की उदयन के मानस पर अनेकों स्मृतियाँ हैं। नारी-देह के महत्त्व को लक्ष्मण द्वारा बताये जाने पर उसमें लज्जा और पश्चात्ताप की भावना भी पहली बार तभी अनुभव हुई थी, जिसके कारण वह आक्रोश, ग्लानि से भर उठता है। उसके पश्चात् सुनन्दा की वर्षगांठ के अवसर पर सहज भाव से हाथ पकड़ने पर पहली बार अनुभव करता है कि "पुरुष, पुरुष को कभी भी इस भांति नहीं देख सकता जैसे स्त्री पुरुष को देखती है।"[5]

उदयन के अनछुए मन में काम की अनुभूति 'कावेरी' ने जागृत की थी। "कावेरी नारी-देह का रहस्य मेरे निकट जीवन भर के लिये उद्घाटित करके कहीं

---

१. सुषमा धवन – हिन्दी उपन्यास, पृ० २७८.
२. नरेश मेहता – 'नदी यशस्वी है', पृ० ६१-२.
३. वही, पृ० १३२ (१९६७ प्रथम संस्करण).
४. वही, पृ० १४०.
५. वही, पृ० १७२.

चली गई। स्त्री क्या होनी है, का जो उत्तर कावेरी न दिया क्या सभी स्त्रिया के पास यही उत्तर होगा ? [1] इस प्रकार की सहज भावनाओ का उद्घाटन लेखक ने बडी निपुणता स किया है।

आधुनिक उपन्यास साहित्य मे मूल प्रवृत्तियो का समाजशास्त्रीय पीठिका पर चित्रण युगीन उपन्यासकारो न किया है, जो व्यक्तित्व के विकास तथा ह्रास मे महत्वपूर्ण स्थान रखती है, जो व्यक्ति क सामाजिक, असामाजिक स्वरूप को व्यक्त करती है।

(ख) मूल प्रवृत्तियाँ तथा सामाजिक परम्पराएँ

उपन्यास-साहित्य, समाज की परम्पराओं तथा प्रचलित आदर्शों को देश-काल के सन्दर्भ मे चित्रित करता है, साथ ही नैतिक परिवर्तन की प्रवृत्तियो को भी चित्रित करता है। सामाजिक परम्पराओ मे परिवर्तन प्रगतिवाद, बुद्धिवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो के कारण होता है। सामाजिक मान्यताओं परम्पराओ के चित्रण के कारण ही उपन्यास-साहित्य की प्रभावपूर्ण विधा बन जाती है। उपन्यास के प्रभाव का वर्णन करते हुए टी० एस० इलियट ने कहा है -' धर्म और उपन्यास दोनों का क्षेत्र मानव आचरण है, धर्म हमारी नैतिकता की तथा दूसरों के प्रति हमारे आचरण की रूपरेखा निर्धारित करन के अतिरिक्त, हमारे अन्दर आत्मविश्लेषण की भावना जागृत करता है तो उपन्यास-साहित्य भी हमारे आचरण को प्रभावित करन क अतिरिक्त हमारे व्यक्तित्व और चिन्तन पर प्रभाव डालता है।" युगीन उपन्यासकारो ने व्यक्तित्व के निर्माण मे मूल प्रवृत्तियो के महत्व को स्वीकारा है साथ ही उनकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति मे बाधक सामाजिक मान्यताओं का भी चित्रण किया है। सामाजिक परम्परायें, सामाजिक विरासत की द्योतक हैं, जिनमे हमारी दार्शनिक मान्यताएँ, धार्मिक विश्वास, जन रीतियाँ, नैतिक नियम तथा विश्वास प्रतिबद्ध होते हैं। परम्पराएँ अपनी प्रबल शक्ति तथा युग युग से संचित ज्ञान व अनुभव के कारण मूल-प्रवृत्तियो पर अधिकार रखती हैं। परम्पराओ के माध्यम से युगो का संचित ज्ञान तथा अनुभव पीढी-दर पीढी हस्तान्तरित होता चलता है। परम्पराओ का बन्धन समाज मे व्यक्ति के आचरण को नियन्त्रित करने में सहायक होता है और अतीत के सकलित तथा प्रतिष्ठित अनुभव भावी संतति के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होते हैं, परन्तु समय की गति के साथ यदि परम्पराओ का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता, तो यह कठोर रूढियाँ बन जाती हैं।

रूढिबद्ध परम्पराएँ व्यक्ति और समाज दोनों की प्रगति मे बाधक हो जाती हैं। ऐसी परम्पराओ के प्रति विरोध तथा आक्रोश उत्पन्न हो जाता है, नई मान्यताओं की स्थापना के लिये संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस संघर्ष से जो परम्परा पुन

१ नरेश मेहता 'नदी यशस्वी है' पृ० २२१.

अनुसरण करने का आदेश है वहाँ प्राकृतिक, स्त्रीजनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है ' उसे क्यों छोड़ दूं।''[1] इस काल के उपन्यासों में मानव-जीवन की सम्पूर्णता तथा व्याख्या पर बल दिया जाने लगा।

विकास के तीसरे चरण में उपन्यासों में मनोविज्ञान का प्रयोग होने लगा जबकि इसके पूर्व सामाजिक, ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते थे। मनोवैज्ञानिक धरातल पर रचे गये उपन्यासों में मानव-जीवन के बाह्य को ही नहीं, आन्तरिक स्वरूप को भी जानने का प्रयास किया जाने लगा। बाह्य घात-प्रतिघात गौण हो गये और मानव मन के आन्तरिक द्वन्द्व, संघर्ष तथा आलोडन-विलोडन को महत्त्व दिया जाने लगा। उपन्यासकार मानव की मूल प्रवृत्तियों को महत्त्व देते हुए अन्तर्जगत की व्याख्या करने लगे। मानव के अन्तर्मन में पैठ, उसकी कर्म प्रेरक प्रवृत्तियों जटिलताओं, कुंठाओं को मनोवैज्ञानिक धरातल पर अभिव्यक्त किया जाने लगा इन सबका समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह प्रभाव हुआ कि उपन्यासकार जीवन को नये दृष्टिकोण से देखने लगे। नये आदर्शों, नये मूल्यों की सृष्टि की जाने लगी। जीवन सम्बन्धी परम्परागत धारणाओं की जड़ें हिल उठीं परम्परागत नैतिकता और आचारमूलक सिद्धान्तों की जाँच की जाने लगी। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से नैतिक आदर्शों का मूल्य आंकने में यह अनुभव किया जाने लगा कि बाहर से स्वस्थ दिखाई देने वाली जड़ों में घुन लगा हुआ है। परम्परागत परम्पराओं का यह एक गहरा धक्का था जिससे नैतिक विश्वास लड़खड़ा उठे तथा नये और पुराने मूल्यों के मध्य संघर्ष होने लगा। इस संघर्ष ने उपन्यास साहित्य को नया मोड़ दिया, जिसमें फ्रायडियन चिन्तनधारा का भी समावेश था।

फ्रायडियन चिन्तन ने अवचेतन को ही मानव की समस्त प्रवृत्तियों का कोष माना। मानवीय व्यवहार की विवेचना के मूल में फ्रायड ने मानसिक कुंठाओं की कल्पना की है, जो कि मूल प्रवृत्तियों के दमन से उत्पन्न होती है। चरित्र निर्माण के लिये अचेतन मन की गहराइयों तक को उपन्यासकार झांकने लगे। "व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके वास्तविक जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म छानबीन की जाने लगी। विज्ञान की बढ़ती हुई शक्तियों ने मनुष्य के सोचने के ढंग में नवीनता ला दी।"[2]

इलाचन्द्र जोशी के अनुसार – "अन्तःतम प्रदेश की गहराइयों, गहन खाइयों, भयंकर चट्टानों, प्रलयकर तूफानों, निरंतर उलझती रहने वाली मानसिक गाँठों के कारण उत्पन्न हाहाकार पूर्ण शून्यमय अवसादों, विषादों तथा चित्त की अव्यवस्थित और असामंजस्यपूर्ण परिस्थितियों से उपन्यासकार भलीभांति परिचित रहता है।"[3]

---

१. जयशंकर 'प्रसाद'–'कंकाल' (सातवां संस्करण १९५२), पृ० १७६.
२ त्रिभुवनसिंह – हिन्दी उपन्यास और यथार्थ, पृ० २३२.
३. इलाचन्द्र जोशी – 'साहित्य चिन्तन' (१९५५).

इस प्रकार बहिर्मुखी दृष्टि के स्थान पर अन्तर्मुखी दृष्टि का सहारा लिया जाने लगा और अन्तर्मन में उठने वाले द्वन्द्वों के मूल में निहित कारणों को जानने की चेष्टा की जाने लगी। जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम इस ओर कदम उठाया। इनके उपन्यास 'परख' और 'त्यागपत्र' इस दिशा की ओर प्रथम प्रयास है। बाद में 'सुनीता' 'कल्याणी', 'सुखदा' आदि की रचना कर लेखक ने इस परम्परा को गति दी।

जैनेन्द्र ने व्यक्ति के चरित्र निरूपण में उनकी परिस्थितिजन्य समस्याओं को प्रमुखता दी, वैयक्तिक मनोभावों और मन स्थितियों का उद्घाटन किया। वैयक्तिक विवेचना किसी वर्ग अथवा समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करती, इसमें सामाजिक जीवन विस्तार के स्थान पर जीवन की कुछ ग्रन्थियों और गहराइयों को ही उपन्यासकार चित्रित करने में व्यस्त रहता है। 'चूंकि काल और देश के दो किनारों में जीवन की धारा बहती है अत उनका उल्लंघन कठिन और दुःसाध्य होता है।''[1] समाजशास्त्रीय आधार पर प्राय इनका विवेचन आत्मकेन्द्रिता का परिचायक है जहाँ सामाजिकता कभी कभी गौण हो जाती है। वैयक्तिक मनोभावों और मन स्थितियों के उद्घाटन से परम्परागत नैतिकता तथा सामाजिक आदर्शों की अवहेलना होती जान पड़ती है। जैनेन्द्र, सामाजिक नियन्त्रण से विलग होकर नए मूल्यों तथा आदर्शों की प्रस्थापना करने का प्रयत्न भी करते हैं।

सामाजिक परम्परागत मान्यताओं के प्रस्थापन के प्रयास में जैनेन्द्र की दार्शनिक प्रवृत्ति को मुखरित होने का अवसर मिला है। जैनेन्द्र दार्शनिक आवरण में यह व्यक्त करने का प्रयास करते हैं कि काम अभुक्ति की भावना मानव व्यक्तित्व को खण्डित कर देती है।'[2]

इलाचन्द्र जोशी, मानस के अन्तश्चेतन के अतल में छिपी प्रवृत्तियों के उद्घाटन को प्रमुखता देते हैं। उनका मत है कि मानव के राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के बाह्य रूप उसकी सामूहिक अज्ञात चेतना में निहित प्रवृत्तियों में परिचालित होते हैं।

जोशीजी फ्रायड तथा युग से प्रभावित हैं। वे मानते हैं कि मानव के बाह्य सभ्य रूप के नीचे बर्बरावस्था की पाशविक प्रवृत्तियाँ छिपी हुई हैं। सभ्यता के आवरण में छिपी पाशविक प्रवृत्तियाँ सभ्यता का झीना परिधान फाड़ कर अपने नग्न रूप में प्रकट होती हैं। इन मूल प्रवृत्तियों के दमन के जोशीजी विरोधी हैं। जोशीजी का मत है कि मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके देखना चाहिये कि इनका सही उपयोग कैसे किया जा सकता है। वह अहं की भावना तथा इसके समाजघाती परिणामों की तह तक पहुँच कर ऐसे उपायों को ढूंढना चाहते हैं जिनसे जन समुदाय का हित हो।

अज्ञेय, अपने उपन्यासों में मानव के संघर्ष को प्रतिबिम्बित करना चाहते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के कारण पात्रों की द्वन्द्वग्रसित तथा संघर्षग्रस्त मन स्थिति व मनये

---

१ जैनेन्द्र—साहित्य का श्रेय और प्रेय (१९५३), पृ० १०७
२ डा० सुरेश सिन्हा — हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास, पृ० ३६ .

उठने वाले अस्पष्ट और धुँधले भावों को चित्रित करते हैं। पात्रों के मन की ग्रन्थियों, अनुभूतियों पूर्वाग्रहों एवं परम्परागत मनोभावों और वर्तमान स्थिति के बीच होने वाले संघर्ष के अनेकों चित्र उनकी सबल लेखनी ने उभारे हैं।

अज्ञेय के पात्र, परम्परागत लोक-नीति के प्रति विद्रोह व्यक्त करते हैं, वे स्वच्छन्द आचरण तथा निर्बाध प्रेम को मान्यता देते हैं। श्रीमती गुर्टू के अनुसार अज्ञेय के पात्र अपनी संवेदनाओं, विचारों और चेष्टाओं में आचरण स्वातन्त्र्य के कायल हैं। शेखर स्वयं भी इस मत का पुरजोर समर्थक है कि स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध किसी भी दशा में अपराध अथवा जघन्य नहीं है, अपितु भूख और प्यास की भाँति भोगेच्छा भी जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है, जिस पर किसी भी प्रकार की पाबन्दी या हस्तक्षेप अनुचित है। व्यक्ति की अबाध निरपेक्ष सत्ता है, जो किसी मर्यादा और नैतिकता की गिरफ्त में नहीं रहती, अपितु सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त है, समय की अमाप पगडंडियों पर जिसकी स्वचालित गति है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने अचेतन मनोभावों को व्यंजित किया है, तथा सूक्ष्मतमा अनुभूतियों को चित्रित किया है। वह मूलप्रवृत्तियों के दमन में विश्वास नहीं करते, उनकी स्वस्थ अभिव्यक्ति को मान्यता देते हैं। यदि सामाजिक परम्पराएँ तथा प्रतिबन्ध अति कठोर रूप धारण कर लेते हैं, तो मूल प्रवृत्तियाँ मौके-बेमौके उभर कर सामाजिक विकृति का रूप धारण कर लेती हैं, इसलिये सामाजिक संगठन तथा व्यक्ति और समाज में स्वस्थ सम्बन्धों के लिये किसी भी कार्य के पीछे उसकी प्रेरक मूल-प्रवृत्ति को जानना आवश्यक है।

मूल-प्रवृत्तियों पर सामाजिक मूल्यों का नियन्त्रण, कुछ हद तक आवश्यक है अन्यथा अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, परन्तु नियन्त्रण भी उसी सीमा तक उचित है, जहाँ तक व्यक्ति के विकास में सहायक हो। राजेन्द्र यादव के 'प्रेत बोलते हैं' में मध्यवर्गीय समाज की रूढ़िबद्ध परम्पराओं को प्रेतों के रूप में चित्रित किया है। 'समर' महत्वाकांक्षी युवक है, परन्तु सामाजिक संस्कार उसकी स्वप्निल आकांक्षाओं को ध्वस्त कर देते हैं। भारतीय संस्कृति का मोह उसकी चेतना को जड़ बना देता है। लेखक समय को सांस्कारिक प्रेतों से मुक्ति दिलाना चाहता है। संस्कारों को सामाजिक आवश्यकता के अनुसार बदलना चाहिये। किसी भी सीमा की लक्ष्मण-रेखा में बंधे हुए हम, उसे लाँघने के लिये छटपटाने लगते हैं; क्योंकि स्वातन्त्र्य व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति है। "जिन्दगी की किसी भी कारा में, किसी भी बंधन में हम चुप नहीं रह सकते। हम कलमों में उतरेंगे, दिमागों पर छाएँगे और नसों में तैरेंगे। हम निरन्तर माँग करते रहेंगे। हमें नये शरीर दो, हमें नया रूप दो, हम इन कष्टों में नहीं रहेंगे, हम निराधार नहीं भटकेंगे। प्रकाश फूट रहा है, हम एक दूसरे को पहचान रहे हैं – अब हम ज्योति से डरते नहीं। नाश के क्रान्तिकारी चरणों से सृजन होने

लगा है हमें भी नाचना है क्योंकि वह शिव है और हम प्रेत हैं।''[1] इस प्रकार, सामाजिक परम्पराओं से बाध्य होकर आज का मानव नहीं रह सकता। समाज के प्रेत बोल उठे हैं और नवीन जीवन की चाह उसमें जाग उठी है।

बुद्धिवादी मानव सामाजिक परम्पराओं को एक सीमा तक ही मानने को तैयार है। 'कल के पाप पुण्य की परिभाषाएँ ओछी और छिछली हो गई हैं।''[2] इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति सामाजिक परम्पराओं का आज मोहांधता से पालन करने के लिये तैयार नहीं है। पग-पग पर इनके अंकुश से जीवन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

अनेकानेक शताब्दियों की निर्मित परम्पराएँ बुद्धि से निसृत हो व्यक्ति के द्वारा समाज की निधि बन जाती हैं। शताब्दियों के इस अबाध प्रवाह ने व्यक्ति के मन और बुद्धि पर भिन्न कोणीय प्रभाव डाले हैं। उन संस्कारों को मिटाने की चेष्टा, व्यक्ति के प्रगति पथ को अवरुद्ध करने जैसी है। अतः प्राचीन परम्पराओं की प्रवहमान धारा से बने स्थान पर नवीन परिस्थितियों के अनुकूल विचारधारा के स्रोत को प्रवाहित कर सहज विकास की ओर प्रेरित होना ही बुद्धिगम्य है।

(ग) सांस्कृतिक प्रभाव

आधुनिक शिक्षा के फलस्वरूप नवीन चेतना का जन्म हुआ, नवीन बौद्धिक उन्मेष ने मध्ययुगीन सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रहार करना आरम्भ किया। धर्म, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता आदि तत्त्वों से मध्ययुगीन जन-मानस प्रभावित था परन्तु बौद्धिक विकास ने उन परम्पराओं को, जो संस्कृति-विकास में बाधक थी, तिरस्कृत किया।

संस्कृति, समाज का विशिष्ट जीवन-ढंग है, जिसे मनुष्य-जाति का सामाजिक जीवन भी कहा जा सकता है। विज्ञान और प्रविधि की उन्नति के कारण विभिन्न देशों की संस्कृतियों में संश्लेष स्थापित हुआ, जिसने एक-दूसरे को प्रभावित किया। संस्कृति सामान्यतया मनुष्य के सीखे हुए व्यवहारों का समग्र रूप है। संस्कृति का मोह प्रत्येक समाज में पाया जाता है। भारतीयों में अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति आज भी श्रद्धा पाई जाती है। हिन्दी के कई साहित्यकारों में अपनी संस्कृति के प्रति विशेष आग्रह पाया जाता है, जिसमें प्रसादजी का विशिष्ट स्थान है। प्रसादजी की भारतीय संस्कृति के प्रति अपार श्रद्धा थी। भारतीय जीवन दर्शन, प्रसादजी के जीवन-दर्शन का सहज अंग रहा है। भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को उन्होंने महत्त्व दिया। परन्तु भौतिक उन्नति के प्रति वे सर्वथा उदासीन नहीं थे। वे बुद्धि और हृदय दोनों के सामंजस्य को श्रेयस्कर मानते थे। मानव-मन की आनन्ददायिनी

---

१. राजेन्द्र यादव - 'प्रेत बोलते हैं' (१९५२), पृ० ३०८ ३०९,
२. राजेन्द्र यादव - 'उखड़े हुए लोग' (१९५६), पृ० २११.

सहज प्रवृत्तियों को मान्यता देते हुए, उन्हें जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति मानते थे, साथ ही इस पर बुद्धि का यथोचित अंकुश होना भी आवश्यक मानते थे। प्रसाद का जीवन दर्शन, भारतीय आत्मवाद पर आधारित था। भारतीय संस्कृति में जीवमात्र में आत्मिक समता को माना गया है, प्रसाद की भी यही धारणा थी। इस आत्मिक सत्ता को मानववाद भी कहा जा सकता है। प्रसाद ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों को मान्यता देते हुए, मानव की सहज प्रवृत्तियों के विकास तथा मानव की समता को महत्त्व दिया है।

प्रसाद ने अपने उपन्यासों में प्रचलित नैतिक मर्यादाओं के खोखलेपन, तथा जन-मानस के सन्ताप का चित्रण किया है। 'कंकाल' (हड्डियों का ढाँचा) सामाजिक अजरावस्था तथा नैतिकता के खोखलेपन को परिभाषित करता है। प्रसादजी ने समाज के नैतिक बन्धनों, नियमों पर प्रहार किया है जो जीवन रस को सोख रहे हैं, इसी का अंकन इनके उपन्यास कंकाल' तथा तितली में मिलता है। प्रसाद ने व्यक्ति के अभाव, पतन तथा वेदना के लिये रूढ़िगत्मुखी परम्पराओं को दोषी ठहराया है। व्यक्ति की विवशता का कारण वे समाज में प्रचलित धारणाओं, विश्वासों तथा सारहीन नैतिक बन्धनों को मानते हैं। निरञ्जनदेव और मि० बाथम के झूठे धार्मिक आवरण के पराक्ष में कमुकता तथा साम्प्रदायिकता की भावना है। प्रसादजी ने श्रीचन्द्र, किशोरी और मगलदेव की कुलीनता के थोथे गर्व की पोल खोली है। प्रसाद व्यक्ति को कुंठित करने वाली सामाजिक संस्थाओं को मान्यता नहीं देते, इसीलिये 'कंकाल' में उन्होंने व्यक्ति के समस्त अधिकारों की माँग की है। इस प्रकार प्रसादजी प्राचीन संस्कृति के पोषक होते हुए भी नवीन जीवन-मूल्यों को व्यक्ति के विकास के लिये महत्त्व देते हैं। सांस्कृतिक आदर्श का व्यवहारिक रूप संस्कार है, जिन्हें व्यक्ति समाज के माध्यम से ग्रहण करता है। "सांस्कृतिक आदर्श काल्पनिक आकाश में विचरण नहीं करते, सांस्कृतिक आदर्शों का मूल्य व्यक्ति के लिये तब सम्भव है, जब इन्हें सामाजिक जीवन में व्यवहृत कर सकें।"[1]

सांस्कृतिक विशेषताएं प्रत्येक व्यक्ति, समूह अथवा समाज में भिन्न-भिन्न होती हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक दोनों पक्षों का महत्त्व है। भौतिक संस्कृति से तात्पर्य है विज्ञान द्वारा प्राप्त उपलब्धियाँ, अभौतिक संस्कृति में विश्वास, कला आचार, व्यवहार, प्रथाओं, रूढ़ियों आदि को सम्मिलित किया जाता है। रावर्ट बीरस्टीड (Robert Bearsted) ने अपनी पुस्तक 'दि सोशल आर्डर्स' में लिखा है–' संस्कृति एक जटिल समग्रता है, जिसमें सम्मिलित सभी वस्तुओं पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं, समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।" इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृति एक सामाजिक विरासत है। मेकाइवर

---

१. डा० चण्डीप्रसाद जोशी—हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन पृ० ३०७.

और पेज के अनुसार— 'संस्कृति हमारे रहन, विचार करने तथा प्रतिदिन के कार्य-कलाप में, साहित्य, कला, धर्म और मनोरंजन में हमारी प्रकृति को प्रकट करती है।'[1] सांस्कृतिक विशेषताओं को उपन्यासकार पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। 'शेखर एक जीवनी' में अज्ञेयजी ने शेखर के चरित्र के माध्यम से समाज संस्कृति, धर्म ईश्वर तथा मूल्यों की अवहेलना कर बुद्धि के महत्त्व की घोषणा की है। बालक शेखर की प्रत्येक जिज्ञासा को ईश्वर की महिमा कहकर दबा दिया जाता है, उसकी प्रतिक्रियास्वरूप वह ईश्वर को मानव बुद्धि के ज्ञान के बीच एक दीवार समझने लगता है। वह कहता है — 'कोई ऐसा नहीं है जिस पर निर्भर किया जा सके, जिसे प्रत्येक बात में पूर्ण अचूक माना जा सके, यदि कोई किसी का है तो उसकी अपनी बुद्धि। मनुष्य को उसके सहारे चलना है उसी के सहारे जीना है।'[2] शेखर का विद्रोह ईश्वर के विरुद्ध ही नहीं वरन् समाज, संस्कृति, मान्यताओं के विरुद्ध भी है। वह जिस वातावरण में बड़ा हुआ है उसने शेखर के मनोभावों को कुंठित कर दिया है, जिससे वह विद्रोही हो उठा है। संस्कृति व्यक्ति को समाज के अनुकूल बनाने का प्रयास करती है। व्यक्ति जिस समाज का अंग होगा उसी के सांस्कृतिक गुण उसके व्यक्तित्व में परिलक्षित होंगे। हिन्दू मुस्लिम, ग्रामीण शहरी, आंचलिक, धार्मिक तथा प्रादेशिक संस्कृति का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह में पाया जाता है।

सांस्कृतिक प्रभाव प्रारम्भिक काल के उपन्यासों से लेकर नवीनतम उपन्यासों तक द्रष्टव्य है। पूर्व-प्रेमचन्द युगीन उपन्यासकारों में हिन्दू धर्म तथा प्राचीन रीतियों-नीतियों का आग्रह है। हरिऔधजी के उपन्यास 'अधखिला फूल' में धर्म की महत्ता बताते हुए नायिका कहती है—"जो धर्म के लिये मरते हैं उनके लिए सब ओर उजाला है मुझे धर्म प्यारा है, जी नहीं।"[3] इसमें नायिका के धार्मिक संस्कार अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार का धार्मिक मताग्रह धार्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों का रूप धारण करने लगा, परन्तु बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने जब बुद्धि तथा तर्क को महत्त्व देना प्रारम्भ किया तो प्राचीन मान्यताओं के प्राचीर टूटने लगे। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति में परिवर्तन हुआ। बहुत से अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय तेजी से पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति को अपनाने लगे। पाश्चात्य की भौतिकवादी सभ्यता ने भारतीयों को आकर्षित किया, जिसे समाज-शास्त्रीय आधार पर वैस्टरनाइजेशन (पश्चिमीकरण) कहा गया है। परन्तु अपनी प्राचीन परम्परा के प्रति अनुराग रखने वाले बुद्धिजीवी पुरातन संस्कृति का ही गौरव-गान करते रहे और पाश्चात्य की नकल करने वालों की भर्त्सना करते, जिसके दर्शन लज्जाराम शर्मा मेहता के 'हिन्दू गृहस्थ' (१९०३) 'आदर्श दम्पति'

---

१. मेकाइवर एण्ड पेज—'सोसायटी', पृ० ४९९
२. अज्ञेय—"शेखर : एक जीवनी', (१९५५), पृ० ९५.
३. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—'अधखिला फूल', पृ० १६३

(१९०४) में तथा व्रजनन्दन सहाय के 'अरण्यबाला' आदि में होते हैं। मेहता जी पाश्चात्य संस्कृति की नकल करने वाले भारतीयों पर तीखा व्यंग्य करते हैं।[1]

व्रजनन्दन सहाय भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं, साथ ही पाश्चात्य सभ्यता को पूर्णतः हेय नहीं मानते बल्कि दोनों के गुणों को स्वीकारते हैं; देश की समृद्धि के लिये दोनों के समन्वय की अपेक्षा है। वे धर्म को प्रमुखता देते हुए भी सामाजिक उन्नति का तिरस्कार नहीं करते।[2]

पूर्व-प्रेमचन्द युग के उपन्यासकार सुधारवादी हैं और पुरातन संस्कृति का मोह उनमें अधिक परिलक्षित होता है। प्रेमचन्द तथा उस काल के अन्य उपन्यासकारों में प्राचीन के प्रति अनुराग होते हुए भी नवीनता के साथ सामंजस्य करने की प्रवृत्ति है। प्रेमचन्द में विशेषतः यह प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रेमचन्दजी के 'गोदान' में ग्रामीण तथा शहरी सभ्यता-संस्कृति का विशद चित्रण है।

संस्कृति अर्जित संस्कार है। जिस परिवेश में व्यक्ति का विकास होता है उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व बनता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'धर्मपुत्र' में मुस्लिम माँ बाप की सन्तान का लालन-पालन हिन्दू डाक्टर अमृतलाल तथा उसकी पत्नी अरुणा के संरक्षण में होता है, जिसका वह अपने अन्य बच्चों की तरह हिन्दू नाम दलीप रखते हैं। हिन्दू परिवार का सदस्य होने से वह कट्टर हिन्दू पंथी तथा हिन्दू संस्कृति का कट्टर अनुयायी बन जाता है और मुसलमानों का घोर विरोधी। हिन्दू संस्कृति का हिमायती होने के कारण अपनी भावी पत्नी माया को भी ठुकरा देता है, क्योंकि वह पाश्चात्य संस्कृति में पली है। वह अंग्रेजी पढ़ा-लिखा युवक है, परन्तु अंग्रेजों पर प्रहार करते हुए कहता है *"तुम्हारे राज्य में हिन्दू लड़के-लड़कियों* को क्यों बाइबिल जबर्दस्ती पढ़ाई जाती है? इन सब चालों को हम समझते हैं, फिर दार्शनिक हिन्दुओं और कट्टर मुसलमानों को धर्म सिखाना टेढ़ी खीर है।"[3] दलीप राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेता है, उसे जेल होती है। उसके जेल से वापस आने पर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े उग्र रूप धारण कर लेते हैं। *मुसलमानों को, जिनकी* दिल्ली थी, जहाँ की भाषा, सभ्यता में मुसलमानी नज़ाकत नफासत थी, उसे छोड़ना पड़ता है। सात सौ वर्ष तक हिन्दू अर्द्ध-दासता भोगते हुए दिल्ली की चौखट पर माथा टेकते रहे थे, उसी दिल्ली को वैसा ही भरा-पूरा गुलजार छोड़ उस पर हसरत की नजर डालते हुए उसकी सम्पन्न सड़कों पर सदा के गुलाम हिन्दुओं को शेर की तरह घूमते देखते हुए वे चले जा रहे थे, यह काल-चक्र था, परिवर्तन था, जो अभूतपूर्व था[4]

१. लज्जाराम शर्मा मेहता 'आदर्श दम्पत्ति' (१९०४), पृ० ५६
२. व्रजनन्दन सहाय—'अरण्यबाला' (१९०१), पृ० ३२७
३. आचार्य चतुरसेन शास्त्री – 'धर्मपुत्र' (पाँचवाँ संस्क० १९६६), पृ० १२१.
४. वही, पृ० १७०.

इस हलचल भरे वातावरण में दलीप मुसलमानों का बदला लेने बन जाता है और रंगमहल में आग लगाने पहुँचता है। उस यह भान भी न था कि यह उसकी माता का महल है तथा उसमें उसकी माँ रहती है जिसका रक्त उसकी धमनियों में प्रवाहित है। उसी समय डा० दम्पत्ति वहाँ पहुँच कर उसकी माँ को बचा लेते हैं। उसे जब ज्ञान होता है कि वह हुस्नबानू का पुत्र है, तो हिन्दू संस्कृति में पला उसका संस्कारी मन स्तब्ध रह जाता है। वह निश्छल निर्वाक पत्थर की मूर्ति बन जाता है। उस मेधावी उदग्रीव तरुण का मर्मान्तिक क्रन्दन कर उठना है। मनुष्य के संस्कार बहुत प्रबल होते हैं। दलीप हिन्दू संस्कृति में पला है इसलिये घोर हिन्दू पंथी हो गया है। इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृति जैवकीय नहीं, सामाजिक विरासत है जिसे अर्जित किया जाता है और अपने सांस्कृतिक परिवेश की अमिट छाप व्यक्ति पर होती है।

युगीन उपन्यासकार पाश्चात्य संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हैं, इसलिये अर्थ-मूलक भौतिकवादी संस्कृति के ही आज अधिक दर्शन होते हैं। आधुनिक मान्य-मूल्यों में भी परिवर्तन हुआ है। भीष्म साहनी की लम्बी कहानी 'डोरे' में अर्चना सामाजिक दृष्टि से विवाहित नहीं है, फिर भी जिससे प्रेम करती है उस व्यक्ति की पहले भी पत्नी है पुत्र बिट्टू है जिसका जन्मदिन वह स्वयं मनाती है. माँग भरती है चाहे बाद में रुई के फोहे से पोंछ देती है।[1] वह अपने प्रेमी के प्रति समर्पित है, परन्तु उसके साथ काम करने वाली अन्य साथी महिलायें उसका उपहास उड़ाती हैं। वह सभी तीज त्यौहार पर गृहस्थिनों से भी ज्यादा निष्ठा के साथ पूजा करती है, मनौतियां मानती है उपवास करती है।[2] इस प्रकार की विचारधारा प्राचीन संस्कृति में सम्भव नहीं थी, क्योंकि यह पुरातन नैतिक मूल्यों के विपरीत है। हिन्दू संस्कृति में किसी अविवाहित स्त्री के लिये यह कहना – "मैं तो शादी कर चुकी हूँ मेरी शादी तो उसके साथ उसी दिन हो गयी थी जब हम दोनों ने प्रेम की शपथ ली थी।"[3] मान्य नहीं होगा, परन्तु सामाजिक धरातल पर आज उपन्यासकार मानवीय अनुभूतियों को महत्त्व देने लगे हैं। यह पाश्चात्य का प्रभाव है। अर्चना किसी पर आर्थिक दृष्टि से आश्रित नहीं है इसलिये भी उसके लिये यह सम्भव है कि वह अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का किसी के लिये हनन न होने दे।

प्रेमचन्दकालीन संस्कृति को, जिसमें 'भौतिकवादी चेतना को कहीं-कहीं आध्यात्मिक मूल्यों की झालर से आवृत कर दिया गया है,"[4] आज केवल भौतिक तथा आर्थिक धरातल पर अपनाया जाने लगा है। मार्क्स तथा फ्रायड से प्रभावित

---

१ धर्मयुग, २१ मार्च अंक पृ० ३० (१९७१).
२. वही, पृ० ३०.
३. वही, पृ० ३१.
४. रामदरश मिश्र – हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा (प्र० सं० १९६८). पृ० १ .

उपन्यासकारों ने समाज तथा सामाजिक मान-मूल्यों पर प्रहार किया इसलिये प्राचीन सम्बन्धों में भी थोथे आदर्शों की पोल उतर गई है। इसीलिये आज उन समस्त गुत्थियों, वर्जनाओं, कुंठाओं का चित्रण उपन्यासों में पाया जाता है, जिन पर प्राचीन मान्यताओं के कारण नियन्त्रण था। यह भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से आज भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों के स्वस्थ तत्वों के समन्वय की आवश्यकता है। हम न तो द्रुत गति से बढ़ते हुए "भौतिक विकास से असम्पृक्त रह सकते हैं, न ही पूर्णतः भौतिकवादी सभ्यता के शिखर पर पहुँचे अन्य समाजों (यूरोप अमेरिका आदि की भाँति अपनी मानसिक शान्ति ढूँढने के लिये हरेकृष्ण, हरे राम के सम्वेत कीर्तन करते घूमना चाहते हैं"[1] और न ही हिप्पियों की संस्कृति को जन्म देना चाहते हैं जो मादक द्रव्यों का उपयोग करते हैं, और स्वच्छन्द प्रेम में विश्वास करते हैं।[2] इसलिये भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में स्वस्थ समन्वय अपेक्षित है।

आज जीवन के सभी क्षेत्रों में भौतिकवादी संस्कृति के दर्शन होते हैं। 'मनुष्य के रूप' उपन्यास में यशपाल ने न केवल विवाह को ही वरन प्रेम को भी आर्थिक समझौता माना है। वह उनके लिये नैतिक मूल्य नहीं वरन् परिस्थितिजन्य समझौता है। विवाह नैतिक शोषण है और प्रेम कभी हृदयगत नहीं वरन् भौतिक बाह्य परिस्थितियों की उपज है। सोमा के बदलते हुए नैतिक एवं मानवीय मूल्य तथा सदाचार को विचित्र रूपों में प्रस्तुत करने के लिये यशपाल ने घटनाओं तथा परिस्थितियों को इस तरह संयोजित किया है कि सोमा लेखक के हाथ की कठपुतली-सी जान पड़ती है।[3] यशपाल रूढ़ियों-परम्पराओं का विरोध करते हैं।

प्राचीन मान्यताओं की अवहेलना के परोक्ष में यशपाल का पूँजीवादी संस्कृति के प्रति आक्रोश है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे साम्यवाद के नाम पर भारतीय संस्कृति को विनष्ट करना चाहते हैं। विजयेन्द्र स्नातक अपने समीक्षात्मक निबन्ध में लिखते हैं कि 'मनुष्य के रूप' में यशपाल के सामने व्यक्ति और समाज का व्यापक परिप्रेक्ष्य है, वह केवल नारी-शोषण या यौन-व्यापार तक ही सीमित नहीं है।"[4] "यशपाल मानव-समाज के नैतिक आदर्शों का विरोध नहीं करते, वे विरोध करते हैं उन आदर्शों का जो समाज के नूतन निर्माण में बाधा उपस्थित कर उसे किसी एक पुरातनता के मोहपाश में जकड़ रखना चाहते हैं जो युग-चेतना के प्रतिकूल है।"[5]

---

१. धर्मयुग २० नवम्बर, १९७० अंक, पृ० १६
२. धर्मयुग, मई १९७१, पृ० ४१.
३. चण्डीप्रसाद जोशी — हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ४२७.
४. डा० विजयेन्द्र स्नातक — समीक्षात्मक निबन्ध, पृ० १७२. (द्वि० सं० १९६६).
५. वही, पृ० १५६

नवीन मूल्यों की स्थापना के लिए पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभावों को पूर्णतः ठुकराया नहीं जा सकता क्योंकि उनकी जड़ बहुत गहरी हो गयी हैं। परिवर्तन उदविकास (एवाल्यूशन) के माध्यम से लाया जाना चाहिये क्रांति (रिवोल्यूशन) द्वारा नहीं ताकि संस्कृति की स्वस्थ मान्यताओं के साथ नवीन मूल्यों की स्थापना हो सके। सम्पूर्ण समाज की सत्ता का नवीन मूल्यों की स्थापना में तिरस्कार नहीं किया जा सकता। संस्कृति के प्रगतिशील मूल्यों का स्वीकार्य सामाजीकरण में उपयोगी सिद्ध होगा।

हिन्दी के कई उपन्यासकारों ने सामाजिक संस्कृति के प्रभाव को पहचाना है। विभिन्न वर्गों की सांस्कृतिक रुचि तथा उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण को जानने का प्रयास किया है और उसे अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। अभिजात्य वर्गीय संस्कृति को तथा उनकी समस्याओं का रांगेय राघव, अमृतलाल नागर आदि ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। इनके पात्रों के पास न तो स्वस्थ पारिवारिक जीवन है न दाम्पत्य जीवन की गरिमा ही है। ये एक मृगतृष्णा के पीछे भटक रहे हैं। छिछलापन और दुराव इनके जीवन का प्रमुख विशेषता है दिखावा और झूठी मान्यताओं (फाल्स प्रेस्टीज) में चिपके हुए हैं तथा दोहरी जिन्दगी जीने के अभ्यस्त हो गये हैं, ऊपर से स्वस्थ दिखने वाला उनका जीवन तालाब के ठहरे हुए जल की तरह है, जिसे जरा सा हिला देने पर वह दुर्गन्ध से सारे वातावरण को भर देता है। पाश्चात्य संस्कृति में पले हुए ये अभिजात्य वर्गीय लोग वाइन और वैल्थ में ही अपने को गर्क किए रहते हैं इसीलिए इनके वाह्य तथा आन्तरिक रूप में भिन्नता है। ये लोग विभिन्न प्रकार की कुण्ठाओं से ग्रस्त हैं। अभिजात्य संस्कृति तथा उनके जीवन दर्शन का रांगेय राघव ने अपने उपन्यास घरौंदे में पर्दाफाश किया है। उपन्यास में यह चित्रित किया गया है कि अभिजात्य वर्ग के छात्र-छात्राएँ कालेज में शिक्षा प्राप्त करने नहीं जाते वरन् फैशन तथा पाश्चात्य सदाचार सीखने आते हैं। इस उपन्यास का केवल एक पात्र भगवतीप्रसाद कर्मठ अध्यवसायी छात्र है जो निम्न वर्ग का है, जो माँ के परिश्रम तथा जमींदार की सहायता से पढ़ रहा है। अन्य छात्रों को आर्थिक सुविधा प्राप्त है वे पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हैं और उनमें स्वच्छन्द प्रेम लिप्सा है। लेखक इस वर्ग की प्रवृत्तियों को मुखरित करते हुए लिखता है यह हिन्दुस्तान का अजीब वर्ग है, जहाँ स्त्री न पूर्व की है न पश्चिम की जहाँ आजादी और गुलामी का ऐसा विचित्र सम्मेलन हुआ था कि न कोई आगे जाने की चाह थी, न पीछे हटने की ही अपने भीतर ही ऐसी कशमकश कि निरुद्देश्य दिन पर दिन समय कुछ पुरानी की जगह नई रूढ़ियों में कट जाता था। इस अभिजात्य वर्ग में इतना अहं है कि वह निम्न वर्ग को जन्मजात नौकर समझता है। लवंग भगवती प्रसाद के जमींदार की बहू है उसे यह सह्य नहीं कि निम्न वर्ग का भगवती प्रसाद उसकी सखी लीला से प्रेम करे। लीला तथा लवंग अपने अभिजात्य वर्गीय अहं की तुष्टि के लिये धन के द्वारा तथा नौकरी के माध्यम से भगवती प्रसाद को नीचा दिखाना चाहती है। लवंग

उसे मैनेजर बनाकर अपने नौकर के रूप में रखना चाहती है तथा मालिकाना हस्ती से उसे अपमानित करती है। वह भगवती प्रसाद को अपमानित करते हुए कहती है– 'मैंने इसलिए नौकर रखा है कि तुम नौकरों की तरह रहो, सामने बैठने का दुस्साहस न कर खड़े रहो।''[1] इस विचारधारा के परोक्ष में अभिजात्य वर्गीय ग्रह है जो अपने समक्ष किसी व्यक्ति की मान–मर्यादा को कुछ नहीं समझते, उनका उच्च वर्गीय दर्प दूसरों को तुच्छ समझने के लिये बाध्य करता है। परन्तु आधुनिक काल में शिक्षा के कारण निम्न वर्ग में भी चेतना आ गई है। वह अब इस अन्याय को सहन करने के लिये तैयार नहीं, यही कारण है कि भगवती प्रसाद अभिजात्य वर्ग पर व्यंग्य करता हुआ लवंग से कहता है— 'मैं तुमसे घृणा करता हूँ, क्योंकि तुम जो बड़े घरानों का ढाँचा बन कर खड़ी हो, तुम्हारे यहाँ स्त्रियाँ नहीं वेश्या होती हैं।''[2] किसी बड़े घराने की महिला का इस प्रकार अपमान करना इसके पूर्व सम्भव नहीं था। पहले इसके लिये जुबान काटने से लेकर कोई भी सजा हो सकती थी, परन्तु भगवती के इस दुस्साहस को लवंग को सहन करना पड़ता है। भगवती का यह साहस शिक्षित होने के कारण है अन्यथा गाँव के किसी अनपढ़ व्यक्ति की यह हिम्मत न होती कि वह अपने मालिक को उत्तर दे। इस परिवर्तन में शिक्षा का महत्वपूर्ण सहयोग है। प्रेमचन्दजी ने इसके पूर्व अपने उपन्यासों में नई चेतना की बेचैनी तो चित्रित की, परन्तु नये युग की क्रान्ति का वाहक नई पीढ़ी को नहीं बना पाये थे। परन्तु रांगेय राघव ने भगवती प्रसाद को युग-चेतना की क्रान्ति का वाहक भी बनाया है।

लेखक ने लवंग के रूप में ऐसी नारी का चित्रण किया है, जो अपनी सफलता के लिये शरीर तक समर्पित कर सकती है। इस वर्ग में स्वच्छन्द प्रेम को बुरा नहीं माना जाता। इस वर्ग में सामाजिक स्तरण में उत्तरोत्तर बढ़ने के लिए औचित्य-अनौचित्य कुछ नहीं देखा जाता। समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इस वर्ग पर अंग्रेजीयत का भूत सवार रहता है, इसीलिए भारतीय संस्कृतिकरण की जगह इनका पश्चिमीकरण वेस्टरनाइजेशन) हो गया है, परन्तु ये अपने सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना करके भी पाश्चात्य संस्कृति को आत्मसात नहीं कर पाते। इनकी मान्यताएँ भी सुविधानुसार बनती–बिगड़ती रहती हैं। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण तथा पाश्चात्य संस्कृति की टीप–टाप लिये होने से समाज का सरफ्ताईज वर्ग माना जाता है। परन्तु भारतीय संस्कृति से एवं चारित्रिक दृष्टि से यह वर्ग सबसे अधिक खोखला है। इस खोखले वर्ग के घरौंदे को भगवती प्रसाद अपने आत्मबल से झुका देता है।

अभिजात्य वर्ग की संस्कृति ड्रेसिंग टेबिल तथा डाईनिंग टेबिल पर विकसित होती है, इसलिए जनसाधारण की सभ्यता–संस्कृति से पूर्णतः विलग है। ये लोग

---

१. रांगेय राघव — 'घरौंदे', पृ० २५६ (१९४६).
२. वही, पृ० २५६.

अपने जीवन मे सहज नही हो पाते, सदा अपने वर्ग के दर्प को ओढ़े रहते हैं। यही कारण है कि 'अचल मेरा कोई' मे जहाँ निजुआ का नृत्य देखकर ग्रामीण जनता आत्मविभोर हो उठती है, वहाँ शहरीपन का छाप लगे अचल, कुन्ती निशा अपने वर्गगत अह के कारण कवल प्रसन्न दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि इनकी कला का विकास बन्द कमरों मे हुआ है और इस साधारण जनता की कला उन्मुक्त आकाश तले पनपती है, इसीलिए इनके आचरण मे सुख, दुःख की अभिव्यक्ति म उन्मुक्तता है। अचल, ग्रामीण पात्रो से कुन्ती की अनुपस्थिति म घुलमिल जाता है, परन्तु कुन्ती के सामने वह उतना सहज नही हो पाता उसे एक प्रकार की ग्लानि सी होने लगती है कि कही गवारू लोगो से घनिष्ठता, उसकी निम्न रुचि की द्योतक न समझी जाये। यह मध्यवर्गीय दर्प उसे सहज होने से रोकता है। वह अपने को कुन्ती की नजरो में ग्रामीण लोगों मे मिल कर हेय नही बनाना चाहता। उसे भय है कि ग्रामीण लोगों से मेल उसके गवारपन को प्रकट करेगा, परन्तु उमगपूर्ण नृत्य ग्रामीण जनता मे उमग भर देता है।[1] वे लोग छोटे-छोटे सुखों से अपने को सुखी बनाने का प्रयास करते हैं, क्योंकि उनका जीवन निश्छल है। वर्माजी ने ग्रामीण नृत्य को खेती-किसानी सम्बन्धी नाच कहा है[2], जो ग्रामीण तथा आँचलिक संस्कृति का प्रतीक है।

अभिजात्य वर्ग की कला, शास्त्रीय सौष्ठव से परिष्कृत चाहे हो, परन्तु उसमें जीवन्त तत्त्व अर्थात् उमग नही है। किसी कला को जानना भी यहाँ सोद्देश्य होता है जैसे निशा-कुन्ती इसलिए नृत्य सीखती हैं कि विवाह के लिए वे अतिरिक्त योग्यता प्रमाण पत्र प्राप्त कर सकें, या उनका ध्येय एक अतिरिक्त योग्यता (एडीशनल क्वालिफिकेशन) प्राप्त करना है। परन्तु जन-नृत्य मे यह भाव नही होता। उसमे भावों के उद्दीप्त सौन्दर्य का प्रगटीकरण ही प्रमुख होता है, जिसके माध्यम से जनसाधारण प्रसन्नता म आत्मविभोर होकर साधारणीकृत हो सके।

'सांस्कृतिक मूल्यो के अलावा कुछ मानवीय मूल्य होते हैं। सांस्कृतिक ही युगों का प्रभाव सचित करके संस्कार तथा भावना का विकास करके मानवीय मूल्यों का निर्माण तथा सरक्षण करती हैं। मानवीय मूल्यों की परीक्षा किसी आकस्मिक घटना तथा विरकालीन स्थिति मे ही अच्छी तरह हो सकती है।''[3] रांगेय राघव के के 'विषाद मठ' तथा नागरजी के 'महाकाल' मे सभ्य समाज मे सांस्कृतिक मूल्यों की निस्सारता की अभिव्यक्ति है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'महाकाल' मे बगाल के दुर्भिक्ष का चित्रण है, जिसमे सभी मानवीय-मूल्य समाप्त हो गये हैं। संस्कृति के सरक्षक पूँजीपति वर्ग तथा शासक वर्ग का घोर पतन हो गया है, जबकि दाने-दाने के लिये हाहाकार मचा हुआ है, उस समय भी लोगो की विवशता का लाभ उठाने

१ वृन्दावन लाल वर्मा – 'अचल मेरा कोई', पृ० ८४.

२. वही, पृ० ८४.

३. चण्डीप्रसाद जोशी — "हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय अध्ययन", पृ० ४३३.

से जमींदार, दलाल, व्यापारी, मौलाई तथा सरकारी अफसर मिस्टर दास नहीं चूकते और भूख से मजबूर भले घर की बहू-बेटियों को वेश्या बनने के लिये बाध्य होना पड़ता है।[1] और इनकी विवशता का लाभ अविनाश जैसे सभ्य लोग उठाते हैं, जो लड़की पसन्द न आने पर अंग्रेजी में गाली दे सकते हैं।[2] प्रकृति-कोप से भी अधिक नृशंस मानवीय बर्बरता का उपर्युक्त लेखकों ने चित्रण किया है, जिसमें इनकी खोखली मानवता की पोल उतर जाती है, कितनी निराधार है इनकी सांस्कृतिक मान्यताएँ जो बालू की दीवार की तरह ढह जाती हैं। रांगेय राघव ने अभिजात्य-वर्गीय तथा शहरी सभ्य-समाज पर गहरा प्रहार किया है।

आंचलिक संस्कृति में प्राचीन संस्कृति की विशेषताएँ सबसे अधिक सुरक्षित रहती हैं क्योंकि उन पर बाहरी संस्कृति का प्रभाव कम पड़ता है। वे अपनी रूढ़ियों-परम्पराओं में अधिक संलग्न रहते हैं और मोहवश उससे अलग नहीं होना चाहते। उत्तर प्रदेश की आंचलिक संस्कृति का चित्रण प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में पाया जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में बुन्देलखण्ड की संस्कृति का अंकन है। आंचलिकता का सफल अंकन फणीश्वर नाथ रेणु तथा नागार्जुन के उपन्यासों में मिलता है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' में मध्यकालीन संस्कृति बोलती है।

फणीश्वरनाथ के 'मैला आंचल' तथा 'परती : परिकथा' में बिहार के पूर्णिया जिले के एक अंचल का वर्णन है। वहाँ के रीति-रिवाजों, विश्वासों, लोकगीतों का अध्ययन लेखक ने बहुत निकट से किया है। अन्धविश्वास की भावना गाँव की स्त्रियों में व्याप्त है। गणेश की नानी को वे लोग डायन समझती हैं। डाक्टर को उसके घर से निकलते देखकर कहती हैं-"उस डाक्टर को काल ने घेरा है शायद" और इसी अन्धविश्वास से प्रेरित होकर गणेश की नानी की हत्या कर देता है। लोग ज्योतिषी की भविष्यवाणी पर विश्वास करते हैं। धार्मिक विश्वासों का यथार्थ चित्रण है। "मनुष्य के अन्तरंग रूपों का अंकन कर, रेणु टालस्टाय और गर्टे के अधिक समीप आ गए है।"[3]

"परती : परिकथा' में लोक-संस्कृति का चित्रण 'मैला आंचल' से भी अधिक हुआ है। इसमें लोक-कथाओं, लोकगीतों, लोक-प्रथाओं तथा लोक-भाषा का प्रयोग है, जो परती : परिकथा को पूर्णिया जिले के परानपुर गाँव की संस्कृति का जीवंत चित्र बना देता है।[4] लोक गीतों के माध्यम से ग्रामीणों का मनोरंजन होता है—

---

१. अमृतलाल नागर — 'महाकाल' (प्रथम संस्करण सं० २००४), पृ० ६६.
२. रांगेय राघव — 'विषाद मठ', (१९५५), पृ० १७०.
३. आलोचना २४, पृ० ७०
४. कान्ति वर्मा — स्वतन्त्रोत्तर हिन्दी उपन्यास (१९६६), पृ० १९८.

"हा, रे पन कहवा
सावन भादव केर उमड्ल न दिया ।"[1]

लेखक ने उपन्यास मे जन-जीवन तथा वहाँ की संस्कृति का विशद चित्रण किया है। रेणु ने पात्रों के माध्यम से एक अँचल का चित्रण किया है, साथ ही सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन की ध्वनि भी इसमे पर्याप्त रूप से विद्यमान है।

'परती : परिकथा' मे चित्रित पीढ़ियों का संघर्ष केवल मिथिला तक ही सीमित नही है, यह भारत के हर अँचल का प्रतिनिधित्व करता है। "परती : परिकथा हिन्दी साहित्य को इनकी अमूल्य भेंट है।"[2] लेखक ने आंचलिकता मे प्रच्छन्न कोनो तक पहुँच कर जन-जीवन को स्पर्श करने का प्रयत्न किया है। रेणु ने अपने पात्रो के माध्यम से जीवन की एक सर्वांगीण झाँकी प्रस्तुत की है। हर व्यक्ति, समाज का हर वर्ग, हर राजनीतिक दल, अपने वर्तमान आचरण और भूमिका का सही चित्र उपस्थित करता है। "परती : परिकथा" व्यापक धरती का महाकाव्य है, 'गोदान' की तरह बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का व्यापक जन-समूह उसके पात्र और विषयवस्तु हैं।[3] फलत आंचलिक संस्कृति का रेणु के उपन्यासों मे सजीव चित्रण है।

नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' मे मिथिला प्रदेश का वर्णन है। उपन्यास मे देशज भाषा के शब्दो का बाहुल्य है जैसे जन्म, नगीज राकस, मिनट्ट आदि। लेखक ने ग्रामीण जन-जीवन का चित्रण करके प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढाया है, जिसमे बलचनमा सहायक सिद्ध होता है। होरी के जीवन के निराशावादी स्वर की परिणति 'बलचनमा' के जीवन के आशावादी स्वर मे दिखाई देती है।[4]

"नई पौध" (१६५३) उपन्यास मे नागार्जुन ने मैथिल जीवन की विविध गतिविधियो का निरूपण किया है। ग्रामीण जर्जर रूढियों पर नई चेतना के युवक प्रहार करते हैं। लेखक की लोक-जीवन के प्रति गहरी ममता है।

इनके उपन्यास 'वरुण के बेटे' मे मछुआ समाज के रीति-रिवाजो, रहन-सहन का वर्णन है, लोक गीत तथा लोक-भाषा का वर्णन है। उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'सागर लहरें और मनुष्य' मे भी मछुओ की रीति रिवाजो का वर्णन है। "हेमिंग्वे के उपन्यास" द ओल्ड मैन एण्ड द सी' से प्रेरणा लेकर उदयशंकर भट्ट एवं नागार्जुन ने मछुओं के जीवन पर आधारित उपन्यासों की सृष्टि की।"[५]

रागेय राघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' मे नट जाति की संस्कृति मान्यताओं रीति-रिवाजो परम्पराओ का लेखक ने निर्भीकता से चित्रण किया है।

१. फणीश्वरनाथ रेणु — 'परती : परिकथा' (१६५७), पृ० २६८.
२. आलोचना २४, पृ० ७३
३. आलोचना के मान, पृ० १४.
४. सुषमा धवन — 'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३०६.
५ डा० वेचन-आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास, पृ० २४५.

सांस्कृतिक प्रभाव का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मानव के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति के जैसे संस्कार बन जाते हैं, उनसे वह अलग हट कर चलना नहीं चाहता, वह उसके जीवन को निर्देशित करते हैं। सांस्कृतिक परिवेश चाहे वह भौतिक, अभौतिक, शहरी, ग्रामीण, आंचलिक जैसा भी हो, व्यक्ति के व्यक्तित्व पर उसकी गहरी छाप होती है।

(घ) मूल प्रवृत्तियों पर सामाजिक नियंत्रण के फलस्वरूप उनकी बहु-विध प्रतिक्रियाएं

समाज नियन्त्रण के कारण मानव की मूल-प्रवृत्तियों का स्वच्छन्द प्रकटीकरण नहीं हो पाता, न सामाजिक वर्जनाओं के कारण यह दबी रहती है, परन्तु इसमें व्यक्ति का मानसिक ऊहापोह बना रहता है और कभी-कभी तो मानव कोई अनुकूल मार्ग न खोज पाने के कारण मन की भूल-भुलैया में भटक जाता है।

जन-जीवन को समाज की संचालिका अथवा नियन्त्रक शक्तियाँ निर्देशन करती हैं। विश्वरूपी रंगमंच पर मनुष्य विस्मयजनक अभिनय करता है, उसके जीवन के कई पक्ष उभर कर सामने आते हैं। कुछ व्यक्ति अधिक भावुक होते हैं और भावना-लोक में विचरण करते हुए सतरंगी कल्पना-लोक का सृजन करते हैं; परन्तु जब व्यष्टि-सत्य समष्टि-सत्य से टकरा कर उन्हें धोखा देता है, तो वह विभ्रमित से स्तब्ध रह जाते हैं। यह सत्य है कि जीवन में यथार्थ और आदर्श का समत्व अपेक्षित है, परन्तु भावुक व्यक्ति के जीवन-क्षितिज पर आच्छादित सुकोमल भाव, व्यावहारिक क्षेत्र का स्पर्श नहीं कर पाते। ऐसे में यदि उनकी सहज अनुभूतियों को अभिव्यक्ति नहीं मिलती तो वह विवशता में मर्म की सी फलपटक निरर्थक चेष्टाएं करते हैं जिनसे उनका मन और भी अवसादी हो जाता है।

जीवन के विकास में गतिरोध अनेकों समस्याओं को जन्म देता है। रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' के कई पात्रों के जीवन की गति रूढ़िबद्धता के कारण अवरुद्ध हो गई है जीवन की क्षुद्रता से बंधे ऐसे पात्रों को शिवदानसिंह 'बौना' मानते हैं।[1] पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं पर संस्कृति का प्रभाव होता है। मानव-चरित्र को नियन्त्रित करने वाले संस्कार बाल्यकाल में ही मानव को जकड़े रहते हैं, इन्हीं संस्कारों से बद्ध मानव अपने जीवनउद्देश्य के लिये जीता है, मरता है। मनुष्य के असंख्य रूपों का अंकन रेणु ने किया है। मनुष्य की विविध रूपता के परोक्ष में सांस्कृतिक प्रभाव अवश्य होता है, जो उसके व्यवहार को नियन्त्रित करता है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में सामाजिक आदर्शों की विषम परिस्थितियों का अंकन किया है। इनके पात्र सामाजिक सीमाओं का विद्रोह न कर सकने के कारण टूट-से जाते है। प्रारम्भ में तो वे सामाजिक परम्पराओं को चुनौती देते हैं, परन्तु अपनी सामर्थ्य और सीमा के कारण सामाजिक नियन्त्रण के समक्ष स्लथ हो जाते हैं।

---

१. आलोचना के मान, पृ० १५८.

जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन है कि मनुष्य के लिये विद्रोह और जीत मानवीय-मूल्यो की आधारशिला पर सम्भव नही है, क्योकि उस पर समाज का नियंत्रण है। इसीलिये इनके पात्र अन्त मे सन्यासी या क्षयी रूप मे दिखाई देते है। 'सुखदा' सामाजिक नियंत्रण की तुला पर अपनी उपयोगिता सिद्ध नही कर पाती और क्षयरोग की शिकार हो जाती है और विवर्त का नायक अन्त मे सन्यासी रूप धारण करता है। यह सामाजिक समस्या का समाधान नही है।

'परख' मे जैनेन्द्र ने विधवा की अवरुद्ध भावनाओं को चित्रित किया है। यह एक सामाजिक बन्धन है, जिसका हल लेखक ने वैयक्तिक रूप से किया है, जिसमे हम कट्टो तथा बिहारी को आध्यात्मिक प्रेम-सूत्र मे बधा पाते हैं। परन्तु समाजशास्त्रीय विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रेम की मूलप्रवृत्ति का सहज प्रकटीकरण विधवा के लिये समाज सम्मत नही है। सामाजिक नियंत्रण के कारण कट्टो तथा बिहारी का मिलन सम्भव नही, इसलिये लेखक ने दैहिक मिलन की सम्भावना न रख कर आत्मिक मिलन की भूमि ही विकसित की है, परन्तु "व्यावहारिक दृष्टि से ऐसे अनोखे पात्रों की समाज मे सत्ता कहाँ है ?"[1]

सामाजिक नियंत्रण के नागपाश 'त्यागपत्र' की मृणाल का तथा 'कल्याणी' उपन्यास की कल्याणी को अनेको रूपों मे घेरे हैं। पुरुष के सामाजिक सस्कार नारी के विविध आत्मदानी रूप को नही देखते, उसकी सार्थकता केवल मात्र उसके तन मे मानते हैं और एक बार फिसलने पर बाराबर उसे गिरने के लिये बाध्य किया जाता है। 'त्यागपत्र' मे इसी स्थिति का अकन है। 'कल्याणी' उपन्यास मे कल्याणी कुलीन शिक्षित नारी है, पति उसके आत्मविकास मे बाधक है। वह पत्नीत्व के बोझ से दब कर अपने प्राण त्याग देती है। 'परख' और 'सुनीता' मे जैनेन्द्र ने सामाजिक आग्रहो मे बन्दी पात्रो को बहु-विध प्रतिक्रियाओं का चित्रण किया है। 'सुनीता' उपन्यास मे हरिप्रसन्न सुनीता की ओर आकर्षित है, परन्तु सामाजिक भय उस अभिव्यक्ति की अनुमति नहीं देता उसके मन की ग्रथियों को खोलने का प्रयास सुनीता करती है, परन्तु हरिप्रसन्न वितृष्णा से भर उठता है और पलायन करता है।

'परख' में सत्यधन के आदर्शवाद की परख है, जिसमे वह दुर्बल सिद्ध हुआ है। कट्टो मे अर्थ के प्रति वितृष्णा है। कट्टो समाज के चिरपरिचित दायरे से बाहर निकलने का तो प्रयास करती है, परन्तु सहज भावान्दोलन से विमुक्त नही हो पाती और अपने स्वय की बलि चढा कर सेवा-धर्म मे रत होती है।[2]

जैनेन्द्र मे "भावना की प्रधानता है, वे बुद्धि की नीव पर खडी सामाजिक सस्थाओ को समाज के लिये आवश्यक मानते हुए भी सर्वदा श्रेयस्कर नही मानते।"[3]

---

१. सुषमा धवन — हिन्दी उपन्यास पृ० १७६.

२. वही, पृ० १७६

३. रामरतन भटनागर — जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा, पृ० ८३

जैनेन्द्र 'सुनीता' में भावोद्दीप्ति की योजना रखते हैं, अतएव भावना के बल पर ही वह विवाह की दुर्लंघ्य समस्या के पार जाने का उपक्रम कर सकी...... बुद्धि स्थूल को देखती है, परम्परा को पकड़ती है।[1]

'सुनीता' में जैनेन्द्र ने यह अभिव्यक्त किया है कि भाव-बोध, बुद्धि-बोध से प्रबल है, भावनाओं के समक्ष बौद्धिकता का महत्व नहीं होता। 'परख' में कट्टो ने स्व का बलिदान करके भावनाओं का भावनाओं के स्तर पर वरण किया है।

जैनेन्द्र ने इन उपन्यासों में नर नारी के बहुविध सम्बन्धों को चित्रित किया है, उनकी सूक्ष्मतम भावनाओं का उद्घाटन किया है। बन्धन जब अति कठोर हो जाते हैं और यदि कोई उनकी प्राचीरों को लांघने का प्रयास करता है, तो समाज उसका शत्रु हो जाता है, क्योंकि जिस घोंसले में व्यक्ति रहता है उसमें जरा भी हिलने-डुलने की स्वतन्त्रता समाज उसे नहीं देता और व्यक्ति का मन पीड़ा से भर उठता है। इस आन्तरिक पीड़ा में लेखक ने 'पीड़ा दर्शन' गढ़ लिया है। मानव का बूंद-बूंद दर्द जो इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानव-मणि है। उसके प्रकाश से मानव भविष्य उज्ज्वल होगा।"[2] नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "मृणाल आज की परवश नारी और विवश कन्या है।"

लेखक ने पीड़ा-दर्शन से मूक मानसिक द्वन्द्व बना रहता है, लेखक भी जिसके समक्ष निर्वाक् रह जाता है और करुणा से भर उठता है। कल्याणी में लेखक ने उसके मन की व्यथा को चित्रित किया है। "सारी पुस्तक में कल्याणी का दमित प्रेम-विस्फोटित है, कहीं प्रकाश में कहीं प्रच्छन्न में असफल प्रेम की पीड़ा क्रूर दुर्दमनीय पति-स्वतन्त्र जीवन जीने की इच्छा भारतीय नारी की पति के आदर्श के प्रति बौद्धिक निष्ठा और अपनी दयनीय स्थिति के प्रति निरन्तर विद्रोह, ये तत्व कल्याणी के चरित्र को अदमनीय बना देते हैं।"[3]

कल्याणी भाव-लोक की प्राणी है और "असमानी दुनियावी पीड़ा अर्थ ही जिसका भगवान है। 'त्यागपत्र' की भाँति कल्याणी भी अभिनव-प्रयोग है; भीतर के दर्द को बाहर निकालने का जहाँ आग्रह है।' जहाँ खोज ही सब कुछ है, पाना तो असार्थकता है।"[4] कल्याणी की पीड़ा सहज ही हमारी सहानुभूति पा जाती है।

जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में अधिकांशतः नारी-चरित्रों का चित्रण स्नेह, बुभुक्षा से ग्रस्त किया है। उनके भाव-विभोर नारी-पात्र अपनी स्नेह की तृषा शान्त न होने पर विद्रोह करते दीख पड़ते हैं, उनके माध्यम से जैनेन्द्र ने सामाजिक मान्यताओं की

१ रामरतन भटनागर – जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा, पृ० ८३.
२. जैनेन्द्र – 'त्यागपत्र', पृ० ३८.
३. जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा – डा० रामरतन भटनागर, पृ० ११२
४. वही, पृ० ११३.

टूटन दिखाई है । लेकिन शायद जैनेन्द्र भूल गये हैं कि नारी का आश्रिता रूप बहुत पहले बदल गया है । सभवत ग्रेट ब्रिटेन म मताधिकार की प्राप्ति के लिये किये गये आन्दोलन मे लेकर भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम मे साहसी नारियो के महत्त्वपूर्ण योगदान ने, उन रूढिग्रस्त मान्यताओं पर कुठाराघात किया कि नारी वनाम पुरुष की सहचरी का तगमा लगाये मात्र शोभा की वस्तु ही थी । सक्रियता से दूर मध्यकालीन नारी ने अपन व्यक्तित्व को पुरुष के व्यक्तित्व मे निखार लाने के लिये उबटन मात्र बना रखा था । किन्तु स्वतन्त्रता के सग्राम ने नारी को दीर्घकाल बाद यह अनुभव दिया कि स्वतत्र व्यक्तित्व उनका भी हो सकता है और पौराणिक-धार्मिक कथाओं के सयम और पतिव्रत के अतिरिक्त भी उनका सामाजिक एव राष्ट्रीय कार्यों मे महत्व हो सकता है । इसीलिये अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' की नायिका वनकन्या तेजस्वी एव आत्मनिर्भर है । वह अपन पिता तक को अनुचित व्यवहारो के लिये क्षमा नही करती । सज्जन के प्रति अनुराग होने पर भी अपनी अनुरक्ति को समर्पण का रूप तब तक नही देती, जब तक कि सज्जन को अन्य सम्पर्कों से काट कर अपने ही सामने नत नही पा लेती । कवि, विरहेश तथा बडी के सम्बन्धों मे सामाजिक नियन्त्रण का नृशस स्वरूप प्रकट हुआ है, जिसमे बडी को मनिया पीटते-पीटते अधमरा कर देता है और उसे घर छोडने के लिये बाध्य किया जाता है ।"[1] उपन्यास मे ताई के रूप मे भी परम्परागत भारतीय नारी का अटल सतीत्व, पुरुषो की अत्याचार तथा नारी की करुणा विवशता मूर्तिमान हो उठी है ।"[2] परम्परागत मान्यताओं के नियन्त्रण के कारण 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास मे विधवा के जीवन की विषमता मुखरित है, गौरी के सकटग्रस्त जीवन का चित्र प्रस्तुत है ।" [3]

सामाजिक नियन्त्रण की कोई सीमा-रेखा निर्धारित नही की जा सकती, इसलिये नियन्त्रण के नाम पर रूढियों का पालन कभी कभी इतना कठोर हो जाता है कि व्यक्ति की सत्ता का कोई महत्त्व ही नही रह जाता । नियन्त्रण की कठोरता से त्रसित व्यक्ति या तो इतना क्षुब्ध हो जाता है कि उसकी जिजीविषा ही समाप्त हो जाती है अथवा उसका विद्रोही स्वरूप सभी मान-मूल्यों को नकारने लगता है । भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'सूनी राह' की नायिका करुणा एक सरल हृदया अनुभूतिशील नारी है, उसका हृदय पति के दप तथा प्रवचनापूर्ण व्यवहार से क्षुब्ध हो उठा है, पति की क्रूरता और प्रवचना उस जब असह्य हो जाती है, तो वह अपने पिता की स्नेहिल छाया मे लौट आती है । परन्तु हृदय की सहज अनुभूतियो का अन्त नही होता, वह अपन भाई रमेश क मास्टर निखिल के प्रति आकर्षित होती है ।

---

१ अमृतलाल नागर – 'बूँद और समुद्र', पृ० ३१८, ३१९

२. सत्यपाल चुघ – 'आस्था के प्रहरी' (१९७०), पृ० ५४.

३. लक्ष्मीकान्त सिन्हा – 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास', पृ० ३००.

निखिल उसकी सामाजिक स्थिति, मर्यादा से तथा अपनी निम्न-मध्यवर्गीय स्थिति से पूर्णतया भिन्न है। अपनी विवशता की कचोट दोनों को सालती रहती है। निखिल कहता है-'प्रेम की भी एक लाज होती है, उसकी एक मर्यादा है।"[1] उसकी मर्यादा के लिए अपने जीवन की शून्यता को समेटे रहते हैं। सामाजिक परम्पराएँ-मर्यादाएँ उन्हें बाँधे है, परन्तु मन के सहज भाव की समाप्ति नहीं होती, फिर चाहे वह सूनी राह अपनायें या अनाकीर्ण। प्रेम की सहज प्रवृत्ति सामाजिक बन्धनों से नष्ट नहीं होती, चाहे कितनी ही विवशता से बाध्य क्यों न हो।

मूल-प्रवृत्तियाँ नैसर्गिक सहज भाव हैं, सभ्य समाज में उनका आदिम प्रकटीकरण सम्भव नहीं है। उनके समाज सम्मत स्वरूप को ही मान्यता दी जाती है, जिसके लिये सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं, रीति-रिवाजों का प्रावधान किया गया है, जो सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करते हैं। सामाजिक व्यवस्था के लिये सामाजिक परम्पराओं का नियन्त्रण आवश्यक माना जाता है, परन्तु परम्पराओं का स्वरूप काल-सापेक्ष होना आवश्यक है ताकि प्रगति के चरण अवरुद्ध न हो सकें और सामाजिक संगठन भी बना रहे। परिवर्तनशील समाज में सामाजिक अनुकूलन के लिये कठोर नियन्त्रण अपेक्षित नहीं।

सामाजिक नियन्त्रण की विचारधारा आज दो वर्गों में विभाजित है। एक वर्ग को तो प्राचीन रूढ़ियों, मनोवृत्तियों का समाज पर पूर्ण नियन्त्रण मान्य है, उन्हीं के अनुसार कार्य करने में वह अपना गौरव समझते हैं। दूसरे वर्ग के लोग प्रगतिशील विचारों के कारण समस्त रूढ़ियों को निकाल फेंकने का हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। दोनों वर्ग एक दूसरे पर अपनी श्रेष्ठता दिखाने का प्रयास करते हैं। भारत के शिक्षित तथा अशिक्षित समाज के बीच असमियोजन की न्यूनता का प्रमुख कारण यही मतभेद है। भौतिकवादी सभ्यता के कारण व्यक्ति तार्किक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला हो गया है, इसलिए यह प्रत्येक स्थिति का कारण जानना चाहता है और रूढ़ियों का मौलिक रूप में कठोर नियन्त्रण उसे सह्य नहीं, क्योंकि रूढ़िवादी नियन्त्रण समाज की परिवर्तित दशाओं के साथ अभियोजन (एडजेस्टमेन्ट) में असमर्थ रहता है। इसलिए सामाजिक नियंत्रण ऐसा होना चाहिए, जिससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था तथा एकता बनी रहे और समग्र व्यवस्था परिवर्तनशील संतुलन में क्रियाशील रहे।"[2] समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज की व्यवस्था के लिये सम्पूर्ण और इकाई (व्यक्ति अथवा समाज) के सम्बन्धों का सही निर्देशन होना चाहिए। गिलिन और गिलिन के अनुसार नियन्त्रण के द्वारा एक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार को अपने अनुकूल ढाल लेता है।[3]

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी – 'सूनी राह', पृ० १५७ (संवत् २०१३).
२. मेकाइवर तथा पेज – 'सोसायटी', पृ० १२७.
३. गिलिन एण्ड गिलिन – 'कल्चरल सोशोलॉजी', पृ० ६६३.

सामाजीकरण तथा सामाजिकता के विकास में सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण हाथ है, क्योंकि सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा सामाजिक संगठन का संरक्षण किया जाता है तथा विभिन्न समूहों में समरूपता लाने का प्रयास किया जाता है, जिससे व्यक्ति को सहज सामाजीकरण हो सके। गिलिन तथा गिलिन ने राजकीय नियम, समितिक संहिताओं, यान्त्रिक साधनों जैसे प्रचार, पत्र-पत्रिकाओं, प्रथाओं, जन-रीतियों, रूढ़ियों, धर्म-नीतियों, स्थानीय लोक-मत आदि को सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण (एजेन्सीज) माना है, परन्तु आधुनिक जटिल समाजों के सामाजिक नियंत्रण की परम्परागत कठोरता में पारस्परिक संघर्ष के कारण शिथिलता आ गई है। व्यक्ति जब अपने पर इसे थोपा हुआ दबाव समझता है तो नियन्त्रण की अधीनता को नकारने लगता है। समाज के नियन्त्रक सिद्धान्त हमें अतीत की विरासत के रूप में अवश्य प्राप्त होते हैं, परन्तु उनकी उपयोगिता तभी तक स्वीकार की जाती है जब तक वर्तमान आवश्यकताओं के साथ समायोजन में सहायक हो। सामाजिक नियम न तो समान रूप से स्वीकृत होते हैं और न सम्पूर्ण रूप से उनका पालन ही सम्भव है, इसलिए इनका युग सापेक्ष होना आवश्यक है। हमारे यहाँ नर-नारी सम्बन्धों में सामाजिक नियन्त्रण का विशेष आग्रह है। अमृतलाल नागर ने इसका चित्रण अपने उपन्यास 'अमृत और विष' में इस प्रकार किया है—"हमारी सामाजिकता में लड़के-लड़कियों का दोस्त बनकर रहना बुरा माना जाता है, जातिगत बन्धनों से भी नौजवान लड़के-लड़कियाँ पथिकतर मनसनाए-थर्राए हुए रहते हैं, यह विपरीत परिस्थितियाँ यदि हमारे समाज से चली जाएँ तो मेरे भवानी जैसे अनगिनत नौजवानों को इस तरह विकृत विद्रोही बनने की नौबत न आये ...क्या करूँ कि ऐसा सुनहरा दिन हमारे समाज में जल्दी से आ जाये।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि लेखक नियन्त्रण की अति कठोरता के पक्षपाती नहीं जो कालान्तर में विद्रोह का कारण हो। नियन्त्रण का काल तथा समाज सापेक्ष होना आवश्यक है।

—

१. अमृतलाल नागर – 'अमृत और विष', पृ० १७६, १७७.

अध्याय ७

नये उपन्यास तथा सामाजिक विघटन की प्रक्रिया

(क) अपराध, अपराधी तथा दण्ड–नये संदर्भ में

समाजशास्त्रीय आधार पर समाज में मनुष्यों के सामाजिक सबंधों की व्यवस्था होती है तथा मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न पहलुओं में अन्त: सम्बन्ध होते हैं। सामान्यत: समाज में सहगामी जीवनयापन करने वाले व्यक्तियों और समूहों के सम्बन्धों का एक संगठन होता है। संगठित अवस्था में दूसरे शब्दों में एक निश्चित प्रतिमान (पैटर्न) में सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है, परन्तु विघटित अवस्था में व्यवस्था अथवा सन्तुलन नहीं रह पाता। सामाजिक विघटन का अर्थ है "सामाजिक सम्बन्धों का टूट जाना अथवा समाप्त हो जाना, जो समाज को बांधे है।'[1]

सामाजिक संगठन की तुलना हम मानव शरीर से कर सकते हैं। जिस प्रकार शरीर के सभी अंग यदि अपना अपना कार्य ठीक से करते रहते हैं तो व्यक्ति सुख का अनुभव करता है, यदि एक भी अंग विकारग्रस्त हो जाता है, तो सारे शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है। इसी प्रकार समाज के अंग संस्थाएँ हैं, जब तक इनमें सन्तुलन रहता है, समाज संगठित रहता है, जैसे ही इनका सन्तुलन डगमगाने लगता है सामाजिक विघटन होने लगता है। फलतः सामाजिक विघटन से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसमें स्थापित मान्य व्यवस्था में बाधा उत्पन्न हो जाती है। सामाजिक विघटन समाज की रोगग्रस्त (डिज़ीज्ड) अवस्था का नाम है।

सामाजिक विघटन, सामाजिक संगठन के अनुरूप ही एक प्रक्रिया है, वह प्रत्येक समाज में, प्रत्येक काल में किसी न किसी मात्रा में अवश्य पाई जाती है। न

---

१. इलियट और मैरिल – 'सोशियल डिसआर्गेनाइजेशन' (१९६१), पृ० २१.

तो कोई समाज पूर्णत संगठित होता है, न ही इतना विघटित कि सम्पूर्ण सामाजिक नियन्त्रण ही समाप्त हो जाये। सामाजिक विघटन जिस व्यवस्था को विघटित करता है, भविष्य मे उसी में नवीन मूल्यो की स्थापना की व्यवस्था भी करता है, जिससे समाज मे पुन संतुलन स्थापित हो जाता है। इस प्रकार समाज मे यह प्रक्रिया सदैव चलती रहती है।

सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण है रूढियो और सस्थाओ मे संघर्ष। जसे भारतीय सस्थाओ मे परिवार विवाह सस्था, धार्मिक सस्थाओ का प्राचीन रूढिवादी दृष्टिकोण है और आर्थिक सस्था, शिक्षा सस्था के कारण पढे लिख नवयुवक-नवयुवतियो तथा उद्योग धधो मे लगे श्रमिको के दृष्टिकोण मे परिवतन हो रहा है। वे निश्चित नही कर पाते कि किन सस्थाओं के निर्देशन को कितनी मान्यता दें, इससे सस्थाओ का नियन्त्रण ढीला हो गया है और व्यक्तिगत विचारो को अधिक मान्यता दी जाने लगी है, जिससे सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। प्रत्येक व्यक्ति समाज मे एक निश्चित पद चाहता है जिससे अपनी मूलभूत इच्छाओ की पूर्ति कर सके और यदि समाज के आदर्श, रीतियाँ उनकी अभिलाषित इच्छाओ की पूर्ति करने मे सहायक नही है तो वह उनकी अवहेलना करके अपना अभीष्ट प्राप्त करने की चेष्टा करता है चाहे इसमें किसी का अहित ही हो। ऐसी अवस्था मे संघर्ष तथा अस्वाभाविक व्यवहार के कारण सामाजिक विघटन उत्पन्न हो जाता है।

सामाजिक विघटन व्यक्तिगत तथा समूहो, दोनो ही क्षेत्रों मे पाया जाता है। आर्थिक व्यवस्था मे असतुलन होने से गरीबी, धन का असमान वितरण, बेकारी, भुखमरी, भिक्षावृत्ति, अपराध आदि की वृद्धि से विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सरकारी सस्थाओ मे विघटन के कारण प्रशासनिक दोष लाल फीताशाही, घूसखोरी, भाई भतीजावाद, नौकरशाही राजनीतिक संघर्ष आदि पाये जाते है। सामुदायिक क्षेत्रो मे विघटन के कारण बाल अपराध, चोरी, डकैती, लूट मार हत्याएं आदि पाई जाती हैं। शैक्षणिक व्यवस्था मे विघटन के कारण अनुशासनहीनता, कर्त्तव्य विमुखता पाई जाती है। धार्मिक तथा नैतिक क्षेत्र में विघटन के कारण धर्म और व्यक्ति के बीच विश्वासो की कडी टूट जाती है, तथा नैतिक पतन के कारण अनैतिक तरीकों से जीविका कमाना और यौन व्यापार पाया जाता है। परिवारो के विघटन की स्थिति मे पारिवारिक मूल्यों को मान्यता नही दी जाती पारिवारिक प्रतिमानो की अवहेलना की जाती है, सम्बन्धो म सौहार्द्र के स्थान पर कलह-संघर्ष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। सामाजिक परिस्थितियो मे व्यक्ति को कई सामाजिक प्रतिमान प्रभावित करते हैं, जैसे सास्कृतिक मूल्य आर्थिक दबाव, विपाक्त वातावरण, अनुकरण सुझाव, अनुनय (पसु एशन) आदि। यह कहना कठिन है कि कब कौन, कितने प्रभाव से निर्देशित होकर कौन-सा व्यवहार करे। यह व्यक्ति के व्यवहार के परीक्षण द्वारा ही ज्ञात हो सकता है, परन्तु व्यक्ति विशेष के व्यवहार से समाज में तब तक विघटन नहीं होता जब तक समाज के अधिकाश व्यक्तियो का व्यक्तित्व इस

प्रकार का न हो जाये कि समाज की स्थापित व्यवस्था भंग होने लगे। जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब उसे सामाजिक विघटन की स्थिति कहा जाता है।

इलियट-मैरिल ने सामाजिक विघटन को तीन भागों में बाँटा है:—

(१) वैयक्तिक विघटन (पर्सनल डिस्आर्गेनाइजेशन), जिसमें बाल-अपराध, अपराध के समस्त रूप, पागलपन, वेश्यावृत्ति, नशावृत्ति, आत्महत्या आदि।

(२) पारिवारिक विघटन (फेमिली डिस्आर्गेनाइजेशन) – तलाक, परित्याग, अवैधानिक सन्तानें तथा गुप्त रोगों को इसमें अन्तर्गत माना है।

(३) सामुदायिक विघटन (सोशियल डिस्आर्गेनाइजेशन) — राजनीतिक दुराचार, अनैतिक और अपराध, जनसंख्या की अत्यन्त निश्चित दरें आदि।[1]

रॉबर्ट ई. एल फेरिस के अनुसार "सामाजिक विघटन से तात्पर्य है उन सम्बन्धों में शिथिलता अथवा विनष्ट होना जो किसी सामाजिक संगठन को सुदृढ़ बनाये रखते हैं।[2]

भारत में संयुक्त परिवार प्रथा पाई जाती है, जिसमें सदस्यों के कार्य तथा स्थिति निश्चित रहती है, परन्तु जब कुछ सदस्य ऐसा नहीं करते तो परिवार में विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। संयुक्त परिवारों के विघटन के स्वरूप हमें भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, नरेश मेहता आदि के उपन्यासों क्रमशः 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'गिरती दीवारें', 'मनुष्य के रूप', 'यह पथ बन्धु था', में मिलते हैं।

सामाजिक विघटन का चित्रण युगीन उपन्यासकारों ने किया है। आज परिवार, विवाह, धर्म आदि परम्परागत संस्थाओं में अभूतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। परिवार जो व्यक्ति के निर्माण के लिए आवश्यक संस्था थी, वह अपने पूर्ववर्ती अधिकार खो रही है। व्यक्ति की सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार द्वारा होती थी, मनोरंजन भी परिवार के सदस्य समुदाय के अन्दर, पड़ोस, चौपाल, सामुदायिक खेल-कूद, सामाजिक उत्सवों द्वारा करते थे, परन्तु मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति आज समुदाय के बाहर दूसरी संस्थाओं द्वारा, जैसे क्लबों, नृत्यगृहों, रेस्ट्राँ, भ्रमण, हाइकिंग आदि के माध्यम से करते हैं। ऐसी अवस्था में रूढ़ियाँ और नवीन संस्थाओं में संघर्ष की स्थिति दिखाई देती है, जो सामाजिक विघटन को शनैः-शनैः उत्पन्न करती है।

आधुनिक सभ्यता ने परम्परागत व्यवस्था को प्रभावित किया है, परम्परागत व्यवस्था धर्मप्रधान थी तथा परिवार की इकाई पर आधारित थी; परन्तु आधुनिक

---

१. इलियट एण्ड मैरिल – सोशीयल डिस्आर्गेनाईजेशन पृ० ३९, ४०.

२. रॉबर्ट ई. एल. 'सोशियल डिस्आर्गेनाइजेशन' (न्यूयार्क, १९५५).

प्रभावों के कारण धर्म का महत्त्व कम हो गया है। परिवार के कई कार्यों का हस्तान्तरण हो गया है, जैसे बच्चों का पालन-पोषण परिवार में ही होता था, परन्तु इसके लिए भी विशिष्ट सामाजिक समूहों का निर्माण हो गया है।

ऐसी धारणा है कि व्यक्तित्व का निर्माण पैतृकता पर आधारित होता है। व्यक्ति में शारीरिक तथा मानसिक गुण पैतृकता अथवा वंशानुक्रम से प्राप्त होते हैं। बालक की शारीरिक मानसिक दुर्बलताएँ उसके व्यक्तिगत विघटन का कारण होती हैं, जो उसे माता-पिता से प्राप्त होती हैं। इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' उपन्यास की निरंजना के विघटित व्यक्तित्व का कारण लेखक उसका वेश्या-पुत्री होना मानता है, उसकी चरित्रगत विसंगतियाँ वंश के कारण हैं तथा 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ का कुंठित व्यक्तित्व उसके अवैध संतान होने के कारण है, अतः वैज्ञानिक आधार पर अपराध की प्रवृत्तियाँ वंशानुक्रम से प्राप्त होती हैं। साथ ही सामाजिक वातावरण भी विघटित व्यक्तित्व के लिये उत्तरदायी है।

जोशीजी, विघटन के लिये सामाजिक परिस्थितियों को उत्तरदायी मानते हैं, जिसका चित्रण उन्होंने अपने उपन्यासों में किया है। वे नारी के विद्रोह का कारण भी स्वेच्छाचारी पुरुष वर्ग तथा पूँजीवादी वर्ग, दोनों के शोषण के विरुद्ध विद्रोहाग्नि के विकास के फलस्वरूप मानते हैं।"[1] इस नारी-विद्रोह के परोक्ष में सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जिन्होंने उसे बाध्य किया है। विद्रोही होने के लिये "सन्यासी" उपन्यास की जयन्ती कहती है -'सीता का आदर्श कुछ रहा हो या न रहा हो, नारी को एक बात की शिक्षा मिली है; वह चाहे अपना मन और प्राण पूर्ण रूप से पुरुष को समर्पित कर दे, तो भी पुरुष के अहं भाव को संतुष्ट करने में वह समर्थ नहीं हो सकती।"[2] 'प्रेत और छाया' की मंजरी भी पारसनाथ के क्षमा-याचना करने पर कठोरता से कहती है-"तुम उसी सनातन पुरुष समाज के नवीन प्रतिनिधि हो, जिसने युगों से नारी को छलसे ठगकर, बलसे दबाकर, विनय से बहलाकर करुणा से गलाकर, उसे हाड़-माँसकी बनी निर्जीव पुतलीका रूप देनेमें कोई कसर नहीं उठा रखी।"[3] 'निर्वासित' की शारदा तथा प्रतिमा जमींदार से प्रतिशोध लेती है-"जो शक्ति के अखण्ड दीपक को इतने दिनों से सावधानी से सँजोए हुए भी और उस दिये की कभी न बुझने वाली उर्ध्वमुखी लौ से वह शोषक मानव के नैतिक अनुभूति से रहित जड़ और आत्मगत संसार में सचमुच आग लगाये बिना नहीं मानेगी।" नारी की सहनशीलता का बेजा लाभ उठाया जाता रहा है, यह बोध केवल सहानुभूति दिखा कर दबाया नहीं जा सकता। जोशी जी का मत है-नारी आत्मा के अन्तर में बीज रूप में छिपी हुई

---

१. डा० चण्डीप्रसाद जोशी — 'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय अध्ययन", पृ० ३४७.

२ इलाचन्द्र जोशी — "सन्यासी", पृ० ३८१.

३. वही, 'प्रेत और छाया', पृ० ४१८ (दूसरा सस्क० सं० २००४).

विद्रोही चिनगारी को कौन कितनी अधिक तीव्रता से प्रचण्ड अग्नि के रूप में प्रज्वलित करने में समर्थ होता है, यह देखना है।"[1] नारी का यह विघटित रूप नहीं है, चाहे सामाजिक व्यवस्था में दरार उत्पन्न करने में सहायक हो।

'जिप्सी' की मनिया, पति द्वारा ठगी गई है। वह स्वेच्छाचारी पति तथा बंगाल में अकाल की स्थिति पैदा करने वाले शोषक वर्ग, दोनों को चुनौती देती है।[2] मनिया, रंजन से कहती है—'तुम मेरे बाह्य रूप से आकर्षित हुए हो और मुझे पूर्णतः अपने अधीन करने के लिये तुमने जिस छल-बल और कौशल से काम लिया है, वे सब आज एक-एक करके याद आ रहे हैं।"[3] निरंजन की स्वेच्छाचारिता के कारण परिवार पूर्णतः विघटित हो गया है।

यशपाल की नारियों ने भी सामाजिक रूढ़ियों का विद्रोह करके विघटन की प्रक्रिया को बल दिया है। शैल, सोमा, मनोरमा, तारा आदि इसकी प्रतीक हैं। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' की वनकन्या, रूढ़-अवधारणाओं के प्रति क्रान्तिकारी कदम उठाती है, अपने परिवार के विघटित स्वरूप के लिये पिता को उत्तरदायी सिद्ध करती है, उसके अमानुषिक व्यवहार को प्रकट कर घर से अलग हो जाती है। उसके अन्दर का स्वाभिमान-पौरुष-पुरुषों के खिलाफ विद्रोह करता रहता है।[4] पारिवारिक विघटन का कारण है कि नारी को ढोल, गवार, शूद्र, पशु[5] के अनुरूप जब समझा जाने लगता है, तो वह उन सड़ी-गली रूढ़ियों को समूल नष्ट करने के लिये तैयार हो जाती है जिससे विघटन के बीज अंकुरित होने लगते हैं। 'अमृत और विष' की सुमित्रा पति की मार-गालियाँ खाकर वहीं पड़ो रहने की अपेक्षा बच्चों सहित अलग हो जाती है और सिलाई करके अपनी गुजर करती है।

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'खाली कुर्सी की आत्मा' में भारतीय जीवन के टूटते मूल्यों का अंकन है। प्रतिमा के स्वभाव में अस्थिरता है, वह डा० सन्तोषी से कहती है—"सम्बन्धों में स्थायित्व होना एक 'डिके' पहले का लक्षण है, इसके बिना हम चिर-नवीन बने रह सकते हैं, चिर-नवीन !"[6] यह पारिवारिक स्थिरता के विपरीत दृष्टिकोण विघटन का परिचायक है। डा० सन्तोषी भी प्रत्येक सुन्दर वस्तु पर एकाधिपत्य बनाये रखना कायरता, अन्याय मानते हैं।[7] इस प्रकार की आस्था-

---

१ इलाचन्द्र जोशी — 'विवेचना', पृ० १६२.
२. डा० चण्डीप्रसाद जोशी — 'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन', पृ० ३४७.
३ इलाचन्द्र जोशी — जिप्सी', पृ० ५४०–४१.
४. अमृतलाल नागर — 'बूँद और समुद्र', पृ० २७७.
५. वही, पृ० १४८.
६. लक्ष्मीनारायण लाल — 'खाली कुर्सी की आत्मा', पृ० २५४.
७. वही, पृ० २५७.

हीन, निष्ठाहीन स्थिति विघटन की द्योतक है, जहाँ मूल्यहीनता ही जीवन-मूल्य हो, वहाँ सगठन की स्थिति नहीं रहती और परिवार विघटनोन्मुखी हो जाता है।

भारतीय जीवन में आधुनीकरण के बदलते परिवेश से आपसी सम्बन्धों के विघटित स्वरूप को युगीन उपन्यासकारो ने चित्रित किया है, जहाँ सामाजिक मूल्यो तथा सस्कारो के आग्रह का कोई प्रतिबन्ध नही रहता। नरेश मेहता के उपन्यास 'डूबते मस्तूल' तथा 'दो एकान्त' मे सामाजिक वातावरण के कारण विघटन की स्थिति को दर्शाया गया है। 'डूबते मस्तूल' की रचना के माध्यम से मध्यवर्गीय समाज मे नारी की स्थिति का चित्रण है जिसमे आधुनीकरण तथा पुरातन का सघर्ष है। जहाँ यौन पवित्रता का विशेष महत्व है, जहाँ उसे अपनी कामनाओं तथा वासनाओं का गला घोटना पडता है। पुरातन रूढ़ियाँ उसके नवीन सस्कारों के लिये प्रश्नचिह्न बनकर आने लगी हैं।[1]

'दो एकान्त' की वानीरा, पति की व्यस्तता से क्षुब्ध हो उठी है। वह अपनी एकान्तता मिटाना चाहती है। जडतापूर्ण, नीरस वातावरण वानीरा के सस्कारो पर हावी हो जाता है और वह विवेक के साथ सहज नहीं हो पाती अत परिवार विघटन की दहलीज पर आ खडा होता है।

राजेन्द्र यादव के उपन्यास 'कुलटा' की मिसेज तजपाल को पति के मिलटरी जीवन की औपचारिकता उबा देती है। दोनो की रुचियों का वैषम्य पारिवारिक विघटन का कारण बनता है और दोनो अन्त मे विलग हो जाते हैं।

बीसवीं शताब्दी के उपन्यासकारों पर पश्चिम का अत्यधिक प्रभाव है। समस्त प्राचीन सामाजिक सस्थाओं की सडी-गली रूढियो से आज मानव टक्कर लेने को उद्यत है। वह बन्धन मुक्त होकर जीना चाहता है। इसी सघर्ष के फलस्वरूप आज विघटन की प्रक्रिया दिखाई देती है। स्वच्छन्दता का उपभोग आज पुरुष तक ही सीमित नही है वरन् नारी भी कही-कही शृ खलाओ को जकड से पूर्ण मुक्त दिखाई देती है। राजकमल चौधरी के उपन्यास 'मछली मरी हुई' मे कल्याणी के रूप में एक ऐसी रमणी का चित्रण है; जो पश्चिमी सभ्यता से इतनी आक्रान्त है कि उसके लिए न कोई घर है, न कोई देश। शराब, सिगरेट पीना और क्लबों म भटकना ही उसका जीवन है।"[2] पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित केवल भोग-विलास की पुतली के रूप में उत्तरदायित्व विहीन भारतीय नारी का चित्रण भारतीय सामाजिकता के विघटन का कारण बनेगा, जो बर्बरता की ओर ले जा सकता है तथा सामाजिक अस्वस्थता का प्रतीक होगा।

यह सत्य है कि पाश्चात्य देशों की विभिन्न विचारधाराओ, सभ्यता-संस्कृति तथा वैवाहिक अधिकारों, आर्थिक आत्मनिर्भरता ने त्रस्त तथा पीडित नारी को पुरुष

---

१. सुषमा धवन – हिन्दी उपन्यास', पृ० २८०.
२. राजकमल चौधरी – 'मछली मरी हुई', पृ० ६१५ (१९६६)

की स्वेच्छाचारिता की वेदी पर समर्पित होने के स्थान पर उसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है तथा नारी भोग्या ही नहीं है, यह समुचित दृष्टिकोण उपन्यासकारों ने अपनाया है, यह श्रेयस्कर है; परन्तु पुरुष की उच्छृंखलता यदि अपेक्षित नहीं, तो नारी का भी शराब पीना और क्लबों में बालडान्स करना, जिसमें शराबीगण उन्हें बाहों में समेटे हुए गिरते-पड़ते झूमते हुए गोलाकार में घूमें,[1] यह स्थिति भी समाज के लिए अस्वस्थ और व्याधि ग्रसित है।

समाज की विगलित मान्यताओं को ढहा कर यदि मानव चेतनायुक्त है, तो यह उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए लाभकारी है, परन्तु सदियों से परतन्त्रता तथा रूढ़ियों से दबे रहने के कारण उसमें प्रतिहिंसा की विद्रोहाग्नि भड़क उठी है, जिसे किसी छल-छद्म से दबाया नहीं जा सकता। आधुनिक उपन्यासों में इसीलिए विद्रोह और संघर्ष के स्वर ही अधिक मुखरित हैं, जहाँ सहनशीलता, सेवापरायणता तथा अन्धानुसरण के स्थान पर स्वावलम्बी तथा आत्मसम्मानी स्त्रियों का ही अधिक अंकन है। प्रेमचन्द के उपन्यास "कर्मभूमि" में सुखदा और सकी ऐसे पात्र हैं जो अधिकारों के प्रति सजग हैं, परन्तु प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में यह विद्रोह अधिक प्रखर है। 'प्रेत और छाया' की मंजरी पारसनाथ से कहती है – "विश्वव्यापी क्रान्ति के इस युग में आततायी और कामाचारी पुरुष-जाति की सत्ता निश्चित रूप से ढहने को है।"[2] अधिकारों की चेतना के दर्शन 'अमृत और विष' उपन्यास में होते हैं। रमेश की माँ जो प्राचीन पीढ़ी की अशिक्षित महिला है, वह भी पति-पत्नी के सम्बन्धों में समानता की पक्षपाती है। वह कहती है– "तुमरी हाँ जी, हाँ जी नई बजाउन हेंगे जलम भर मरी कथा वाचा किये कि प्रेम से भगवान और भगत दोनों एक दूसरे के बस में होते हैंगे और आज मुझ से पूछत हेंगे कि गुलाम बनाओगी?"[3] जब पत्नी पति के विचारों के अनुकूल चलने का प्रयास करती है तो फिर पति का उसके विचारों से समझौता कर लेना अस्वाभाविक कैसे है?

आज समाज के संगठन के लिए यह अनुभव किया जाने लगा है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में समानता अपेक्षित है। अपेक्षित सम्मान न मिलने के कारण ही नारी का आज विद्रोह है। आज समानता के धरातल पर वह भी उसी तरह घूमना-फिरना, मिलना-जुलना चाहती है, जिस तरह पुरुष, किन्तु पुरुष को यह सह्य नहीं। परिणामस्वरूप कितने ही हृदयों में असन्तोष की उत्पत्ति होती है। यही असन्तोष पारिवारिक तथा सामाजिक विघटन का कारण है। स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के समानाधिकार के स्वर निनादित हैं। वर्तमान युग की बौद्धिकता के कारण नारी

---

१. उषा देवी मित्रा – 'नष्ट नीड़' (द्वितीय संस्करण १९६०), पृ० १५३-५४.
२. इलाचन्द्र जोशी – 'प्रेत और छाया', पृ० ४१८.
३. अमृतलाल नागर – 'अमृत और विष', पृ० ८४

का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है।[1] इसलिए सामाजिक संगठन के लिए विशाल दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासो मे भौतिकवादिता का अंकन है, परन्तु समाज के स्थायित्व मे धीरे-धीरे सन्देह का स्वर मुखरित हो रहा है, जीवन मे आपसी सम्बन्धो में अनिश्चयात्मकता के कारण शिथिलता आने लगी है। प्राचीन मान्यताओ के स्थान पर नवीन मूल्यों की स्थापना को बल दिया जाने लगा है। विज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्र मे नये विचारों का प्रभाव बढता जा रहा है, सेक्स आदि के सम्बन्ध मे भी हमारी पुरानी मर्यादाएँ टूटने लगी है।[2]

अतः नवीन उपन्यासो मे सामाजिक विघटन के स्वर मुखरित हैं, पश्चिमी साहित्य, सभ्यता तथा सस्कृति से प्रभावित मानव के सामाजिक सम्बन्धो की नवीन उद्‌भावनाएँ होने लगी हैं, समता के घोषनाद के कारण पारिवारिक जीवन मे सबधो की नवीन उद्‌भावना पाई जाने लगी है, जिसने सामाजिक जीवन के कई आयाम खोले हैं, जिससे प्राचीन सामाजिक सम्बन्धो मे विघटन की प्रक्रिया परिलक्षित होती है।

(क) अपराध, अपराधी तथा दण्ड के नये सदभ में

वैयक्तिक विघटन की विकसित स्थिति अपराध मे देखी जा सकती है। अपराध न केवल वैयक्तिक दृष्टि से भयकर रोग है, बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण से भी समाज के लिये कोढ के समान है, जिसे समय रहते यदि न रोका गया तो सम्पूर्ण समाज को विकृत कर देगा।

व्यक्ति की अपराधी प्रकृति का प्रमुख कारण है उसका बाल्यकाल से उचित तरीके से सामाजीकरण न होना अथवा जैविक, सामाजिक समायोजना की प्रक्रिया मे अपराधी प्रवृत्ति विरासत मे लेकर आये। यदि व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नही होती तथा उसे सही दिशा निर्देशन नही मिलता तो जीवन के कटु अनुभवों, अभावो के कारण वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सही या गलत ढग से करता है, जिन्होंने उसके साथ अत्याचार किये होते हैं उनसे बदला लेने का प्रयास करता है और कभी-कभी व्यक्ति स्वय भी अपराधी भाव से भर जाता है तथा समाज से बदला लेने की सोचता है।

सभ्य एवं प्रगतिशील समाजों मे व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित रखने के लिये कुछ वैधानिक प्रतिमान होते हैं, जो सभी नागरिकों के लिये आवश्यक माने जाते हैं तथा उनके पालन से सभ्यता को आगे बढ़ाया जा सकता है जो व्यक्ति इसका उल्लघन करता है उसे अपराधी कहा जाता है। तथा उसके समाज-विरोधी व्यवहार को अपराध

---

१. इलाचन्द्र जोशी – 'विवेचना', पृ० १२३.
२. कान्ति वर्मा – 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास', पृ० १७५.

की सज्ञा दी जाती है । धर्म तथा परम्परा से बंधे हुए समाजों में भी मान्य मूल्यों के विपरीत आचरण को अपराध की सज्ञा दी जाती है और इसके लिये समाज मे दण्ड का विधान है । जिन समाजों मे कानून अथवा विधान की सगठित व्यवस्था नहीं होती, उनमें दण्ड की व्यवस्था समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्ति (पच) करते हैं और जहाँ कानून की व्यवस्था होती है वहाँ उसी आचरण को अपराध कहा जाता है जो कानून की दृष्टि से अपराध हो । कुछ समाजों मे नैतिक नियमों का उल्लघन ही अपराध माना जाता है। इस प्रकार विभिन्न समाजों मे विभिन्न समयों पर विभिन्न अवस्थाओं और आधारों पर किसी कृत्य को अपराध घोषित किया जाता है ।

"मनु ने धर्मशास्त्र मे चोरी को आठ प्रकार के भयों में से एक भय माना है । चाणक्य के समय मे भी अपराधों की रोक-थाम के लिये कानून थे, चाहे उस युग को स्वर्णयुग कहा जाता है । इससे प्रतीत होता है कि उस समय में भी अपराध होते थे। फ्रांस मे पवित्र स्थानों को दूषित करने के लिये मृत्युदण्ड तक दिया जाता था ।"[१] हत्या और बलात्कार को नृशस अपराध माना जाता है। माहिम के अनुसार "समाज विरोधी व्यवहार अपराध है।" इलियट तथा मैरिल के अनुसार "अपराध समाज विरोधी कृत्य है, जिसे समूह अस्वीकार करता है तथा जिसके लिये दण्ड देता है।"

अपराध एक प्रकार का विकार है, जो सामाजिक, आर्थिक, जैवकीय, मनोवैज्ञानिक दशाओं की अन्तःक्रिया का परिणाम है। गांधीजी ने भी कहा है कि अपराध एक बीमारी है। जिस प्रकार रोगी को स्वस्थ करने के लिये रोग का उपचार करना आवश्यक है, उसी प्रकार उन दशाओं को जानना भी आवश्यक है, जिनके कारण व्यक्ति विकारयुक्त होकर अपराधी बन जाता है । विश्व के सभी देशों मे अपराध के दण्ड-विधान की सामान्य रूपरेखा के लिये आठवें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे निश्चय किया गया 'अपराधी वह है, जो मानवता के विरुद्ध अपराध करता है, जिससे व्यक्ति के मौलिक अधिकारो का अपहरण हो–विशेषत किसी के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता तथा शरीर के विरुद्ध।" कानूनी संहिताएँ समय और स्थान के अनुसार बदलती रहती हैं। कानूनी अपराध मनुष्यकृत होता है और इसमे सशोधन और परिवर्तन भी मनुष्य द्वारा किया जा सकता है।

कानूनी रूप मे अपराध के दो रूप माने गये हैं—(१) जानबूझ कर किया गया अपराध (ओवर एक्ट), (२) नीयत (मेन्स्रिया)। किसी अपराध मे यदि नीयत का अभाव है तो उसे अपराध नहीं कहेंगे । कानून भी इसके लिये विभिन्न दृष्टिकोण अपनाता है। यदि अपराध अचानक होता है, छोटी अवस्था में होता है, अथवा व्यक्ति पागल हो, या बाध्य होकर अपराध करे, परिस्थितिजन्य हो या आवेश मे आकर दोषी व्यवहार करे तो ऐसे अपराध जघन्य अपराध (फेलोनी) नहीं माने जाते। इन दोनों प्रकार के अपराधों मे केवल गम्भीरता की मात्रा का अन्तर होता है । सदरलैण्ड के

---

१. जी० सी० हेलन – 'अपराध, अपराधी और अपराधशास्त्र', पृ० ३६०.

अनुसार – "अधिक गम्भीर अपराध जघन्य अपराध अर्थात फेलोनी है और कम गम्भीर अपराध, साधारण अपराध अर्थात् मिसडमीनार्स हैं।"[1] अपराध की गम्भीरता भी स्थान सापेक्ष है।

अपराध, व्यक्तिगत अवधारणा है, परन्तु इसे सामाजिक मानने का कारण यह है कि अपराधी का व्यवहार सामाजिक सगठन, सामाजिक सरचना, सामाजिक समायोजन से सम्बन्धित है। अपराध के अनकानेक कारण हैं – व्यक्तिगत, सामाजिक मनोवैज्ञानिक, आर्थिक आदि। "कभी-कभी समाज व्यक्ति के अपराध की तर्कपूर्ण मीमासा किये बिना ही उसे अपराधी मानने लगता है। दोस्तवास्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'क्राइम एण्ड पनिशमेन्ट' मे इसका बडा सुन्दर वर्णन किया गया है कि कैसे समाज सरलता से नेता कहे जाने वाले व्यक्ति को अपराधी की श्रेणी मे रख देता है।"[2] साधारणतया अपराधी उसे कहा जाता है जो असामाजिक क्रियाओ के लिये उत्तरदायी ठहराया जाये। अपराधी भी कई प्रकार क होते हैं–

(क) आकस्मिक अपराधी – किसी विशेष परिस्थिति मे मानसिक द्वन्द्व मे उलझ कर अपराध करता है।

(ख) अचेतन रूप से अपराधी अपने को अनुभव करना। कुछ व्यक्ति अपने कृत्य के लिये स्वय को दोषी अनुभव करने लगते हैं और कभी-कभी यही दोष की भावना अपराधी रूप धारण कर लेती है।

(ग) व्यावसायिक अपराधी – जो अपनी जीविका अपराध से ही चलाते हैं, जैसे जुए के अड्डे चलाना, स्मग्लिंग करना आदि।

(घ) चारित्रिक दोषयुक्त अपराधी – ऐसे अपराधी का व्यवहार स्नायुविक विकृतियुक्त होता है। यह शराबी, यौन-अपराधी होते हैं।

(ङ) मनोदोषयुक्त अपराधी – ऐसे व्यक्ति जा अन्य व्यक्तियो से तादात्मीकरण नहीं कर पाते जीवन मे निराश, विफल तथा झगडालू प्रवृत्ति के हो जाते हैं।

(च) मानसिक विकृति – इसमे अपराध प्रत्यक्ष रूप से नही दिखाई देता, वरन् पागलपन की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देने लगती है और मानसिक विकार से व्यक्ति अपराधशील दिखाई देता है।

"प्रोफेसर अशफेनबर्ग के अनुसार अपराधी पाँच प्रकार के होते हैं – आकस्मिक अपराधी (क्रिमिनल बाइ चास), (२) काम-सम्बन्धी अपराधी (क्रिमिनल

---

१. Satberland and Cressey–Principal Criminology, p. 16
"The most serious are called Felonies and are usually punishable by death or con Finement in the State prison, the less serious are called misdemeanars'.

२. जी० सी० हेलन – 'अपराध, अपराधी और अपराधशास्त्र', पृ० ३७९.

थाइ पेशन), (३) चैतन्य अपराधी (डेलिबरेट क्रिमिनल), (४) आदतन अपराधी हैबिच्युअल क्रिमिनल) (५) पेशेवर अपराधी (प्रोफेशनल क्रिमिनल)।" १

सदरलैण्ड ने दो प्रकार के अपराधी बताये हैं — निम्नवर्ग के अपराधी (लोअर क्लास क्रिमिनल) तथा श्वेतवस्त्रधारी अपराधी (व्हाइट कलर क्रिमिनल्स)। निम्न श्रेणी अपराधी, निम्न आर्थिक एवं सामाजिक वर्ग के व्यक्ति होते हैं, जो अधिक शिक्षित नहीं होते। वे अपने अपराधों को छिपा नहीं पाते, पकड़े जाते हैं तथा दण्ड के भागी होते हैं। श्वेतवस्त्रधारी अपराधी, उच्च आर्थिक एवं सामाजिक वर्ग के लोग होते हैं, वे बड़े अपराध करते हैं परन्तु उन्हें कोई पकड़ नहीं पाता, क्योंकि समाज में उनका विशिष्ट स्थान होता है। सदरलैण्ड के अनुसार "ये ऐसे अपराध हैं जो अपने व्यवसाय के काम में आदर प्राप्त और उच्च सामाजिक वर्ग के व्यक्ति के द्वारा किये जाते हैं।"२

भारत में ऐसे अपराधियों की कमी नहीं है। बड़े-बड़े सेठ पूंजीपति, उच्च सरकारी पदाधिकारी, व्यवसायी तथा राजकीय पदाधिकारी सैकड़ों कानूनों का उल्लंघन करते हैं तथा दुराचार-व्यभिचार फैलाते हैं, परन्तु इनकी उच्च स्थिति के कारण या तो कोई कार्यवाही ही नहीं होती, यदि कोई कार्यवाही शुरू भी होती है तो इनके लम्बे हाथों द्वारा वहीं समाप्त कर दी जाती है, जिससे उन्हें किसी प्रकार का दण्ड नहीं भोगना पड़ता।

अपराधों को रोकने के कई उपाय किये जाते हैं, परन्तु इनकी संख्या में कमी की अपेक्षा वृद्धि ही हो रही है। अपराध के कारणों को खोजने का प्रयास किया जा रहा है। अमेरिका के विशेषज्ञ, शारीरिक अथवा जैवकीय कारणों को अपराध के लिये उत्तरदायी ठहराते हैं। भौगोलिकवादी मौसम, ऋतुओं तथा प्राकृतिक संरचना को अपराध के लिये उत्तरदायी ठहराते हैं। मार-पीट के अपराध, पहाड़ी प्रदेशों में अधिक पाये जाते हैं मैदानों में सबसे कम, गर्म देशों में मार-पीट तथा सर्द देशों में चोरी डकैती के अधिक अपराध होते हैं — इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक परिस्थितियाँ अपराध के लिये प्रेरित करती हैं। एडोल्फ क्वीटले तथा ए० एम० ग्यूरे प्रसिद्ध फ्रांसिसी विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि सामाजिक परिस्थितियों और अपराध में सह-सम्बन्ध है।

समाजवादियों के अनुसार अपराध के लिये आर्थिक कारण उत्तरदायी हैं। गरीबी और बेकारी के समय अधिकतर व्यक्ति अपराधों की ओर प्रेरित होते हैं। स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करती हैं। इस मत को मानने वाले कार्लमार्क्स तथा एंजिल्स से

---

१. जी० सी० हैलन - 'अपराध अपराधी और अपराधशास्त्र', (१९६७), पृ० ३८१.

२ White collar crime is a crime committed by a person of respectability and high social status in the course of his occupation, Sutherland and Cressey 'Principle of Criminology'.

प्रभावित हैं। इस मत मे कुछ हद तक सत्यता है, परन्तु आर्थिक कारण ही एक मात्र अपराधो को जन्म देने वाला कारण नही है। द्वेष-प्रतिशोध की भावना पर आधारित अपराध, बलात्कार, गम-गल्त करने के लिये शराब पीने का अपराध-गरीबी के कारण नही होते।

लेम्ब्रमो के अनुसार अपराधी जन्मजात होते हैं। अपराध को मानवशास्त्रीय प्ररूप (एन्थ्रोपालोजीक्ल टाइप) मानते हैं, जिनके शारीरिक, गुण विशिष्ट होते हैं, मुखाकृति भी विशिष्ट होती है—भारी ललाट, लटके होठ, भारी जबडे खोपडी भी कमजोर होती है—ये शरीर विशेषतः अपराधी होने के सूचक हैं। गाडाड शारीरिक विशिष्टता की अपेक्षा मानसिक दुर्बलता को अपराध का कारण मानते हैं (फीबल माइन्डेडनेस), परन्तु यह कमी सभी मे नही पाई जाती। कुछ अपराधी बहुत चतुर होते हैं, सुनिश्चित योजनाएँ बनाकर अपराध करते हैं। शारीरिक दुर्बलता तथा विकृति के कारण जैसे अन्धापन, लगडापन, काना आदि समाज के उपहास का कारण होता है, इससे प्रतिशोध की भावना जागृत हो जाती है। इलियट और मैरिल के अनुसार ऐसे व्यक्तियो की अपराध प्रवृत्ति क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप है। बच्चो को यदि मानसिक सतोष नही मिल पाता तो उनमे अपराधी प्रवृत्तियाँ पनपन लगती हैं।[1] मनोविश्लेषणात्मक समुदाय (साइकिएट्रिक स्कूल) के अनुसार अपराध का कारण मूल प्रवृत्तियो का दमन है तथा सवेगात्मक क्षुब्धता (इमोशनल डिस्टर्बेन्स) है। फ्रायड के अचेतन, निराशा तथा ईडीपस कम्पलेक्स का भी मनोविश्लेषणात्मकवादियो पर प्रभाव पडा। परन्तु समाजशास्त्रीय विवेचना के अनुसार अपराध, प्राथमिक समूह (जैसे परिवार) के टूटने से, माता-पिता और बच्चों के असन्तोषजनक सम्बन्धों के कारण, सास्कृतिक सघष एव प्रतिबन्धता की प्रक्रिया से वैयक्तिक विघटन, अपराध के लिय प्रेरित करते हैं। सामाजिक सगठन, सामाजिक मनोवृत्तियाँ, सामाजिक नियन्त्रण, व्यक्तियो के कार्य, सामाजिक परिस्थितियाँ, विभिन्न सस्कृतियो के सम्पर्क के कारण उत्पन्न सघर्ष, सामाजिक परिवर्तन, स्थिति तथा कार्यों (स्टेटस एण्ड रोल) मे परिवर्तन के कारण अपराध प्रवृत्ति पाई जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अपराधो की प्रेरक शक्तियाँ विभिन्न समाजों मे विभिन्न परिस्थितियो पर निर्भर करती हैं, परन्तु अपराधों के प्रमुख कारण सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, लैंगिक तथा सास्कृतिक हैं। अपराधों के विविध प्रारूप टाइप्स) हिन्दी उपन्यासों मे यत्र तत्र दिखाई देते हैं।

किसी असामाजिक कृत्य को अपराध कहा जाता है, परन्तु यह युग तथा स्थान सापेक्ष है। जैसे परिवार की सस्था के विकास के पूर्व यौन सम्बन्धों पर नियन्त्रण नहीं था। हर्बर्ट स्पेन्सर ने परिवार के लिये उद्विकास सिद्धान्त (इवोल्यूशनरी थ्योरी) का

१. ईलियट और मैरिल 'सोशियल डिस्आर्गेनाइजेशन' (१९६१), पृ० ७६.

प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार प्रारम्भिक पारिवारिक जीवन की स्थिति बड़ी शिथिल थी, उस समय यौन स्वच्छन्दता (प्रोमिसक्युटी) पाई जाती थी, जिसमें पारिवारिक सम्बन्ध अथवा रीति थे केवल माता तथा सन्तान के सम्बन्ध स्थायी थे और दरिद्रता के कारण स्त्री भ्रूण हत्या (फिमेल इन्फेन्टीसाइड) पाई जाती थी, जिससे कालान्तर में स्त्रियों की संख्या कम हो गई और बहुपति प्रथा (पोलिएण्ड्री) का प्रचलन हो गया। इसके उपरान्त प्रभुता के समय जब फिर स्त्रियों की संख्या बढ़ गई (युद्ध, दुर्भिक्ष आदि से) तो पुरुष अपनी विलासिता की पूर्ति के लिए एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने लगे और बहुपत्नी प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु ये दोनों प्रथाएँ आज अमान्य हैं, यदि कोई इनका अनुसरण करता है, तो उसे अपराधी समझा जाता है और कानून की दृष्टि से दण्डित किया जाता है। न्याय की मांग तथा आचार के नियमों के फलस्वरूप एक विवाह की स्थापना हुई। उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि परिवार की उत्पत्ति भिन्न अवस्थाओं की दिशा में उपरान्त हुई और विवाह की संस्था के विभिन्न स्वरूप पाए जाते थे, जिनके प्रमाण आदिम जातियों में मिलते हैं। रांगेय राघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' में नट जाति में पाई जाने वाली यौन स्वच्छन्दता के चित्रण से भी प्रमाणित होता है कि यौन स्वच्छन्दता को नट जाति में मान्यता प्राप्त थी। बहुपति विवाह अभी भी जौनसार बाबर की जन-जातियों में पाया जाता है और बहुपत्नी विवाह भी १९५४ के अधिनियम के पूर्व तक पाया जाता रहा है। १९५५ के अधिनियम के पारित होने के पश्चात् बहु विवाह अपराध माना जाता है। जो कृत्य १९५५ के पूर्व तक सामाजिक रूप से मान्य था वही अब अपराध माना जाता है। इसी प्रकार स्त्रियों का पुरुषों के अनुरूप समानाधिकार की चेष्टा करना माना बहुत बड़ा अपराध माना जाता था। विधवा विवाह तथा विवाह विच्छेद के बाद पुनर्विवाह की कल्पना करना भी पाप माना जाता था, परन्तु आज उन्हें सभी सुविधा प्राप्त है जबकि इसके पूर्व केवल दासी और प्रतिक्रिया विहीन ही बन कर रह सकती थी। यदि सिर उठाने की चेष्टा करती तो पुरुष-समाज सिर कलम करने की भी क्षमता रखता था। कुछ हिन्दी उपन्यासकार नारी का परम्परामुक्त होना अपराध मानते हैं। भगवतीचरण वर्मा नारी के लिये समाज की निर्धारित मान्यताओं का अक्षुण्ण पालन करना आवश्यक मानते हैं। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' उपन्यास की राजेश्वरी तथा महालक्ष्मी की पति के अतिरिक्त कोई गति नहीं है। विश्वासघाती उमानाथ विलायत से विदेशी युवती को ले आता है और महालक्ष्मी का परित्याग करना चाहता है, फिर भी वह यही कहती है कि मुझे उसमें सुख है जिसमें आपको है।[1] नारी की सहनशीलता की पराकाष्ठा है। वह कहती है—"आप कह दें कि मैं नौकरानी हूँ और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं उनकी सेवा करूँगी, पूजा करूँगी।"[2] पुरुष के किसी भी अमानवीय व्यवहार को अपराध नहीं माना जाता था। नारी को समाज

---

१. भगवतीचरण वर्मा—'टेढ़े मेढ़े रास्ते', पृ० २०८.
२. वही, पृ० २०८.

सदा निरीह समर्पिता ही देखना चाहता है। उसकी ओर से कोई विरोध न दिखा कर लेखक बहु-विवाह का समर्थन-सा करता जान पड़ता है।

'रेखा' उपन्यास मे रेखा, अधेड प्रोफेसर से विवाह करती है। उसका जीवन भय और आशंका, घुटन और कुण्ठा से भर जाता है। वह अतृप्त इच्छा की पूर्ति सम्पर्क मे आने वाले प्रत्येक युवक से करती है, परन्तु सामाजिक विधान का अतिक्रमण करने की उसमे क्षमता नही। धर्म और कर्त्तव्य उसे पति से बाँधे हुए है, तो क्या यह अपराध नही है कि सामाजिक विधान मे बंधे होने के कारण पति से बंधी है और शारीरिक रूप से किसी एक के प्रति भी एकनिष्ठ नही। क्यों नही पति को छोडकर किसी पुरुष से स्थायी सम्बन्ध स्थापित कर लेती शायद इसके लिये समाज उसे अपराधी मानता है, क्योंकि इसमे पति-परमेश्वर की अवहेलना होती है, परन्तु इस प्रकार तो वह अपने प्रति अपराधी भाव से भर उठती है जिसे समाजशास्त्रीय दृष्टि से स्व चेतना अपराध कहा गया है, जिसमे व्यक्ति अपने आपको दोषी समझने लगता है और धीरे-धीरे दोष की भावना अपराध का रूप धारण कर लेती है। जैनेन्द्र के उपन्यास 'विवर्त' और 'व्यतीत' की नारियां द्वन्द्वपूर्ण स्थिति मे झूलती रहती हैं। यह स्थिति उनमे अपराधी-भाव को भरती है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' मे जदेई का ज्वालाप्रसाद मे प्रेम है, परन्तु वह निश्चित नही कर पाती कि उसने ज्वालाप्रसाद से प्रेम करके कोई अपराध किया है कि नही ? 'कितना सहा है जिन्दगी मे, भगवान ने मुझे सहने के लिये ही पैदा किया था।"[1] यह कैसा सामाजिक विधान है, पुरुष चाहे कितने भी अन्यत्र सम्बन्ध स्थापित करता रहे वह फिर भी क्षम्य है परन्तु पति की अवहेलना-उपेक्षा सहन करने पर भी नारी का एकनिष्ठ ही देखना चाहता है, उसके अन्य सम्बन्ध को चाहे परिस्थितिजन्य हो, जघन्य अपराध माना जाता है। नारी के मन मे यही संस्कार डाले जाते है कि पतिव्रत धर्म खण्डित होने पर अपने को पतित माने, क्योंकि पति व्यक्ति नहीं वह प्रतीक है "" पति सदोष हो सकता है, अपग हो सकता है, विकलांग हो, जैसा हो पति, पति है।"[2]

इस प्रकार की विचारधारा ने पुरुष को और भी क्रूर और निर्भय बना दिया है। क्या यह नारी के प्रति अपराध नहीं ? बाल-विवाह, अनमेल विवाह आदि क्या अपराध नही ? युवा अवस्था मे वैधव्य का अभिशप्त जीवन लिये, कामी पुरुषों से सतीत्व की रक्षा के लिये, उसे संघर्ष करना पड़ता है और यदि पुरुष की पाशविकता की शिकार हो गई तो उसे ही अपराधी समझा जाता है। नरेश मेहता के 'धूमकेतु एक श्रुति' उपन्यास में विधवा बल्लभा के साथ पिता का निर्मम अत्याचार क्या क्षम्य अपराध है ? बल्लभा के साथ उसके पिता के बलात्कार के कारण वह लज्जा तथा आत्मग्लानि से भर उठती है—"उसकी आत्महत्या मे गहरी पीड़ का भाव है जो

---

१. भगवतीचरण वर्मा – 'भूले बिसरे चित्र,' (तीसरा संस्क० १९६४), पृ० ३९६.
२. जैनेन्द्र—'कल्याणी', पृ० ८१.

मन पर छाप छोड़ जाता है।"[1] 'डूबते मस्तूल' की रंजना को पतन के गर्त में भी समाज के ठेकेदारों ने पहुंचाया है। अनिच्छा से रंजना को न जान कितने पुरुषों के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ता है। वह कहती है–'पुरुष प्रधान समाज में नारी माँ नहीं है, बहिन नहीं है, मात्र शरीर है और जिसे वह रौंदते हैं।"[2] रंजना सच्चे अर्थ में न पत्नी बन सकी, न माँ ही। वह कहती है "तुम सब कुछ कर सकते हो, किन्तु हमारे मन की पीड़ा, मर्मान्तिक पीड़ा, को नहीं जान सकते।"[3]

इतना होने पर भी रंजना ही समाज की दृष्टि में अपराधी है, उसे पतित कर के भी पुरुष पवित्र है। देवी की संज्ञा देने वाला पुरुष उसके शरीर को खरीदता है।[4] ऐसी स्थिति में अपराधी कौन है, अपराध किसका है, यह भी एक विरोधाभास है। नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में यह उक्ति कि नारी को पिता, पति, पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिये सारहीन सिद्ध होती है। पिता ने कुपात्र के हाथ सौंप कर अपराध किया है, निर्धन पति दो सन्तानों का बोझ उस पर छोड़ जाता है और जयनाथ विधवा गौरी से अपनी काम-बुभुक्षा शमन करके भी बन्धन मुक्त है और गौरी अपराधी है, वह कुलटा घोषित कर दी जाती है।"[5] और पुत्र झोंटा पकड़ कर लात-घूंसों से उसकी सेवा करता है–"उसकी आर्थिक, सामाजिक तथा भावात्मक स्थिति समाज की जड़ परिस्थितियों पर व्यंग्य है।"[6] वह समाज की निष्ठुर लांछना, अपमान तथा तिरस्कार के भार को और अधिक वहन करने में असमर्थ होने पर मृत्यु का आह्वान करती है। "गौरी उसी की गोद में जीवन की विपदाओं से परित्राण पाती है।'[7]

उसके अपराधी रूप का अधिकारी समाज है जो उसे मृत्यु-वरण की सजा देता है, इसी कारुणिक कथा को सजीव तथा विशद रूप से अंकित किया गया है। २८ मार्च के धर्मयुग में प्रकाशित कहानी 'वृष्टि' में बताशी को अपराधी माना गया है, क्योंकि लोगों का विचार है कि उसी के पाप के कारण वर्षा नहीं हो रही। वह पंचों के सामने अपनी सफाई देते हुए कहती है – "क्या कहूं आप लोग गरीब की बात का यकीन नहीं करते; हम इन्सान नहीं कुत्ते-बिल्ली हैं, हमारी क्या इज्जत! नहीं तो इतनी बदनामी कर पाते आप लोग ? मेरी किस्मत का दोष ...नहीं तो उनके जीवित रहते मैंने अनेक बार उल्टी की रोज कच्ची मिट्टी और इमली खाये बगैर रह न

---

१. नेमीचन्द्र जैन–अधूरे साक्षात्कार, पृ० १५५
२. नरेश मेहता–'डूबते मस्तूल', (१९५४), पृ० ९३.
३. वही, पृ० ५१.
४ वही, पृ० १०३.
५. नागार्जुन – 'रतिनाथ की चाची' (१९४८), पृ० ६८.
६. सुषमा धवन – 'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३०४.
७. इन्द्रनाथ मदान – 'आज का हिन्दी उपन्यास', पृ० ४६.

पाती थी, यह सब किसी ने न देखा।"[1] हाजी ने बेगुनाह बतासी तथा उसके ममेरे भाई को पचास-पचास जूते लगवा कर गाँव से निकल जाने का आदेश दिया।[2] परन्तु उसके घर में ही युवा पत्नी तथा उसके सौतेले पुत्र के वृत्त को कोई न जान पाया, क्योंकि यह श्वेतवस्त्रधारी लोगों (व्हाइट कालर) लोगों का अपराध है, जिसे लोग जानकर भी अनजान रहते हैं। हिन्दू समाज में अपराध का दण्ड भी अपराधी के स्थान पर निबल को भोगना पड़ता है। शैलेश मटियानी के 'एक मूठ सरसों' में रेवती का परित्याग कर दिया जाता है, क्योंकि नवजात पुत्री की मुखाकृति अन्य पुरुष से मिलती है। परमेश्वर के दरबार में दण्ड सिर्फ पापिनी औरतों को ही मिलता है, अत्याचारी मर्दों के सब कसूर माफ कर दिये जाते हैं। सृष्टि को चलाने वाला परमेश्वर भी पुरुष जाति का ही है।[3] रेवती के समक्ष मृत्यु के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता। इस अपराध के लिए कौन उत्तरदायी है?

उषा देवी मित्रा के 'नष्ट नीड़' की एला ऐसे पति के अत्याचारों को सहन करना भी अपराध मानती है जो शराब पीकर रात भर वेश्या के घर रहे, लौट कर पत्नी का निर्यात करे और वह सब अत्याचारों को सहकर उसी पति के पैरों से लिपटी रहे।[4] शराब पीना तथा वेश्यागमन अपने में स्वयं अपराध है, इन अपराधों को सहना भी अपराध है।

निर्दोष पत्नी को त्याग देना भी सामाजिक दृष्टि से अपराध है, जिसमें स्त्री को बहुत सहना पड़ता है। शिक्षा के अभाव में तो घर की चक्की में मानो वह पिस ही जाती है। नरेश मेहता के उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' की सरो टूट जाती है – 'सरो तुम पृथ्वी हो'[5] समझ कर टूटती है। श्रीधर वर्षों घर से दूर रहता है और सरो को जीवन की कड़ुवाहट हर पल पीनी पड़ती है। वह अन्त में क्षय रोग से पीड़ित होकर चल बसती है। अमृतराय के 'बीज' उपन्यास की परित्यक्त राज भी सीली हुई दियासलाई है, जो फुस से जल कर खत्म हो जाती है।[6]

भौतिकवादी युग में जीवन की आवश्यक्ताओं को जुटाने के लिये मानव कई प्रकार के अपराध करता है। अपराध की अवधारणा परिस्थितिजन्य मानी जाने लगी है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'रेखा' में देवकी अपने पति दाताराम से विमुख होकर प्रोफेसर उमाशंकर की ओर आकर्षित होती है और व्यक्तित्वहीन

---

१. धर्मयुग – २८ मार्च अंक (१९७१), पृ० १९
२. वही, पृ० २०.
३. शैलेश मटियानी – एक मूठ सरसों', पृ० ३.
४. उषा देवी मित्रा – 'नष्ट नीड़', पृ० १६०.
५. नरेश मेहता – 'यह पथ बन्धु था', पृ० १७२.
६. अमृतराय – 'बीज', (द्वितीय संस्करण १९५६), पृ० २८३.

दानाराम को उमाशंकर की सहायता से हैडमास्टर बनवाती है। डाक्टर उमाशंकर भी जानते हैं देवकी केवल स्वार्थवश मुझसे मलग्न है। दुनियाँ की दृष्टि से देवकी कलंकिनी बनकर भी अपने बच्चों का पालन-पोषण करती है। वह कहती है – "इस सब पाने की तह में लगातार देन जाना है, परिवार है लेकिन उनकी सुख-सुविधा जुटाना मेरा धर्म है। बच्चों को पालूँ-पोसूँ, उनको खाना दूँ, उनके लिये कपड़ा बनवाऊँ, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करूँ और उस सबके बदले में मुझे मिलता क्या है–बच्चों की अपनी जिन्दगी है, वो एक दिन मुझ से छिटक कर अलग हो जाएँगे। मेरा पति एक निकम्मा और गिरा हुआ आदमी है, वह जो कुछ भी बन पाया है मेरे कारण।[1] देवकी को सन्तोष है कि वह बच्चों को अच्छी शिक्षा दे पाई है, उनके लिये यदि वह निकम्मे पति के प्रति एकनिष्ठ नहीं रही तो उसने कोई अपराध नहीं किया। अपराधों के परोक्ष में सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का भी हाथ है। राजकमल चौधरी के उपन्यास 'नदी बहती थी' में रणजीत पैसा कमाने हेतु गाँव छोड़कर शहर जाता है, साथ में पत्नी पूरबी को भी ले जाता है। परन्तु व्यावसायिक युग की सभ्यता, सुख-सुविधा की लालसा, उनके मधुर सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर देती है। पति के लिये पूरबी अपना सर्वस्व लुटा देती है, वही उसे पास रखने से इन्कार करता है, तो पूरबी पुत्री को लेकर चली जाती है और शरीर का व्यवसाय करने के लिये बाध्य होती है – "पैसा एक हसीन चीज है, इसी हविस के कारण पूरबी और रनजीत का परिवार टूट गया।[2] दूसरी स्त्री पात्र है सविता, जिसे पति चौधरी भारत विभाजन के समय रिफ्यूजी कैम्प में छोड़ कर चला जाता है और अपनी बच्ची के भविष्य के लिये सविता को अपना सतीत्व दाव पर लगाना पड़ता है। आज की सामाजिक व्यवस्था में 'धन का बहुत महत्त्व है, जिसने व्यक्ति को टूटने का अवसर प्रदान किया है।"[3] सामाजिक परिवर्तन तथा आपत्ति-काल में अपराधों की संख्या बढ़ जाती है, जैसे रांगेय राघव तथा अमृतलाल नागर के उपन्यास क्रमशः 'विषादमठ' तथा 'महाकाल' में बंगाल के दुर्भिक्ष का बड़ा मार्मिक वर्णन है। हिन्दुस्तान भूखा था, बंगाल भूखा था, मनुष्य भूखा था .. हिन्दुस्तान की जनता राहों पर कराह-कराह कर दम तोड़ रही थी स्त्रियाँ अपने पुरुषों के शवों पर खड़ी होकर अपनी सन्तान और सतीत्व को खुले आम बेच रही थीं।"[4] 'महाकाल' में 'द्वितीय महासमर के अन्तराल में जीवन के संत्रस्त एवं अस्तव्यस्त रूप का चित्रण है।"[5] ऐसी स्थिति में मानद-मूल्यों का पतन हो जाता है – "जीवित लड़कियों को आग पर पका कर भूख की चण्डी को शान्त करना, पुजारी द्वारा गोवध, भूखी जनता का अन्न के गोदाम पर

---

१. भगवतीचरण वर्मा – 'रेखा' (प्रथम संस्क० (१९६४), पृ० ७५.
२. राजकमल चौधरी – 'नदी बहती थी' की भूमिका।
३. वही, पृ० २७.
४. रांगेय राघव – 'विषाद मठ'।
५. सुषमा धवन – हिन्दी उपन्यास, पृ० ६२.

आक्रमण, शवों का गिद्धों द्वारा नोचा जाना, बलात्कार आदि लोमहर्षक घटनाएँ, जघन्य अपराध करने से भी व्यक्ति विचलित नहीं होता।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति, जो अपेक्षा विरुद्ध व्यवहार करता है, वह सामाजिक पृष्ठभूमि की उपज के साथ साथ उसके मानसिक विकास पर भी निर्भर करता है। अपराधी व्यक्ति को दण्डित करने के लिये कानूनी रूप से तथा धर्म व रीति-रिवाजों के माध्यम से दण्ड दिया जाता है। भारत की सामाजिक संरचना में धर्म मेरुदण्ड की भाँति महत्त्वपूर्ण है और अपराधों के लिये भी दण्ड का विधान धर्म ही करता था। मनुस्मृति में ऋण न चुकाने वाले को बन्धक की वस्तु हजम करने वाले को दूसरा व पशु छीनने वाले को, 'चोरी, डकैती, व्यभिचार मानहानि तथा जुआ खेलने वाले को अपराधी माना गया है। इन अपराधों के उल्लेख के साथ दण्ड का भी विधान है। देशद्रोही के लिए मृत्युदण्ड तक का विधान है।

दण्ड का विधान इसलिये किया जाता है ताकि भविष्य में व्यवस्था बनी रहे और दण्ड के द्वारा व्यक्ति का सुधार किया जाय। दण्ड का एक उद्देश्य यह भी है कि अपराधों को दण्ड देकर उन व्यक्तियों को आतंकित करना जो भविष्य में अपराध कर सकते हैं। दण्ड का उद्देश्य अपराधी से बदला लेना नहीं है बल्कि उसका सुधार करके अच्छा नागरिक बनाना है। आज अपराधी को ही दोषी नहीं ठहराया जाता, उसके अपराधों के लिये सामाजिक परिस्थितियों को भी जानने का प्रयास किया जाता है, इसलिये उनके सुधार का प्रयत्न किया जाता है। स्थिर समाजों में धर्म तथा सामाजिक रूढ़ियों द्वारा दण्ड का विधान किया जाता था, जैसे रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' में कमली के डा० प्रशान्त से गन्धर्व विवाह कर लेने पर गाँव के लोग तहसीलदार को जाति से बहिष्कृत कर देते हैं, परन्तु जब वह सभी को भोज देता है तो उसे फिर जाति में स्वीकार कर लिया जाता है। पहले अपराध का न्याय पंच लोग करते थे, फिर पंचायतों का प्रभाव अंग्रेजी राज्य में कम हो गया था परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पंचायतों तथा न्याय-पंचायतों को फिर शक्तिशाली बनाया जा रहा है ताकि गाँव वालों का धन शहरी वकीलों तथा अदालतों में न जाये। धर्मयुग में प्रकाशित कहानी 'वृष्टि' में हाजी ताय गाँव पंचायत को 'बनामी और उसके ममेरे भाई को अपराधी मान कर पचास-पचास जूते लगवा कर गाँव छोड़ने का आदेश देती है।"[1] परन्तु कभी-कभी इस प्रकार के दण्ड पूर्वाग्रह के कारण न्यायसंगत नहीं हो पाते।

आज यह धारणा बनती जा रही है कि सामाजिक परिस्थितियाँ अपराधी के लिये अवसर प्रदान करती हैं, इसलिये समाज को उन कारणों को जानना चाहिये जिनके कारण कोई अपराध करता है और अपराधियों का सुधार करना चाहिये; अपराधी को उपचार की आवश्यकता है, इसलिए सुधार वैज्ञानिक रीतियों से किया जाने लगा है। सरकार का इस ओर अधिक झुकाव है। मृत्युदण्ड को भी समाप्त करने के लिये प्रयास किये जा रहे हैं।

---

१. धर्मयुग २८ मार्च, १९७१, पृ० २०.

सुधारात्मक सिद्धान्त, दण्ड के स्थान पर उपचार प्रस्तुत करता है। यह मानवतावादी प्रवृत्ति का द्योतक है, परन्तु इसमें यह आवश्यक है कि अपराधी भी नैतिक उन्नति के लिए इच्छुक हो अन्यथा सुधारात्मक प्रयत्न व्यर्थ होंगे।

सामाजिक विकास की प्रक्रिया में दण्ड के विभिन्न स्वरूप पाये जाते रहे हैं। मनु के अनुसार पहले अपराधी को वाग्दण्ड अर्थात् बुरा-भला कहे, फिर धिक्कार, फिर आर्थिक दण्ड दे अर्थात् जुर्माना, फिर वधदण्ड (शारीरिक अथवा प्राणदण्ड दे)। विशेष अपराधों में चारों प्रकार के दण्ड दिये जा सकते हैं।"[1]

सामाजिक अपमान भी एक प्रकार का दण्ड है, जिसमें अपराधी का हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता है, समाज-जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है जिससे वह अपने हेय कार्य के लिये लज्जित हो। गावों में अभी भी इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था है।

शारीरिक दण्ड में प्राचीन काल में अपराधी का अंग-भंग कर दिया जाता था, गर्म सलाखों से दागा जाता था अपराधी को जीवित जला दिया जाता था, दीवार में चुन दिया जाता था। राजाओं और सामन्तों के काल में इस प्रकार के शारीरिक दण्ड दिए जाते थे। रांगेय राघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' में चन्दा को ठाकुर की पत्नी मारते-मारते अधमरा कर देती है, क्योंकि ठाकुर के पुत्र से अनुराग, नीच जाति की लड़की का यह घोर अपराध माना गया है कि उसने नट होते हुए ठाकुर के बेटे से प्यार किया है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'सात घूंघट वाला मुखड़ा' में जुम्राना बेगम एक बांदी मुस्तरी की आंखें गर्म सलाखों से फुटवा देती है[2] तथा मुस्तरी को दीवार में चुनवा देती है, परन्तु फिर भी जुम्राना बेगम को सन्तोष नहीं होता। वह हुक्म देती है—'इसकी नापाक जुबान पर दहकते अंगारे रखे जाएं।"[3] मुस्तरी की आंखों से लहू छाती पर बहता रहा, परन्तु अन्त तक उसने यही कहा-'पाक मुहब्बत में ईसा की तरह अपनी जान कुर्बान कर रही हूं।"[4] क्योंकि बांदी को ऊँचे घराने के नवाब मन्सू से प्यार करने का अधिकार नहीं। अनार कली की कथा जगत प्रसिद्ध है। सलीम के प्यार ने उसे जिन्दा दीवार में चुनवा दिया। इस प्रकार के दण्ड देकर जनता को आतंकित किया जाता है ताकि दूसरों की हिम्मत न हो, तथा अपराधी भी शारीरिक दण्ड से भयभीत हो, फिर कभी साहस न करे अपराध करने के लिये। परन्तु आधुनिक काल में इस प्रकार के दण्ड अनुचित समझे जाते हैं। ब्रिटिश काल में भी आजादी के दीवानों को तरह-तरह के

---

१. मनुस्मृति—"वाग्दण्ड प्रथमं, कुर्यात् धिग्दण्ड तदनन्तरम्।
तृतीय धनदण्ड तु वधदण्डमतः परम् ॥" (८।१२९).

२. अमृतलाल नागर– सात घूंघट वाला मुखड़ा' (१९६९, पृ० ६०

३. वही, पृ० ६०.

४ वही, पृ० ६१.

नागरिक दण्ड दिये जाते थे। चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि या अन्य अंग्रेजों की क्रूरता का ज्वलन्त उदाहरण हैं।

आर्थिक दण्ड, अपराध की गहनता के अनुरूप दिया जाता है। धनराशि न देने पर कारावास का दण्ड दिया जाता है।

राज्य की ओर से कारावास का विधान इसलिये किया जाता है ताकि अपराधी व्यक्ति को समाज के अन्य सदस्यों से अलग रखा जाये, जहां वह अपने कृत्य के लिये अपने को दोषी अनुभव कर सके। प्राचीन काल मे कारावास मे घोर कष्ट दिये जाते थे, परन्तु आजकल इन्हें सभी प्रकार की सुविधाएं दी जाती हैं। मृत्युदण्ड भी जहां पहले आग मे जीवित जलाना, शूली पर चढवाना पहाड से गिरवाना, जगली जानवरों से नुचवाना शेर के पिंजरे मे डालना, विषपान कराना आदि दिये जाते थे, वहा आधुनिक काल मे फांसी बिजली की कुर्सी द्वारा तथा गैस द्वारा दिया जाता है। इन उपर्युक्त तरीकों से कम यन्त्रणा होती है जिसमे बिजली की कुर्सी तथा गैस के द्वारा तो बहुत कम समय मे मृत्युदण्ड की क्रिया पूर्ण हो जाती है।

आधुनिक काल मे जेलों को, दण्डित करने के स्थान की अपेक्षा, मानसिक चिकित्सालयों का रूप दिया जाने लगा है; जिससे दण्ड प्रणाली मे सुधार हुआ है। अच्छा व्यवहार करने वाले अपराधियों को परिवीक्षा (प्रोबेशन) तथा पेरौल पर छोडा जाता है। सुधारवादी विचारधारा के साथ बन्दीगृहों की अवस्था मे भी सुधार हुए और प्राचीन बन्दीगृहों को आदर्श बन्दीगृहो (माडल प्रिजन्स) मे परिवर्तित कर दिया गया है और स्त्रियों, बच्चों, प्रथम दोषियों, अभ्यस्त अपराधियों को पृथक्-पृथक् रखा जाता है, जबकि पहले सभी को एक साथ रखा जाता था। इनके सुधार के लिये विभिन्न आदर्श बन्दीगृह बनाये गये।

शिवानी के धर्मयुग मे प्रकाशित धारावाहिक 'रिपोर्ताज'[1] मे गोरखपुर के बन्दीगृह का सजीव चित्रण है। उत्तराखण्ड की निवासी चनुली जिसे आजीवन कारावास होता है, अपने व्यवहार से सभी को प्रसन्न कर लेती है और उसकी सजा चार साल रह जाती है और नैनी सुधार-गृह मे भेज दी जाती है।[1]

आदर्श बन्दीगृहो मे अपराधियो पर अधिक प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते। वे स्वतन्त्रता से घूम सकते हैं, उनके लिये पढने-खेलने की व्यवस्था की जाती है, पुस्तकालय, समाचार पत्र, मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जाती है, बागवानी, कृषि, उद्योग आदि सिखाये जाते हैं, वादविवाद प्रतियोगिताएं, उत्सव, व्यायाम, सभी प्रकार की व्यवस्था की जाती है और कार्य व्यवस्था बन्दियों द्वारा ही की जाती है।

संसार मे सर्वश्रेष्ठ आदर्श बन्दीगृह स्वीडन मे है। उत्तरप्रदेश मे लखनऊ मे भी एक आदर्श बन्दीगृह की स्थापना की गई है, जहां बन्दियों को कार्य के बदले

---

1. शिवानी-'कारे एकाकी' रिपोर्ताज धारावाहिक-धर्मयुग २२ मार्च, २९ मार्च तथा ५ अप्रेल, १९७०.

वेतन दिया जाता है। बन्दी का सभी पहलुओं से अध्ययन किया जाता है, जैसे वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक सम्बन्ध, आर्थिक स्थिति, मनोवैज्ञानिक मानसिक दोष, शारीरिक कमियां, एवं दोष आदि। भारत में सभी राज्यों में एक केन्द्रीय बन्दीगृह होता है। इन बन्दीगृहों को आदर्श बन्दीगृह बनाया जा रहा है। इन आदर्श बन्दीगृहों का उद्देश्य अपराधी को समाजोपयोगी उत्तरदायी नागरिक बनाना है।

आदर्श बन्दीगृहों के साथ प्राचीरविहीन तथा खुले (बालसैम तथा ओपन) बन्दीगृहों का भी निर्माण हो रहा है। इसका प्रारम्भ सर्वप्रथम १९३३ में इंग्लैण्ड में हुआ था, जिसका नाम है न्यू हाल कैम्प, जहां बन्दियों पर विश्वास किया जाता था, वह झोंपड़ियों में रहते थे जहां न ताले लगाये जाते थे, न सींखचे थे, न गगन चुम्बी दीवारें थीं, न बन्दूकधारी सन्तरी थे। बन्दीगृह के केवल पात्र अधिकारी इनके साथ रहते थे। शिविर के चारों ओर सीमा निर्धारण के लिये पेड़ों पर श्वेत चिह्न लगाये गये थे। रूस में बोलशैं वो, टर्की में इमराली तथा स्वीडन के बन्दीगृह संसार में प्रसिद्ध हैं। भारत में डा० सम्पूर्णानन्द के प्रयास से १९५२ में इस प्रकार के शिविरों की स्थापना हुई, जिससे बन्दियों में आत्मसम्मान तथा आत्मनिर्भरता की भावना का उद्रेक हो। दण्ड का वास्तविक उद्देश्य है 'असामाजिक प्राणी को अच्छा नागरिक बनाना'। खुली संस्थाओं में उनमें सहकारी, समाजिक जीवन की भावना पैदा होगी। इन संस्थाओं में बन्दी स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकता है, मजदूरी के आधार पर कार्य करता है और बन्दी अपने आपको एक ईमानदार कार्यकर्ता अनुभव करता हुआ देश के निर्माण में अपने को सहयोगी समझता है।

भारत में खुले बन्दीगृह उत्तरप्रदेश, आंध्रप्रदेश, बिहार, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, केरल में स्थापित किये गये हैं। प्राचीररहित शिविर में वाराणसी में सरैया के पास वरुणा पर पुल बनाने के लिये सर्वप्रथम बन्दियों को भेजा गया था। उनके कार्य की सराहना डा० सम्पूर्णानन्द ने भी की थी। 'यह एक मिला-जुला शिविर था, जहां बन्दियों को साधारण मजदूरों के साथ काम करना था, जिसमें मजदूर स्त्रियां भी थी।' इस प्रयोग की जिनेवा में आयोजित 'अपराधियों की चिकित्सा तथा अपराध निरोध' पर विश्व कांग्रेस में बहुत प्रशंसा हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज अपराधी को दण्ड देना ही समाज का दृष्टि-कोण नहीं रह गया, वरन् उसे अपने कार्य के लिये प्रतीति करा कर स्वस्थ नागरिक बनाना ध्येय है; इसलिये दण्ड की विधियों में भी सुधार परिलक्षित है।

व्यस्क अपराधों के अनुरूप बाल-अपराध भी भारत में बहु संख्या में पाये जाते हैं। बाल अपराध से तात्पर्य है, बच्चों के वे कार्य एवं व्यवहार जो लोक-कल्याण के लिये हानिकारक हों गिलिन और गिलिन के अनुसार-'समाजशास्त्रीय दृष्टि से वयस्क अपराधी व बाल-अपराधी एक ऐसा व्यक्ति है, जो ऐसे कार्य करता है जिसे एक समूह, समाज के लिये हानिकारक समझता है।''[1] प्राचीन काल में स्त्रियों तथा बच्चों के अपराध

१. गिलिन एण्ड गिलिन—'कल्चरल सोशलाजी,' पृ० ७८९.

क्षम्य समझे जाते थे, इसलिये बाल अपराध सम्बन्धी कोई विकट समस्या समाज के समक्ष नहीं थी। सन् १९५९ में "ब्यूरो आव् डेलिन्क्वेन्सी स्टेटिस्टिक्स एण्ड रिसर्च आव् चिल्ड्रन एंड सोसायटी, बोम्बे" ने भारत में बाल अपराध की समस्या पर एक वृहद् रिपोर्ट तैयार की, जिसमें १९४८-१९५४ के दौरान में ८६,४६१ बाल अपराधियों को बन्दी बनाया गया, जिसमें सात वर्ष से लेकर १६ वर्ष तक की आयु के बालक सम्मिलित थे। १९५८ में यह संख्या १४,६२० हो गई। ब्यूरो के अनुसार सामान्य प्रवृत्ति इनकी वृद्धि की ओर ही है। १९६० में २६,००० हो गई।[1] बाल अपराधों की संख्या उत्तरप्रदेश में सबसे अधिक है। बाल अपराध के कारण हैं–प्रतिकूल पारिवारिक दशाएं, दोषपूर्ण रहने के स्थान, गरीबी तथा अनेक संवेगात्मक दशाएं।

सन् १९६१ और १९६० के बीच सरकारी आंकड़ों में बाल अपराधों की काफी कमी बताई गई है जिसका कारण सुधार सेवाएं बताया गया है, परन्तु केरल, आन्ध्रप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा मद्रास में बाल अपराधों की संख्या में वृद्धि हुई है।[2] नवम्बर २५, २६, २७ (१९६५) को "बाल अपराध और पुलिस का महत्त्व" विषय पर हुई गोष्ठी में श्री आर० जी० राव ने कहा–'ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में बाल अपराध बढ़ रहे हैं।[3] भारत में, गावों से शहरों की ओर भागने की अधिक प्रवृत्ति के कारण भी बन्दरगाहों तथा गोदी क्षेत्रों में किशोरों द्वारा छोटी मोटी चोरियों में वृद्धि हुई है तथा यातायात सम्बन्धी (पाकेटमार आदि) अपराधों में वृद्धि हुई है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के कारण, सामाजिक असमानताओं के कारण भी बाल-अपराधों में वृद्धि हुई है। बाल अपराध का मुख्य कारण बाल-निराश्रितता तथा भिक्षावृत्ति है।

"बाल अपराधों के उपचार के लिये १८४३ में बम्बई में डेविड सेसन इन्डस्ट्रियल एण्ड रेफारमेटरी स्कूल खोला गया, उसे १८५७ में सरकारी मान्यता प्राप्त हुई और १५ वर्ष से कम आयु वाले अपराधी को सेक्शन ३९९ (I) क्रिमिनल पिनल कोड के अन्तर्गत इस संस्था को सुपुर्द किया जाता है। वहाँ बच्चे को किसी भी दस्तकारी का प्रशिक्षण दिया जाता है। १८७६ में भारत सरकार ने सुधारालय नियम (रिफार्मेटरी स्कूल एक्ट) पास किया तथा १८९२ में इस अधिनियम में संशोधन किये गये और उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब तथा कुछ देसी रियासतों में सुधारालयों की स्थापना हुई। परन्तु बाल अपराधियों का वैज्ञानिक ढंग से उपचार करने के लिये भारतीय जेल समिति (१९१९-२०) की सिफारिश पर बाल अपराधियों को अलग रखने की व्यवस्था की गई तथा आज के मद्रास बाल अधिनियम के अनुरूप सारे देश में इसे लागू किया गया। सन् १९२२ में बंगाल तथा सन् १९२४ में इस अधिनियम

---

१. जी० सी० हेलन– अपराध, अपराधी और अपराधशास्त्र '(१९६७), पृ० २९०.

२ न्यूज आइटम'– द हिन्दुस्तान टाइम्स, न्यू देहली–जून २८, १९६६.

३. जी० सी० हलन–'अपराध, अपराधी और अपराधशास्त्र', पृ० ९८.

का अनुसरण किया गया तथा उड़ीसा, पंजाब, उत्तरप्रदेश में भी यह अधिनियम पारित किया गया। १९४१ में दिल्ली केन्द्र प्रशासित क्षेत्र में बम्बई बाल अधिनियम को कुछ स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित करके लागू किया गया।"[1] बाल अधिनियम उपर्युक्त अन्य अधिनियमों से अधिक व्यापक है। इसमें लड़के, लड़कियाँ दोनों की व्यवस्था है तथा उपेक्षित, अनियन्त्रित और निराश्रित बच्चों को भी संरक्षण दिया जाता है। लीग आव् नेशन्स १९४६ की घोषणा के बाद भारत में भी बच्चों के अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई है ताकि बच्चों का भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास हो सके।

सन् १९५२ में बाल-अपराधों को रोकने के लिये यू० पी० चिल्ड्रन ऐक्ट पास किया गया जिसका उद्देश्य बच्चों को अपराधी होने से रोकना तथा उन्हें पुनर्स्थापित करना है। बाल अपराधियों को पढ़ाने और कारीगरी सिखाने के लिये उत्तरप्रदेश के जिला बरेली में 'किशोर सदन' खोला गया है, जहाँ उनकी पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था है।"[2] दिल्ली के 'बाल सदन' में बच्चों को अनुशासन में रखा जाता है परन्तु इसे जेल का रूप नहीं दिया जाता, जहाँ इन्हें सभी प्रकार की दस्तकारी सिखाई जाती है। 'बाल सदन' के बच्चे अधिकांशतः बहुत तेज व समझदार होते हैं। सदन, बच्चों को योग्य बनाने का पूरा प्रयत्न करता है। "[3] इनके अतिरिक्त दिल्ली प्रशासन द्वारा परामर्श और मार्गदर्शन ब्यूरो की भी स्थापना की गई है,[4] जिसका ध्येय है बालकों का उपचार करना। जिन क्षेत्रों में अधिक बाल-अपराध होते हैं वहाँ जाकर उनसे सम्पर्क स्थापित कर आवारा, चोरी करने वाले, जुआ खेलने वाले बच्चों का पता लगाया जाता है। बाल अपराध सुधारात्मक क्षेत्र में बाल-सेवा ब्यूरो महत्वपूर्ण परीक्षण है। १९५३ में बम्बई में 'जुवेनाइल सर्विस ब्यूरो' कार्य कर रही है, जो अपराधोन्मुख बच्चों का पता लगा कर उपचार करने का प्रयास करती है। १९६१ में त्रिवेन्द्रम में बाल-अपराधियों के लिये खुले बन्दीगृह की स्थापना की गई, जिसमें कार्य द्वारा (वर्क थैरेपी) उनमें सुधार करने का नवीन प्रयोग किया जा रहा है। ५०० एकड़ जमीन पर बागान का वह कार्य करते हैं।

इन सभी प्रयासों के पीछे बच्चों को स्वस्थ नागरिक बनाना ही मुख्य ध्येय है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भी अपने लेख में कहा है कि रिमांड होम का उद्देश्य दण्ड देना नहीं, बल्कि बच्चे का सामाजिक पुनर्वास करना है।[5] बाल-अपराध के परोक्ष में भी सामाजिक विषमताओं का महत्वपूर्ण स्थान है। स्वदेश दीपक की धर्मयुग में प्रकाशित धारावाहिक लम्बी कहानी 'मरा हुआ पक्षी' में एक ऐसे बच्चे का चित्रण है

---

१. डॉ० सी० हैलन – 'अपराध, अपराधी और अपराधशास्त्र', पृ० ३०२.
२. समाज कल्याण, जनवरी १९५९, पृ० १६.
३. वही, जून १९६०, पृ० २३.
४. वही, दिसम्बर १९६१, पृ० १६.
५. समाज कल्याण – वार्षिक अंक अगस्त १९५७, पृ० ९-१०.

जो गाँव के मुखिया की हत्या कर देता है, क्योंकि अपनी माँ से मुखिया के सम्बन्धों का वह सहन नहीं कर पाता और अवसर पाते ही हत्या कर देता है।"[1]

'जल टूटता हुआ' में कुंजबिहारी के भाइ म बाल्यकाल से ही अपराधी वृत्तियाँ पाई जाती हैं। वह मुखिया से घृणा करता है। उसके कर व्यवहार के कारण मार-पीट के कारण जेल जाता है। भवनात्मक उद्वेगों म भी बच्चे अपराध कर देते हैं। इलियट तथा, मरिल न सवेगात्मकता को महत्त्व दिया है। सन्तापप्रद व्यवस्था क लिये भवनात्मक स्थायित्व होना आवश्यक है।

बच्चों क स्वस्थ विकास के लिये उन्हें स्वस्थ वातावरण प्रदान करना आवश्यक है। इसलिये सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाएँ क्रियाशील हैं, साथ ही अपराधी व्यक्तियों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा चिकित्सा का आजकल आयोजन किया जारहा है। मनोविश्लेषण के अनुसार जीवन की अन्य समस्याओं की तरह अपराध की समस्या भी वृत्ति का समस्या ही है।"[2]

(ख) बेकारी व निर्धनता—सामाजिक परिवेष मे

बेकारी तथा निर्धनता अन्योन्याश्रित हैं। यदि धनोपार्जन का व्यक्ति क पास कोई साधन न हो तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वह नहीं कर सकता। धन प्राप्ति का कोई साधन न होने के कारण निधन व्यक्ति का जीवन अति तिक्त हो जाता है। भारत म बेकारी की समस्या आज बडी विषम है। औद्योगीकरण के कारण गृह उद्योगों की बडी क्षति हुई है, जिसके कारण बेकारी की समस्या विकट हो गई है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण भी बेकारी की समस्या उत्पन्न हो गई है। शिक्षा के विस्तार से प्रत्येक पढा लिखा युवक युवति नौकरी की आकांक्षा करने लगता है। राज्य के लिये यह सम्भव नहीं कि सभी को रोजगार दे सके और पढे लिखे व्यक्ति अपने पैतृक-धन्धों को अपनाना नहीं चाहते। यदि बढई, लुहार, सुनार, जुलाहा आदि के बच्चे बी० ए०, एम० ए० कर जाते हैं तो वे अपना सम्बन्ध भी इन धन्धों के साथ बताना हेय मानते हैं। बेकारी की समस्या भारत म ही नहीं है, वरन् अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस आदि विकसित देशों में भी जनता को इस समस्या का सामना करना पड रहा है। बेकारी अथवा बेरोजगारी से तात्पर्य है श्रम शक्ति की अपेक्षा कार्यक्षेत्र की संख्या का कम होना। बेकारी चार प्रकार की होती है —

(१) **वैयक्तिक बेकारी**–*इससे तात्पर्य है शारीरिक दुर्बलता, बीमारी,* काहिली अथवा उदासीनता।

(२) **यांत्रिक बेकारी**– उद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण के कारण द्रुत गति वाले यंत्र काम म लाये जाते हैं, जिनसे अधिक आदमियों की आवश्यकता

---

१. धर्मयुग ११ जनवरी, १९७०, पृ० ३१

२ पद्मा अग्रवाल – 'मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ' (द्वितीय संस्करण १९५५), पृ० २१०

नहीं रहती, जैसे कपड़ा बनाने के कारखानों, जूते बनाने वाली कम्पनियों के कारण सैकड़ों आदमी बेकार हो गये क्योंकि जिस काम को दस या बीस आदमी मिल कर करते थे, मशीनों के द्वारा एक दो ही उसी काम को अधिक आसानी से कर लेते हैं, जिससे बेकारों की संख्या बढ़ती है।

(३) **मौसमी बेकारी** – कुछ कार्य अथवा व्यापार ऐसे होते हैं जो विशेष ऋतुओं में ही चलते हैं – जैसे शक्कर की मिलों का काम, खेती का काम, आतिशबाजी का धन्धा बारहों मास नहीं चल सकता, इसलिये साल भर में कुछ महीने ही इन धन्धों में लगे व्यक्ति कार्य कर पाते हैं, बाकी समय बेकार रहते हैं।

(४) **चक्रिक बेकारी** – धन्धों में मन्दी तथा तेजी के कारण बहुत से लोग बेकार हो जाते हैं। युद्ध के समय बटन बनाने, मोजे बनाने आदि कई धन्धों में तेजी आ जाती है और युद्ध के पश्चात् करोड़ों लोग बेकार हो जाते हैं। युद्ध में अंग-भंग हो जाने के कारण भी लोग बेकार हो जाते हैं। सम्पूर्ण बेकारी को तीन भागों में बाटा जा सकता है:—

(१) ग्रामीण क्षेत्रों की बेकारी
(२) औद्योगिक क्षेत्रों की बेकारी
(३) शिक्षितों की बेकारी।

बेकारी का सर्वप्रथम प्रभाव परिवार पर पड़ता है। परिवार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण ग्रस्त हो जाता है। 'गोदान' में प्रेमचन्द जी ने ग्रामीण क्षेत्रों की बेकारी, ऋण ग्रस्तता तथा निर्धनता का सजीव वर्णन किया है। वाजपेयीजी के अनुसार 'उपन्यास में भारतीय ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों को उपस्थित कर ग्रामीण जीवन की स्थिति का उद्घाटन किया है।'[१] 'गोदान' की समस्या दुखी किसान के ऋण की समस्या है।[२] ऋण ग्रस्तता का कारण है धनाभाव और बेकारी के कारण ही धनाभाव की स्थिति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में रहन-सहन का स्तर गिर जाता है और परिवार के सदस्य हीन भावना से पीड़ित होने लगते हैं। यदि परिवार में कुछ व्यक्ति कमाने वाले हैं और एक-दो बेकार हैं तो उन्हें बड़ी ग्लानि होती है अपने पर कि दूसरों के टुकड़ों पर पड़े हैं। साथ ही घर पर बैठे रहने के कारण परिवार के सदस्यों में प्रायः संघर्ष होने लगता है। बेकारी का स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के मन पर चिन्ता का बोझ इतना बढ़ जाता है कि उसे जीवन निस्सार प्रतीत होने लगता है। धनाभाव के कारण खान-पान भी ठीक से

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी–'प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन,' (१९५६), पृ० १८९.
२. डा० महेन्द्र भटनागर–'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द' (१९५७), पृ० २१०.

नहीं होता। हारी बीमारी में इलाज नहीं हो सकता, जिससे स्वास्थ्य गिरता जाता है और व्यक्ति कई प्रकार की बीमारियों का शिकार हो जाता है। बेकारी के कारण बच्चों की देख-रेख, उनकी शिक्षा-दीक्षा भी ठीक से नहीं हो पाती, जिससे वे आवारा तथा अपराधी तक हो जाते हैं। परिवार में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिससे समाज में भी कई बुराइयाँ बढ़ने लगती हैं—जैसे आत्महत्या, चोरी, डकैती तथा अनैतिक तरीकों से धन कमाना आदि।

भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ लोग अधिकतर खेती पर निर्भर रहते हैं, वहाँ अर्द्ध बेकारी रहती है। अर्द्ध-बेकारी से तात्पर्य है गाँव में अधिकतर लोग खेती करते हैं या खेती से सम्बन्धित मजदूरी करते हैं, इसलिए साल में कुछ महीने तो व्यस्त रहते हैं बाकी समय बेकार रहते हैं। पहले कुछ गृह-उद्योगों में व्यस्त रहते थे, परन्तु मशीनों के आजाने से वे सब नष्ट हो गए हैं।

बेकारी का विकट स्वरूप आजकल नगरों में दिखाई देता है जिसे औद्योगिक बेकारी कहा जा सकता है। रोजगार के दफ्तरों के आँकड़ों द्वारा शिक्षित तथा अशिक्षित बेकारी का अनुमान लगाया जा सकता है। अत्यधिक यन्त्रीकरण के कारण लाखों लोग बेकार हो गए हैं, जो काम सैंकड़ों आदमी मिल कर करते थे उसे एक मशीन कर देती है। पूँजीपति यन्त्रों के उपयोग से उत्पादन बढ़ाकर सम्पन्न तथा धनी हो रहे हैं और गरीब श्रमिक बेकारी से पीड़ित हैं। यही कारण है कि गांधीजी ने अत्यधिक यन्त्रीकरण का विरोध किया था। गाँवों के बेकार लोग भी शहरों में कमाने के लिये जाते हैं, परन्तु जनसंख्या के बाहुल्य के कारण वहाँ पहले से ही बेकारी की समस्या विषम होती है, इसलिए उन्हें कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। 'गोदान' का गोबर धन्धे की तलाश में भागकर शहर आता है। हिमांशु राय के उपन्यास 'नदी फिर बह चली' का जगन्लाल शहर कमाने के लिये जाता है और बुरी संगति में पड़ कर शराब पीने लगता है। गाँवों से धन्धे की तलाश में भागकर आए हुए लोग शहरी चमक-दमक से प्रभावित होकर कई प्रकार की बुराइयों का शिकार हो जाते हैं।

आजकल अशिक्षित बेकारी से भी अधिक शिक्षित बेकारी पाई जाती है। हजारों की संख्या में बेकार इन्जीनियर आजकल अमेरिका जैसे विकसित देश में भी पाये जाते हैं। यही हाल भारत का है। आने वाले दो तीन वर्षों में यही हाल डाक्टरों का होने वाला है। शिक्षित बेकारी अशिक्षित बेकारी से भी भयानक है, क्योंकि बुद्धिजीवी यदि भूख की ज्वाला से पीड़ित रहेगा तो देश का विकास नहीं हो सकता, समाज का विघटन होने लगेगा, सरकार भी सुव्यवस्थित तरीके से कार्य नहीं कर सकेगी।

शिक्षित व्यक्ति की बेकारी उसमें गहन निराशा को भर देती है और पूरे परिवार को इसकी कीमत चुकानी पड़ती है। नरेश मेहता के उपन्यास 'यह पथ बन्धु

था' के नायक श्रीधर को अपनी मान्यताओं तथा ईमानदारी के लिए नौकरी से अलग होना पड़ता है और वह घर छोड़ कर चला जाता है। वहाँ भी उसे सफलता नहीं मिलती। जीवन की भटकन शुरू से अन्त तक श्रीधर के जीवन में है, वह बेकारी तथा दरिद्रता का शिकार है। वह सोचता है – "हममें प्रत्येक क्षण हमारा स्वत्व ही जाने यहाँ, किसलिए, किसके लिए टूट रहा होता है, कौन जाने कल क्या होगा।"[1] श्रीधर, अभावग्रस्त परिस्थिति के कारण अपने जीवन को निरर्थक समझता है। मरो (पत्नी), निरन्तर जीवन की कटुता से जूझते-जूझते थक कर चिरनिद्रा में सो जाती है। *उसकी निष्प्राण द्युति को देख कर वह चीख उठता है –' सब व्यर्थ हो गया* श्रीधर, सब व्यर्थ हो गया।"[2]

जीवन के लिए दोनों समय रोटी की प्राप्ति आवश्यक है। उसके लिए कोई साधन उपलब्ध हो, जिसके द्वारा वह जीविकोपार्जन कर सके। जब व्यक्ति को कोई सामाजिक विधि से धनोपार्जन का मार्ग नहीं सूझता तो वह असामाजिक तरीके से धन प्राप्त करने की चेष्टा करता है। समाज में अधिकतर अपराध, व्यक्ति पेट की ज्वाला से पीड़ित हो कर करता है। "जिस आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में आदमी को दो समय रोटी प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त नहीं उसमें, उसकी मुकाबले की दौड़ में – आपाधापी की धकापेल में गरीब, कमजोर और बेसहारा पिसेंगे।"[3] गरीबी और बेकारी की अवस्था में बच्चे अपराधी हो जाते हैं। कृष्ण चन्दर के उपन्यास 'दादर पुल के बच्चे' में ऐसे बच्चों का चित्रण किया गया है जो गरीबी और बेकारी के शिकार हैं। 'बम्बई में पूरे भारत की तरह बच्चे, गरीबों के बच्चे बे-माँ-बाप के बच्चे, उठाए हुए बच्चे वही सब कुछ करेंगे जो उनके भूखे माँ-बाप करेंगे। वे गंदे रहेंगे, गालियाँ बकेंगे, चोरी करेंगे, जुआ खेलेंगे, औरतों की दलाली करेंगे और शराब का तस्कर व्यापार करेंगे और जब करने को कुछ भी न मिलेगा और भूख उन्हें भूखे भेड़िये की तरह अन्दर से झकोड़ेगी तो वे खून भी करेंगे– टकों और सिक्कों के लिये।"[4]

उपन्यास में भगवान एक बच्चे का रूप धर कर बम्बई भर के सभी वर्गों के बच्चों के पास जाते हैं, जहाँ उन्हें जीवन के विभिन्न चित्र दिखाई देते हैं और भगवान को भी भिखारी, आँखें फोड़ कर अन्धा करके भीख मंगवाना चाहता है।

कभी-कभी सामाजिक, आर्थिक विषमताएं बेकार और निर्धन व्यक्ति को अपराधी बनने के लिये विवश करती हैं। इसी का वर्णन बंगला लेखक ताराशंकर बन्द्योपाध्याय ने अपने उपन्यास 'गणदेवता' में—किया है। देबू सोचता है —"जमाट

१. नरेश मेहता – 'यह पथ बन्धु था', पृ० १६६.
२. वही, पृ० ५६३
३. कृष्ण चन्दर – 'दादर पुल के बच्चे' भूमिका पृ० 'ग' (प्र० स० १९७०),
४. वहीं, भूमिका पृ० 'ग'.

बस्ती (डाका डालने के लिये इकट्ठा होना) करने वाले चाहे भल्ल हों, चाहे हाड़ी (दोनों जातियां हैं) या कि मुसलमानों की तरह के लोग—उसमें उनका अपराध जैसा सत्य है उससे भी बड़ा सत्य है भूख ग्रन्न की बेतरह कमी अपराध करने वाले लोग समाज के स्थायी वाशिन्दे हैं। बारहों महीने वे और दुर्योग, अघे।—लेकिन यह अपराध सदा नहीं करते—खास करके कार्तिक से फाल्गुन तक डकैती नहीं होती। कार्तिक से फाल्गुन तक यहाँ सबकी हालत अच्छी रहती है। उस समय ऐसा घृणित पाप करना तो दूर रहा, ये लोग व्रत करते हैं, पुण्य की कामना से खुशी-खुशी उपवास करते हैं—अपराध वृत्ति से भी बड़ी है, अभाव की ज्वाला।"[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि धनाभाव के कारण अपराध वृत्ति जागृत होती है। चाहे पुश्तों में किसी ने चोरी डकैती न की हो, ऐसा कोरा आदमी भी अभावग्रस्त होने से इस ओर प्रेरित हो जाता है। तीनकौड़ी जो डकैती को बहुत बुरा मानता है, भूखों मर जाना उचित समझता है, भूख और गरीबी से पीड़ित होने पर उन्हीं लोगों का साथ देता है जिन्हें यह कृत्य करने से रोकता है। भीख माग कर कब तक पेट पाले। वह ठाकुर है, भीख नहीं माग सकता।

बेकारी से गरीबी आती है। व्यक्ति ऋण ग्रस्त हो जाता है और कोई भी रास्ता न सूझने पर अपराधी तक बन जाता है और आत्महनन करता है या आत्महत्या। बेकारी की समस्या आजकल बड़ी विषम है। इसका कारण है जनसंख्या की वृद्धि और दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति। जो भी नवयुवक या नवयुवती पढ़ कर निकलते हैं नौकरी की खोज में लग जाते हैं। वे किसी भी क्रियात्मक व्यवसाय को चलाने में असमर्थ होते हैं। सरकार द्वारा बेकारी दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। 'वर्क तथा ओरिएन्टेशन केन्द्र' बनाये गये हैं, जहां व्यक्ति अपने योग्य स्वयं कार्य ढूढ सके। दिल्ली, काला मेसरी (केरल) तथा कल्याणी (पश्चिमी बंगाल) में इस प्रकार के केन्द्र बेकारों की सहायता के लिये काम कर रहे हैं। परन्तु जनसंख्या की वृद्धि के कारण फिर भी सभी लोगों को रोजगार नहीं मिल पाता। सरकार परिवार नियोजन द्वारा इस पर भी भरसक नियन्त्रण करने का प्रयास कर रही है परन्तु समस्या अभी भी विकराल रूप धारण किये हुए है।

निर्धनता :

बेकारी के अनुरूप निर्धनता भी सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से निर्धनता का अर्थ स्पष्ट करते हुए गिलिन एण्ड गिलिन ने कहा है—"निर्धनता व्यक्ति की वह दशा है, जिसमें वह अपर्याप्त आय अथवा विवेकहीन व्यय के कारण जीवन का स्तर ठीक नहीं रख पाता जिससे उसकी मानसिक तथा शारीरिक कुशलता बनी रहे तथा अपने आश्रित व्यक्तियों को सामाजिक स्तर के

---

१. ताराशंकर बन्धोपाध्याय—'गणदेवता', पृ० ३८५-८६.
—अनुवादक हंसकुमार तिवारी (१९६७).

अनुसार कार्य करने के योग्य बना सके।''[१] निर्धनता की मार्मिक झाँकी हमें 'गोदान' में मिलती है। 'गोदान का प्रारम्भ, एक ग्रामीण निर्धन किसान होरी के दर्दनाक परन्तु यथार्थ जीवन को लेकर होता है।'[२] जिसमें होरी तथा उसके परिवार को अपार कष्ट वहन करना पड़ता है। उपन्यास में आर्थिक विपन्नता का जो स्वरूप प्रस्तुत हुआ है वस्तुतः वही गोदान के सृजन का कारण है।[३] होरी जन्म भर दरिद्रता के पंक से उभर नहीं पाता। ''किसान बने रहने की लालसा वाला होरी अन्त में मजदूर ही रह जाता है।''[४] और अन्त में सुतली बेच कर लाये बीस आने पति के ठंडे हाथ पर रख कर धनिया कहती है— न घर में बछिया है, न गाय, न पैसा—यही इनका गोदान है।''[५] ''निर्धनता के पाश में जकड़े परिवार का ऐसा मार्मिक चित्रण है। निर्धनता भी दो प्रकार की होती है – पूर्ण निर्धनता तथा सापेक्ष निर्धनता। पूर्ण निर्धनता में व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि की पूर्ति भी नहीं कर पाता और अभावग्रस्त जीवन के कारण उसकी जिजीविषा तीव्रता से क्षय हो जाती है, जिसका चित्रण प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में हुआ है। होरी दोनों समय अपने बच्चों को भोजन भी नहीं खिला पाता। बड़ी कन्या के विवाह के लिये उसे भावी दामाद से दो सौ रुपये लेने पड़ते हैं, जिसके लिये वह अपने को अपमानित समझने लगता है, उस धन को चुकाने का अथक परिश्रम करता है और ''अन्त में इसी परिश्रम के दुर्वह भार से पिस कर काल को प्राप्त होता है।''[६] इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'जहाज का पंछी' में नायक को अपनी जीविका के लिये बहुरूपिये की तरह कई पार्ट अदा करने पड़ते हैं – कभी धोबी के यहाँ काम करता है, कहीं रसोइया बनता है तो कहीं मास्टर।

सापेक्ष निर्धनता में व्यक्ति केवल जीवन निर्वाह की अपेक्षा उच्च स्तर अथवा सम्भ्रान्त जीवन स्तर बनाने में अपने को असमर्थ पाता है। उसके लिये कभी-कभी बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। जो वह नहीं है, वही दिखावा करना चाहता है। 'गबन' में प्रेमचन्दजी ने इसी का चित्रण किया है। जालपा का उसका पति रमानाथ अपने सीमित साधनों तथा धनाभाव से अवगत नहीं कराता और उसके आभूषणों की निरन्तर माँग की पूर्ति के लिये ऋणजाल में बंध जाता है। आर्थिक असमर्थता के कारण वह लघुता की भावना से पीड़ित है – हीन भावना पर आवरण डालने के लिये झूठ बोलता है बहाने बनाता है, आत्मप्रवंचना तथा पर-प्रवंचना के भंवरजाल में उलझता

---

१ गिलिन एण्ड गिलिन – 'कल्चरल सोशियालोजी'

२. डा० त्रिभुवनसिंह – 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थ' (चौथा संस्करण संवत् २०२२ वि०), पृ० २१२.

३. लक्ष्मीकान्त सिन्हा – हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास, पृ० २१५.

४. वही, पृ० २१७

५. प्रेमचन्द – 'गोदान' (बारहवां संस्करण), पृ० ३६४

६ सुषमा धवन – हिन्दी उपन्यास, पृ० ५०.

जाता है।"[1] "रमानाथ में मध्यवर्गीय तरुणों की भाँति अपनी स्थिति को बढ़ा-चढ़ा कर कहने और सुनने की प्रवृत्ति थी।"[2]

अश्क जी के उपन्यास 'गिरती दीवारें' का चेतन भी आर्थिक विषमताओं का शिकार है, मध्यवर्गीय स्थिति बनाये रखने के लिये उसे निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है।

गिलिन और गिलिन ने निर्धनता के कारण वैयक्तिक अक्षमता, भौतिक पर्यावरण, सामाजिक संगठन युद्ध आदि बनाये हैं। वैयक्तिक अक्षमता में शारीरिक, मानसिक दुर्बलता जन्म से या दुर्घटना आदि से विकलांग हो जाने से धनोपार्जन में असमर्थ होने के कारण व्यक्ति निर्धन हो जाता है। कभी-कभी जीवन की निराशा, कुंठा व्यक्ति को निष्क्रिय बना देती है, वह कुछ काम करने का साहस ही नहीं कर पाता। लम्बे समय से किसी बीमारी से पीड़ित होने पर व्यक्ति में उत्पादन की क्षमता नहीं रहती और वह निर्धनता का शिकार हो जाता है।

निर्धनता के लिये भौतिक पर्यावरण भी उत्तरदायी होता है। भूमि का उपजाऊ न होना, सिंचाई के साधनों की कमी, जैसे राजस्थान में अधिक रेगिस्तानी इलाके में बहुत गरीबी है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'परती परिकथा' उपन्यास में परती परी धरती के कारण बिहार की विषम आर्थिक स्थिति का चित्रण है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में अत्यधिक गरीबी है, जिसका कारण जनसंख्या का घनत्व तथा अधिकतर लोगों का खेती पर निर्भर होना है, जिसके कारण साल के कुछ महीने तो उनके पास काम रहता है बाकी समय बेकार रहते हैं। बेकारी निर्धनता का मूल कारण है। अत्यधिक बर्फीले देशों में भी कार्य करना कठिन हो जाता है जैसे साइबेरिया में साल के बारहों महीने बर्फ जमी रहती है फलतः वहाँ बड़ी कठिनाई से लोग भोजन जुटा पाते हैं। बाढ़, दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, युद्ध आदि में लोग निर्धनता के शिकार हो जाते हैं। अमृतलाल नागर तथा रांगेय राघव के उपन्यास क्रमशः 'महाकाल' तथा 'विषादमठ' में बंगाल के दुर्भिक्ष का सजीव वर्णन है जिसने द्वितीय महासमर के अन्तराल में जीवन को त्रस्त एवं अस्त-व्यस्त कर दिया था, जब यथाशक्ति लोगों ने चावल एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया था और खेतीहर मजदूर भूख से जूझने और मरने लगा था, भीख माँगने को विवश हुआ, जब स्वर्णग्रामी भूख ने सतियों को वेश्या बनने के लिये बाध्य किया।"[3] "अकाल सवा आया रोटी गायब हो गई मगर औरत तिनके तिनके पर आ बैठी। भले घर की बहू-बेटियाँ भी भूख की ज्वाला शान्त करने के लिये पतन का मार्ग अपनाती हैं।"[4] ऐसी स्थिति में नैतिकता का नग्न नृत्य हो रहा था। प्रेम, मानवीय महानुभूति, स्नेहपूर्ण सम्बन्ध खोखले पड़ चुके थे।

---

१ सुषमा धवन – हिन्दी उपन्यास पृ० २७

२. डा० सुरेश सिन्हा – हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास पृ० १८५.

३. सुषमा धवन – हिन्दी उपन्यास पृ० ६२

४ रांगेय राघव – 'विषाद मठ' (१९५५) पृ० २०३.

दैवी घटनाओं तथा सामाजिक-राजनीतिक विप्लव के कारण निर्धनता और बेकारी की समस्या और भी विषम हो जाती है। यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' में विभाजन के समय की विभीषिकाओं का चित्रण है। उपन्यास में आर्थिक शोषण की समाप्ति, उत्पादन पर समानाधिकार, वर्ग वैषम्य की समाप्ति तथा सबको विकास करने के समान अवसर का चित्रण है।"[1] जहाँ तक विभाजन की घटनाओं के दृश्यों तथा परिणामों का सम्बन्ध है, इनमें जीवन का वास्तविक तथा भीषण रूप ही अधिक उभरा है।"[2]

निर्धनता व्यक्ति को पतन के लिए कभी कभी विवश करती है, जिससे आत्मा का हनन होता है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'सेवा सदन' में मध्य वर्गीय परिवार की विषमता का चित्रण है। "दरोगा कृष्ण चन्द्र ईमानदार व्यक्ति थे परन्तु आर्थिक विषमताओं के चलते जवान लड़कियों के विवाह के लिये अनेक दुश्चिन्ताएँ सहनी पड़ती हैं।"[3] अपनी विवशावस्था के कारण विवश होकर कृष्ण चन्द्र घूस लेते हैं, पकड़े जाते हैं और जेल होती है। बेटी सुमन का विवाह पन्द्रह रुपये कमाने वाले बाबू के साथ होता है परन्तु कुछ समय बाद आर्थिक कठिनाई के कारण दोनों में खीझ और गलतफहमियाँ बढ़ती जाती हैं और एक दिन घर से निकाल दी जाती है और भोली बाई के कोठे पर पहुँच जाती है।

निर्धनता से पीड़ित अशिक्षित मानव के पास कोई विकल्प नहीं रहता, वह या तो आत्महत्या करने को विवश होता है अथवा पतन के गर्त में गिर जाता है। शिक्षा के प्रसार ने व्यक्ति को विवशावस्था से लड़ने का साहस दिया है, वह जिस क्षेत्र में भी कार्य करने की क्षमता रखता है, उसी में कार्य करके धनोपार्जन करके सम्मानपूर्वक जीने का प्रयास करता है। आज आर्थिक विषमताओं के कारण तथा कमरतोड़ महंगाई के कारण पुरुष अकेले गृहस्थी का भार वहन नहीं कर सकता, इसलिए स्त्रियाँ भी सहधर्मी बन कर भार बँटा लेने का प्रयास करती हैं। "किसी ज़माने में डाक्टरनी और मास्टरनी बनना भले फैशन रहा हो, परन्तु आज लोगों की हालत बद से बदतर हो गई है।"[4] इसलिये आज समाजशास्त्र में जिसे पूर्ण निर्धनता तथा सापेक्ष निर्धनता कहा गया है, दूर करने के लिये मानव संघर्षशील है।

'अमृत और विष' में रानी की माँ, मशीन चलाकर अपना तथा बच्चों का निर्वाह करती है। गरीबी, अमीरी का द्वन्द्व शायद उसी दिन से प्रारम्भ हो गया था, जब मानव ने सभ्य तरीके से रहना सीखा था। मार्क्स ने कहा था – "संसार में दो ही वर्ग प्रमुख हैं – शोषक और शोषित, पूँजीपति और सर्वहारा।" आज के

१. डा० सुरेश सिन्हा – हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास, पृ० ४६२.
२. इन्द्रनाथ मदान – 'आज का हिन्दी उपन्यास', पृ० ८८.
३. लक्ष्मीकान्त सिन्हा – हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास, पृ० १८९.
४. राजेन्द्र यादव – 'उखड़े हुए लोग', पृ० १२.

भौतिकवादी युग मे धनी-निर्धन की खाई और गहरी होती जा रही है। "पूँजीपतियों ने इतना लाभ कमाया कि राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक शक्ति उनके हाथ मे केन्द्रित हो गई।"[1] जिनके पास धन है, वे उसे उत्पादन कार्यों मे लगाकर लाभ उठा रहे हैं, निर्धन श्रम को बेच कर भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर पाते, फलतः धनी और अमीर होते जा रहे हैं, निर्धन और गरीब हो रहे हैं। आर्थिक विषमता के कारण ही स्त्रियो की अवस्था बडी हीन थी। यशपाल ने कहा है "कोई स्त्री विवश हो वेश्या बनती है, कोई विवश हो पतिव्रता।"[2] यशपाल ने 'मनुष्य के रूप' मे विवाह को ही नही, प्रेम को भी आर्थिक समझौता माना है। निर्धन व्यक्ति का समाज, सम्मान नही करता और अमीर लोग उन्हे निम्न दृष्टि से देखते हैं। रागेय राघव के उपन्यास 'घरौंदे' मे लवंग, भगवती प्रसाद को चाहे वह सभ्य शिक्षित है, परन्तु निर्धन होने के कारण हेय समझती है। वह कहती है 'मैंने इसलिये तुम्हें नौकर रखा है कि तुम नौकरो की तरह सामने बैठने का दुस्साहस न करके खडे रहो . नही तो तुम ही नही तुम्हारी माँ भी भीखारिन बनकर दर-दर ठोकर खायगी।'[3] भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'तीन वर्ष' मे रमेश को उसकी प्रेयसी इसलिये स्वीकार नही करती क्योंकि वह निर्धन है। आज जाति प्रथा के स्थान पर श्रेणी बोध पाया जाता है, वह भी धनी-निर्धन के सामाजिक स्तर पर आधारित है।

आजकल सरकार की ओर से कई प्रकार की योजनाएँ बनाई जा रही हैं, जिनसे बेकारी तथा निर्धनता, जो मानवता के शत्रु है, उन पर विजय पाई जा सके। समाजवादी समाज की स्थापना की भावना का आधार यही है कि सभी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके-रोटी रोजी के लिये मानव पीडित न रहे।

(ग) द्वैध व्यक्तित्व तथा मानसिक कुंठाएँ

द्वैध व्यक्तित्व के व्यक्ति "सब समाजों मे एवं सभी वर्गों मे हर समय मिलते है।"[4] आज उपन्यासो मे व्यक्ति तथा उसके सामाजिक पर्यावरण को महत्त्व दिया जाने लगा है, क्योंकि व्यक्तित्व पर सम्पूर्ण पर्यावरण की छाप होती है। "विचार और व्यक्तित्व दोनों एक साथ ही विकसित होते हैं और दोनों का लक्ष्य उन अतल स्पर्शी, क्षणो को प्राप्त करना है, जिनमे प्रेरणाओ का जन्म होता है।"[5] इन संवेगात्मक प्रेरणाओ से व्यक्तित्व निर्मित होता है। मनुष्य मे कोमल तथा कठोर

---

१ चण्डीप्रसाद जोशी – 'हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन', पृ० ३२१
२. यशपाल – 'पार्टी कामरेड' (प्रथम सस्क० १९४६), पृ० ३२.
३. रागेय राघव – 'घरौंदे' (प्र० स० १९४६), पृ० २५६
४ डा० बचन – आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र विकास (प्र० स० १९६५), पृ० ६२.
५. वही, पृ० ४७.

प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित जीवन के घात-प्रतिघातों का व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। उसी के अन्तरग रूप को युगीन उपन्यासकार मुखरित करने का प्रयास करता है। आज मानव ने एक साथ कई रूपों में जीना सीख लिया है। जैनेन्द्र का उपन्यास 'सुनीता' व्यक्ति केन्द्रित है। जैनेन्द्र ने गाँव, खेत, खुली हवा और सामाजिक जीवन विस्तारों को छोड़ कर शहर की गली और कोठरी की सभ्यता को व्यक्ति के अभ्यन्तर जीवन की गुत्थियों और गहराईयों को उपन्यास का विषय बनाया।"[1] इससे पूर्व उपन्यासों में व्यक्ति की अपेक्षा जातीय उद्घाटन अधिक था। प्रेमचन्द के पात्र भी अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को रखते हुए जाति अथवा वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते थे। इसमें युग की वाणी बोलती-सी प्रतीत होती है।"[2]

आज का मानव अपने प्रति ईमानदार नहीं है, वह दोहरी जिन्दगी जीता है। आज द्वैध व्यक्तित्व प्रायः सभी श्रेणी के लोगों में पाया जाता है। द्वैध व्यक्तित्व से तात्पर्य है दुहरा चरित्र अर्थात् बाहर कुछ स्वरूप हो व्यक्ति का, अन्दर कुछ और। एक ही व्यक्ति, जो मद्यपान का विरोध करता है, स्त्री के सम्मान की दुहाई देता है, वही घर में शराब पीता है, स्त्री को पीटता है। उदारता और त्याग की बातें करने वाला व्यक्ति हर समय दूसरे के धन का अपहरण करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की विडम्बना समाज, धर्म और राष्ट्र की सेवा करने वाले अधिकांश व्यक्तियों में पायी जाती है। दोहरी जिन्दगी जीने वाला व्यक्ति अपने ऊपर एक नकाब-सी डाले रहता है, जिसमें बीभत्स छिपा रहे। ऐसे व्यक्ति दम्भी होते हैं, दूसरे के प्रति सच्ची श्रद्धा न होने पर भी ऊपर से सम्मान प्रदर्शित करते हैं, कुछ द्वैत व्यक्तित्व के लोग दूसरों को धोखा देकर ठग कर सिर्फ अपना स्वार्थ साधते हैं। ऐसे दम्भी प्रवृत्ति के लोग बड़े चतुर होते हैं दूसरों की सेवा करने में सदा तत्पर दिखाई देते हैं। उपदेश देने वाले और ज्ञान बघारने वाले व्यक्तियों की दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण और चपल होती है। व्यक्तित्व के सामाजीकरण में मानसिक, पारिवारिक सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योग होता है। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मनुष्य के चरित्र में सद्गुण और दुर्गुण उभर कर सामने आते हैं। उपन्यासों में प्रायः दो प्रकार के चरित्र परिलक्षित होते हैं – व्यक्तित्व प्रधान तथा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले। शरद का श्रीकान्त और अज्ञेय का शेखर वैयक्तिक विशेषताओं के कारण सामान्य पात्रों से सर्वथा पृथक् हैं।[3] 'गिरती दीवारें' का चेतन, 'गोदान' का होरी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'गोदान' का प्रत्येक पात्र एक वर्गविशेष का सामान्य

---

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १०६.

२. त्रिभुवनसिंह – हिन्दी उपन्यास और यथार्थ (च० सं० सं० २०२२ वि०), पृ० २११.

३. [illegible] गुप्त – 'साहित्य विवेचन' (१९५२), पृ० १६१.

प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है।[1] प्रेमचन्द के अधिकांश पात्र व्यक्तित्व न होकर वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।[2]

व्यक्तित्व प्रधान पात्रों मे द्वैध व्यक्तित्व अधिकतर दिखाई देता है। जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' का हरिप्रसन्न और सुनीता तथा अज्ञेय का शेखर विलक्षण पात्र है। शेक्सपियर की लेडी मैकबेथ' भी वैसी ही है।[3]

आज आर्थिक-सामाजिक विषमताओं के कारण भी व्यक्ति को दोहरी जिन्दगी जीनी पड़ती है, जिसमे वह कुंठाग्रस्त हो जाता है जिसका चित्रण अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, देवराज, प्रभाकर माचवे रमेश बख्शी आदि ने किया है। अज्ञेय ने व्यक्ति के आन्तरिक ऊहापोह को समझने की कोशिश की है।[4] शेखर महत्वादी है, जीवन की विफलताओं के कारण कुंठाग्रस्त हो जाता है। वह सोचता है – 'मैं एक छाया हूं, एक स्वप्न, एक निराकार आशीश, एक वियोग, एक रहस्य भावना से भावना तक भटकता हुआ विचार – हर जगह आग देता हुआ और स्वयं ज्वाला मे झुलसा हुआ जल उठता हुआ।''[5] 'नदी के द्वीप' उपन्यास मे भुवन-रेखा एक दूसरे को चाहते हुए भी विवाह गौरा और हेमेन्द्र से करते हैं, फिर भी एक दूसरे को भूल नहीं पाते। ''भुवन गौरा के स्नेह तन्तुओं से बंध कर भी रेखा के त्याग एवं स्नेह को भुला नहीं पाता, चाहे वह कितना ही धुंधला पड गया है।''[6] रेखा भी भुवन को लिखती है – ''मेरे लिये श्रीमतीत्व कोई महत्त्व नहीं रखता। मन से आज भी तुम्हारी ही हूं।'' एक दूसरा पात्र है,चन्द्रमाधव जिसके चरित्र की असंगतियों को अत्यन्त जीवन्त ढंग से उपस्थित किया है।[7] उक्त पात्र द्वैत व्यक्तित्व लिये हुए हैं।

इलाचन्द्र जोशी चरित्र के अन्तर मे प्रवेश कर उसकी प्रवृत्तियो, दुर्बलताओं और सबलताओं का उद्घाटन करते हैं।[8] मानसिक कुंठाओ मे ग्रसित पात्रो में निराशावाद परिलक्षित होता है। 'निर्वासित' उपन्यास मध्यवर्गीय जीवन की कहानी है, इसमे मध्यवर्ग के कुंठाग्रस्त व्यक्ति के जीवन की व्यर्थता का कारुणिक चित्र खींचा गया है। महीप, नीलिमा आदि ऐसे ही पात्र हैं।[9]

---

१. डा० त्रिभुवनसिंह – 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थ' पृ० २१३.
२. वहीं, पृ० २०७.
३. डा० पद्मा अग्रवाल – 'मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएं' (द्वि० सं० १९५५, पृ० ७७.
४. डा० देवराज उपाध्याय – 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान', पृ० १९९
५ अज्ञेय – 'शेखर : एक जीवनी' पृ० २४८ (दूसरा भाग).
६. इन्द्रनाथ मदान – 'आज का हिन्दी उपन्यास', पृ० ५१.
७. आलोचना (१३), पृ० १३५.
८. नन्ददुलारे वाजपेयी – 'नया साहित्य नये प्रश्न', पृ० १८.
९. डा० प्रेम भटनागर – 'इलाचन्द्र जोशी : साहित्य और समीक्षा', (१९५९) पृ० १५.

डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' में मध्यवर्गीय चरित्रों के नष्ट होते आदर्शों का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। उपन्यास की नायिका साधना, पति का पूर्ण-स्वीकरण ध्यान रखती है, लेकिन उसका मन भीतर ही भीतर विरोध करता है – 'यह नारी हृदय की कैसी दुर्बलता है क्यों वह पुरुषविशेष की पसंद या नापसंद की इतनी फिक्र करती है ?'[1] वह पति को परस्त्रीगमन में रत देख क्षोभ से भर उठती है। पति की दोहरी जिन्दगी उसे कुंठा से भर देती है। वह सोचती है – 'ऐसे व्यक्ति के साथ, जो अपनी नीच प्रवृत्ति की इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति कर चुका है रहूं और रहूँ ही नहीं, उसे प्यार करूँ, उसके लिये उसके साथ जब उसका हुक्म हो, तो उसकी कामना तृप्ति के लिये लेटूँ।[2] साधना को यह स्वीकार करना ग्लानि होती है यह व्यापार उसे व्यभिचार प्रतीत होता है। आखिर एक वेश्या क्या करती है, वह अपने पालन-पोषण के लिए बिना प्रेम की प्रेरणा के अपना शरीर समर्पित करती है।[3] साधना को यह व्यभिचार का ईंधन कचोटता है, उसे यह सम्बन्ध आत्मा का हनन लगता है। उपन्यास सम्पत्ति युग की संस्कृति का, उथल-पुथल का सजीव और मार्मिक चित्र उपस्थित करता है।[4]

रमेश बक्शी के उपन्यास 'बैसाखियों वाली इमारत' में पति, सुन्दर पत्नी के होते हुए अन्य स्त्रियों से सम्बन्ध रखता है। पत्नी इसे स्वीकार नहीं करती, वह कहती है – 'घर का रोग हो, रोज रात को किसी वेश्या के कोठे पर चले जाइये। आप घर को धर्मशाला समझ सकते हैं, बीवी को वेश्या नहीं समझ सकते।''[4] पुरुष के द्वैध स्वरूप को नारी सहन नहीं कर पाती, इसीलिये प्रभाकर माचवे के उपन्यास 'एक नारा' की नायिका पुरुषों की उच्छृंखलता के कारण विद्रोही हो जाती है। वह कहती है – ''पुरुष का प्रेम हथेली के नीचे सार है – उसका प्रेम जहरीली भोग-लिप्सा मात्र है।''[5]

'ड्रामा' उपन्यास की आभा, परित्यक्त नारी है। वह पुरातन और नवीन मान्यताओं के बीच, मझधार में नौका की भांति डोलती रहती है।[7]

उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'शेष अशेष' की डा० शेफाली कहती है – 'पूँजीवादी मनुष्य चाहे जितना परोपकारी बने, दयालु बने, पर अपना स्वार्थ टकराने पर अपना रूप भूल जाता है, राक्षसी वृत्तियाँ उसे दबोच लेती हैं।''[8] पूँजीवादी रामसोहन

---

१. देवराज, 'पथ की खोज', पृ० २२०.
२. वही, पृ० २२३.
३. वही, पृ० २२ .
४. सुषमा धवन – 'हिन्दी उपन्यास', पृ० २५८.
५. रमेश बक्शी – बैसाखियों वाली इमारत', पृ० ४९–५०.
६. प्रभाकर माचवे – 'एक नारा', (१९५२).
७. सुषमा धवन – हिन्दी उपन्यास, पृ० २३०.
८. उदयशंकर भट्ट – डा० शेफाली पृ० २२६–२७.

अपने पति के अधिकार त्यागने के लिए तैयार नहीं, न ही उसने उसे एक पत्नी का सम्मान दिया है। शेफाली अपने जीवन्त व्यक्तित्व के कारण अपने ही प्रयास से डा० बन जाती है। वह मानवतावादी प्राणनाथ की ओर आकर्षित होती है परन्तु हिन्दू संस्कारों के बाध्य होने के कारण दुविधाग्रस्त हो जाती है। सामाजिक मान्यताएँ दूसरा विवाह करने की स्वतन्त्रता नहीं देती। वह प्रथम विवाह के बन्धन को तोड़ देना चाहती है। वह अपना दोहरा जीवन नहीं बनाना चाहती। वह सोचती है 'क्यों मैं उसे तोड़ नहीं सकती जो व्यर्थ एक दिखावे की तरह हुआ है? तोड़ दूँ और प्राणनाथ से विवाह कर लूँ या घुट घुट कर मरूँ।'[1] वह परित्यक्ता जीवन से विरक्त होकर समाज की रूढ़ मान्यताओं को तोड़कर प्राणनाथ से विवाह करना चाहती है। वह द्वैध जीवन से अपने में कुंठाओं को पाले नहीं रखना चाहती, वरन अपने व्यक्तित्व को अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयास करती है।

द्वैध व्यक्तित्व कुंठाग्रस्त होने के कारण उन्नति नहीं कर सकता जीवन का ऊहापोह उसे विभ्रम में डाले रहता है।

डा० धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' में चन्दर अपने आदर्श को स्थिर रखने के लिए कुंठा तथा निराशा से भर जाता है। वह अपनी भावनाओं को आदर्श की खोल से ढक लेना चाहता है, परन्तु गहरी उदासीनता उसे तोड़ देती है। सुधा ससुराल से लौटने पर चन्दर को टूटा हुआ देखकर चिढ़ा तोड़ने लगती है। दोहरी जिन्दगी से दोनों का व्यक्तित्व बिखरने लगता है। चन्दर के मन में मन्थन होता रहता है, "उसने बिनती की श्रद्धा का तिरस्कार किया है, पम्मी की पवित्रता भ्रष्ट की है और सुधा के पावन स्नेह का निषेध किया है। क्या यही उसके जीवन की साधना है! वह सुधा को खोकर मनुष्य से पशु बन गया है। सुधा का स्नेह उसे पशु से देवता बनाने की क्षमता रखता है।"[2] उसके ध्वस्त जीवन को सुधा का मार्मिक अन्त और भी वेदनायुक्त कर देता है।

जीवन प्रवाह में जब विषम परिस्थितियों से गतिरोध उत्पन्न हो जाता है, तब ऐसे समय में कोई मार्ग न सूझ पाने के कारण व्यक्ति का मानसिक द्वन्द्व उसमें निराशा तथा कुण्ठा का उद्रेक करता है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में मानसिक द्वन्द्व अधिक चित्रित है। भाव. के घात प्रतिघात एवं विचारों के ऊहापोह में सामाजिक पक्ष अधिक नहीं स्पष्ट हो पाता. पात्रों की सामाजिक विवशता उनके जीवन को पंगु कर देती है। कट्टो सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा तथा भुवनमोहिनी आदि नारी पात्रों को द्वैध के कारण पुरुष की अपेक्षा अधिक यातना सहनी पड़ी है। सत्यधन हरिप्रसन्न, प्रमोद, हरीश, जितेन जयन्त पुरुष-पात्र भी अन्तर्द्वन्द्व के शिकार हैं। कुंठाग्रस्त हैं।

---

१. उदयशंकर भट्ट—'डा० शेफाली', पृ० २१२

२ सुषमा धवन—'हिन्दी उपन्यास', पृ० २६०.

नारी-पात्रों में बुद्धि और हृदय का संघर्ष है। बुद्धि उन्हें पति तथा समाज की ओर मुड़ाती है हृदय प्रेमी तथा व्यक्ति की ओर ले जाता है।"[1] 'परख' में मूलतः आदिम प्रवृत्ति (अन्तस्) और बुद्धि, व्यक्ति और समाज, के संघर्षों को अंकित किया गया है।[2]

'सुनीता' उपन्यास की सुनीता के मन में पति श्रीकान्त तथा प्रेमी हरिप्रसन्न को लेकर द्वन्द्व चलता रहता है। दमित इच्छाओं का विस्फोट कृत्रिम प्रणालियों से होता है।[3] सुनीता में घर बाहर का द्वन्द्व चित्रित है।

'त्यागपत्र' में मृणाल का व्यक्तिगत द्वन्द्व तथा कुंठा चित्रित है। विवाह के बाद उसका मन पतिगृह में नहीं लगता। विवाहिता नारी की सामाजिक मान्यता एक ओर है, और स्वच्छन्द प्रेम का प्रकृत अधिकार दूसरी ओर। उसके इन शब्दों में "तू नहीं जानता प्रमोद कि मेरी शादी हो गई है', उसके मन का द्वन्द्व झलकता है। वह अपना विगत बता कर पतिनिष्ठ होना चाहती है परन्तु उसे प्रतिकार में पतित जीवन मिलता है। जीवन के कटु अनुभव उसे अति संवेदनशील बना देते हैं, परन्तु वह समाज को तोड़ना नहीं चाहती। वह मानती है—"समाज की नींव कुरेदने से कुछ लाभ नहीं, केवल नींव ही ढीली होगी।"[4] समाधान उसे कहीं नहीं दिखता। जैनेन्द्र के अनुसार 'त्यागपत्र' की कहानी जैसे दिल और दिमाग को चीरती हुई आगे बढ़ती है।"[5] कल्याणी डाक्टर है, परन्तु पति के संकीर्ण विचारों तथा आर्थिक कठिनाई के कारण दुविधाग्रस्त है। 'सुखदा' उपन्यास की सुखदा घर को छोड़ कर बाहर आती है, परन्तु विषम परिस्थिति में घिर जाने के कारण अस्वस्थ होकर क्षयरोग से पीड़ित हो जाती है। वह क्षयरोग से पीड़ित हो जाती है। 'सुखदा' उपन्यास में विवाह, प्रेम, अहिंसा की कुछ मूल समस्याओं का चित्रण है। कान्त विवाह पर विचार प्रकट करते हुए कहता है—'विवाह क्या चीज है? मैं अक्सर सोचता हूँ क्या वह स्वत्व को बन्धन में रख देता है स्वत्व का अपहरण कर लेता है?।"[6] उपन्यास में द्वन्द्व ग्रस्त स्थिति स्पष्ट रूप से सामने आती है। विवाह के सम्बन्ध में रूढ़ परम्पराओं और मान्यताओं का विरोध करने में नारी टूट जाती है साथ ही वह व्यक्तित्वहीन निर्जीव बनना भी नहीं चाहती। वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता चाहती है। यही द्वैध व्यक्तित्व सुखदा की समस्या है। सुखदा नारी-मन की कहानी है, जो बाहर आकर भी मन की दहलीज नहीं लाँघ पाती—बुद्धि जीतती है, हृदय रो देता है। यही द्वन्द्व-स्थिति 'सुखदा' में उभरी है। सुखदा के अन्तरंग को जैनेन्द्र दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक चोला पहनाते हैं तथा चेतना-प्रवाह की

---

१. सुषमा धवन—'हिन्दी उपन्यास', पृ० १७१.
२. वही, पृ० १७६.
३. नन्ददुलारे वाजपेयी—'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी', पृ० १२४
४. जैनेन्द्र—'त्यागपत्र', पृ० ३७.
५. डा० नगेन्द्र—'आस्था के चरण', पृ० ६१६.
६. जैनेन्द्र—'सुखदा', पृ० ९९.

नवीन पद्धति अपनाते हैं। सुखदा की आत्मपीड़ा से हम अन्त तक बन्धे रहते हैं। सुखदा के द्वैध व्यक्तित्व का कारण है वैवाहिक जीवन की सूक्ष्म मर्यादाओं का बन्धन तथा नये सामाजिक आदर्श (कार्यक्षेत्र की स्वतन्त्रता)। एक मात्र जगत के पात्रों की वेदना से हृदय रो उठता है, जो बुद्धि जगत में उपहास उपेक्षा के भागी हैं। सुखदा के लिए जैसे यह अग्नि परीक्षा ही जीवन है—'अपने' को पीड़ा देकर ही वह अपने से त्राण पा सकती है।"[1]

'विवर्त' की भुवनमोहनी जितेन से प्रेम करती है, परन्तु आर्थिक स्थिति के वैषम्य के कारण बैरिस्टर नरेशचन्द्र से विवाह हो जाता है। परन्तु चार वर्ष बाद जब वह (जितेन क्रान्तिकारी के रूप में मेल ट्रेन उलट कर घायल अवस्था में मोहनी के घर आता है तो वह पूर्व-प्रेम के वशीभूत उनकी सेवा शुश्रूषा करती है—उसे एक ओर नारीत्व की भावना और दूसरी ओर पत्नीत्व घेरे है। विफल प्रेम के कारण जितेन अपराध की राह पर चल पड़ता है, जिसके लिये मोहनी को आत्मग्लानि होती है—'सामाजिक दबाव मानसिक ग्रन्थि, भावात्मक विवर्त ही स्वभाव को विकृत बना देता है।'[2] "जैनेन्द्र के पात्र अन्तर्मुखी एवं किसी न किसी अन्तर्द्वन्द्व और घात-प्रतिघातों से अनुप्राणित रहते हैं।"[3]

विमल मित्र के 'अनुदित' उपन्यास 'बेगम मेरी विश्वास' में व्यक्तित्व का द्वैध बड़ा सटीक है। मराल, नवाब मिर्जा मुहम्मद तथा हतिमागढ़ की छोटी बहूरानी को बचाने के लिये मीर कासिम तथा मीर दाउद-जो नवाब के नौकर थे, परन्तु कालचक्र के कारण ही नवाब का हथकड़ी लगा कर हजरे में ले जा रहे थे—के पास जाती है। मराल नियति का कन्दुक है। छोटी बहू को प्रारम्भ से ही बचाने के लिये उस अपनी इच्छाओं का बलिदान करना पड़ता है। आज फिर उसके समक्ष कर्त्तव्य की पुकार है। मन से वह सभी बुराइयों से परे है, परन्तु तन देकर उन्हें बचा लेना चाहती है। वह अदृश्य से कहती है—'तुम मेरे सारे पापों को पवित्र बना दो भगवान! आज मेरा सारा कलक धो डालो। आज तुम्हारा ही नाम लेकर मैं संतानों की भोग्या बनूँगी।"[4] मराल कई रूपों में हमारे समक्ष आती है। उसका अन्त:करण गगा-सा निर्मल है। वह कह उठती है—"हे प्रलयकर! आज पाप का विनाश करने के लिये अपने अन्त करण की समस्त जाग्रत शक्ति से अपना बलिदान कर रही हूँ, इसे तुम पाप कहते हो तो मैं पापिन हूँ। इसे अगर तुम कलक कहो तो मैं कलकित हूँ।"[5]

---

१. डा० नगेन्द्र—'आस्था के चरण', पृ० ६२२

२. सुषमा धवन—हिन्दी उपन्यास, पृ० १९३

३. इलाचन्द्र जोशी—विवेचना, पृ० १२१.

४ विमल मित्र—'बेगम मेरी विश्वास', पृ० ६५९.

५. वही, पृ० ६६१

मराल के इस बलिदान का प्रतिकार कर किसी ने न लिया। इस प्रवंचना को आकाश, पवन और नक्षत्रों ने देखा, अतीत, वर्तमान और भविष्य ने देखा, अठारहवीं सदी के बीसों-तीस इस संधिक्षण के इतिहास ने देखा। सबों ने देख कर घृणा से मुँह फेर लिया। आसमान के नीचे बजरे के एक पटरे पर अचल-अचेतन प्राणलक्ष्मी पड़ी थी, बंगाल-बिहार-उड़ीसा की भाग्यलक्ष्मी की प्रतिमा-मरियम की सुन्दर साम्राज्य के कौर, चील, शकुन नाचने लगे थे।[1]

मराल जो मन से अनासक्त है, आत्मपीड़ा को सहकर अपना बलिदान करती है। तन-मन विभक्त के कारण मराल काया के साथ जलती चिता पर चढ़ जाती है, उसका मन-तन की कारा से परे है। "यह आज जीवन और मृत्यु की परिधि से परे एक अनादि-अनन्त लोक में अक्षर अस्तित्व का साक्षात्कार करने जा रही है। यथार्थ त्याग की वेदना भी सम्पूर्ण मुक्ति का आनन्द है। इच्छा हो रही थी एक बार फिर उस अगाध वेदना की अनुभूति मिले जिसमें विषाद का अवसान हो। हम सहज ही सुखी होना चाहते हैं, इसीलिये हमें तीव्र यन्त्रणा में छटपटाना पड़ता है लेकिन इस तरह मन, बुद्धि और अहंकार सबसे मुक्ति पाये बिना कैसे कह सकती हूँ कि तुम्हें पा, तुम्हें पाप का मूल्य चुकाये बिना तुम्हें पाना मेरे लिए व्यर्थ है इसीलिए हर बन्धन से मुक्त होकर ही मैं आज तुम्हारे साथ मुक्त हो रही हूँ। हे ईश्वर! मुझे मुक्त होने की शक्ति दो।"[2]

मराल तीन रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। 'बेगम, मेरी, बिस्वास' तीनों रूपों का सफल निर्वाह उस महिमामयी ने किया है। इसके व्यक्तित्व के द्वंद्व ने उसमें निराशा अवश्य भर दी है, परन्तु उसकी गति कुंठित नहीं हुई। यह मराल के व्यक्तित्व की विशेषता है, अन्यथा जहाँ व्यक्तित्व का द्वंद्व होगा वह कुंठाग्रस्त, अपने में कटा-कटा नैराश्य भाव धारण किये होगा।

धर्मयुग के अप्रैल अंक में प्रकाशित कहानी 'चोट के नीचे' में ऐसा ही चरित्र चित्रित है जहाँ रुचियों, विचारों के वैषम्य के कारण कहीं ऐक्य नहीं है। "पहले दिन की गाँठ ने ही दो प्राणों को एकाकार न होने दिया, किन्तु कुछ सफाई दिए साधन थोड़े ही वह दो बच्चों को जन्म देने में सफल हो गई, दोनों लड़के। गाँठ फिर भी नहीं घटी, एकान्त फिर भी नहीं घटा।"[3] "ऐसी वीरान जिन्दगी में किसी से कुछ कहने-सुनने के लिए वह तड़प उठी।"[4] यौन समस्याओं पर अंग्रेजी किताबें पढ़ने वाले पति की अपनी पूर्वाग्रह सारपूर्ण धारणाएँ थीं, जहाँ भावात्मक सम्बन्धों के तार बेमानी थे। पति के लिए पत्नी की सुन्दरता भी कोई माने नहीं रखती। वह

---

१. विमल मित्र—'बेगम मेरी विश्वास', पृ० ६६२.

२. वही, पृ० १०१६

३. शशिप्रभा शास्त्री—'चोट के नीचे', धर्मयुग १८ अप्रैल, १९७१, पृ० १७.

४. वही, पृ० १८.

सुन्दर लड़कियों को "बदजात और चरित्रहीन कहता है।"[१] परन्तु गाँव से आए सम्बन्धी के लड़के के लिए उसी स्त्री का व्यक्तित्व उदग, शिष्ट, परिष्कृत, स्नेहिल है। वह सोचता है—' कितना अपनत्व, ममत्व देने की सामर्थ्य है इस स्त्री में।"[२]

कभी-कभी परिस्थितियाँ व्यक्ति को अनबूझ बना देती हैं और उहापोह के विवर्त में उलझा व्यक्ति कुंठाओं से मुक्त नहीं हो पाता। मानव में आज जितनी विविधता है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी। यह भौतिकवादी युग की देन है। इसीलिए शान्ता भारद्वाज के अनुसार आज लोगों ने एक साथ अनेक रूपों में जीना सीख लिया है। वाह्य और आन्तरिक जीवन के बीच आज जितना फासला है, उतना शायद इसके पूर्व कभी नहीं रहा।'[३] यशपाल के उपन्यास 'मनुष्य के रूप' में सोमा के विविध रूप दिखाई देते हैं। वह प्रारम्भ में विधवा की दीन-हीन अवस्था में दिखाई देती है और धनसिंह की सहायता से ससुराल की यातनाओं से मुक्त होने का प्रयास करती है, "हर बार संकट से उबरने के लिए उसे अपने नारीत्व को दाव पर लगाना पड़ता है।"[४] सोमा को बरकत मुनली वाला और बैरिस्टर साहब सहारा देकर उसके तन-मन का विक्रय करते हैं। परन्तु सोमा पतित होकर भी अपनी कर्मठ शक्ति का परिचय देती है। वह उठने के लिए सतत प्रयास करती है। उपन्यास में यह चित्रित है कि मनुष्य एक ही जीवन में भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़ कर कितने रूप धारण करता है।[५]

परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति को बदलना पड़ता है, इसलिये कभी-कभी विभिन्न रूपों में वह अपना परिचय देता है।

(घ) नारी बनाम पुरुष : बहुविध सम्बन्ध और उपन्यास साहित्य में उनका प्रतिबिम्ब

'हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल, विकास और परिवर्तन का युग है।" आज की परिवर्तित परिस्थितियों में समाज के मूल्यों और आदर्शों के प्रति मोहसमाप्त हो रहा है। मानव इनकी उपयोगिता, अनुपयोगिता को तात्विक रूप से ग्रहण करने लगा है। संस्कारग्रस्तता उसे अब भ्रमित नहीं करती। परम्परागत नैतिक मापदण्डों को नकारने की क्षमता उसमें आने लगी है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में नवीन स्वर' मुखरित होने लगे हैं। अपने पर आरोपित नैतिकता से मुक्त होने का भी प्रयास दिखाई देने लगा है। नर-नारी सम्बन्धों में रूढ़िवादिता का ह्रास हो रहा है। नारी पुरुष की

---

१ शशिप्रभा शास्त्री—'चोट के नीचे', धर्मयुग १८ अप्रैल, १९७१, पृ० १७.
२ वही, पृ० १८
३ शान्ति भारद्वाज 'हिन्दी उपन्यास प्रेम और जीवन', पृ० २६४.
४ सुषमा धवन—हिन्दी उपन्यास, पृ० ३०१.
५ नन्ददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० २०४.

भोग्या और समर्पिता बन कर नहीं रहना चाहती। आर्थिक क्षेत्र में निर्भरता के कारण स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्थापना कर वह पुरुष की चिरकालीन परतन्त्रता से मुक्त होने का प्रयास कर रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि "प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हुए कि इसे साहित्यिक क्रान्ति का युग कह सकते हैं।"

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से नई विचारधाराओं का जन्म हुआ, जिसके दर्शन साहित्य की विधा उपन्यास में भी परिलक्षित होते हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया ने नर-नारी सम्बन्धों को अत्यधिक प्रभावित किया—"समस्त युग के कथा-साहित्य में नये पुराने का द्वन्द्व है और यह द्वन्द्व नारी के पुराने और नये आदर्शों को केन्द्र बना कर उपस्थित हुआ।"[1] युगीन उपन्यासकार नर-नारी सम्बन्धों में प्रगतिशील दृष्टिकोण लेकर चलता है। 'नये लेखकों में आधुनिकता का मसीहा बनने की उत्कट प्यास है, वर्तमान जीवन-धारा से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की एक परम्परा पाई जाती है। चाहे विकास की गति मन्द क्यों न हो, परन्तु यह परम्परा अबाध गति से विकसित हो रही है।"[2]

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् स्त्री-पुरुष के निर्धारित सम्बन्धों में परिवर्तन आने लगा। समाजशास्त्रीय दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से पुरुषों को सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त थी। स्त्री का शिक्षा के अभाव, पारिवारिक उत्तरदायित्व तथा रस्म ज और परिवार के विरोध के कारण कार्यक्षेत्र व्यापक नहीं था। शिक्षा, यातायात के कारण उसमें जागृति आई। वह अब नारी की गरिमा के नाम पर झूठा सतोष प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं रहना चाहती, वह स्वतन्त्र व्यक्तित्व के लिये संघर्ष करने लगी। परन्तु सामाजिक आचारों से बाध्य नारी को देखने के अभ्यस्त समाज के लिये इस विपरीत स्थिति ने एक बौखलाहट उत्पन्न करदी, यह उसकी (समाज की) कल्पना से परे था कि कभी शृंखलाबद्ध नारी स्वावलम्बी व्यक्तित्व के लिये आवाज उठायेगी, परन्तु मन्द गति से सुलगती ज्वालामुखी को समय की गति ने तीव्र गति प्रदान की। अपनी घुटन और घुमड़न से क्षुब्ध नारी में विद्रोह तथा संघर्ष के स्वर मुखरित होने लगे। "नारी की उन्मुक्ति को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा।"[3] बीसवीं शताब्दी की नारी में नवजागरण तथा बौद्धिक उन्मेष के कारण वैयक्तिक चेतना दिखाई देने लगी। असूर्यपश्या नारी का यह स्वरूप समाज के लिए सर्वदा नवीन था, क्योंकि सदियों से पुरुष की बैसाखियों पर चलने वाली नारी आज अपने अस्तित्व के लिये संघर्षशील थी, जिसने पुरुष के स्वेच्छाचारी व्यवहार को चुनौती दी। समाजशास्त्रीय धरातल पर नर-नारी के सम्बन्धों का यह स्वरूप परम्परागत सम्बन्धों पर कुठाराघात था, क्योंकि जहाँ वह पहले सेवा और त्याग में लीन,

---

१. डा० वेचन—आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र विकास, पृ० २५६.
२. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'हिन्दी उपन्यास—उपलब्धियाँ', पृ० १०९.
३. डा० वेचन—आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास, पृ० २५६.

देहरी की दुनिया के भीतर मात्र खोना, उपयोग की वस्तु बनना ही नियति थी, उसके स्थान पर अपने निरीह भाव का त्याग कर निर आरोपित कृत्रिम अनुचित बंधनों को नकारने लगी, जिससे समाज की संकीर्णता और असहिष्णुता सहन न कर सकी।

शताब्दियों से नारी की दबी घुटी-आकृति देखने के अभ्यस्त समाज के लिये मानो यह दुःसाहसिक प्रहार था। नारी के समस्त मानवीय अधिकारों का अपहरण सदा होता रहा है और उस मौखिक सहानुभूति देकर ही अपने कर्तव्यों की इति श्री कर लेते थे। परन्तु आज जब वह दृढ़ आत्मविश्वास और गहरे स्वाभिमान के साथ अपने पृथक् एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण का प्रयास करने लगी, तो समाज उस पर कई प्रकार के आरोप लगाने लगा। यहाँ तक कि उसे स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित कहा जाने लगा, क्योंकि वह मानपूर्वक, स्वार्थजन्य विकृतियों के पुंज गर्त्त के लिये, आत्महनन करने के लिये तैयार नहीं थी और न ही उस सम्बन्ध के लिये अपनी श्रद्धा विश्वास और सेवा अर्पित करने के लिये तैयार थी। वह प्राचीन मान्यताओं के व्यामोह से मुक्त हो अपनी क्षमता से समाज में पुरुष के समान प्रतिष्ठित होने के लिये क्रियाशील हुई। समाजशास्त्रीय धरातल पर एक परिवर्तन और यह आया कि यदि कोई उसके दुःख दर्द का भागीदार नहीं बनता, तो वह भी नरेश मेहता के उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' की सरो की तरह सभी प्रकार के उत्पीडन को पीकर मूक समाप्ति में ही अपनी सार्थकता नहीं समझती। नारी की यह चेतना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, न ही कोई उच्छृंखल महत्वाकांक्षा के कारण है वरन् एक निरन्तर घुटन एवं चौखट पर जड़ व्यक्तित्व से छुटकारे की छटपटाहट के फलस्वरूप है जिसके बीज १९वीं शताब्दी के राजा राममोहन राय, उनके युग, उनकी वाणी में निहित थे। उन्होंने नारी-व्यथा को भाषा दी और यह बताया कि सती प्रथा के परोक्ष में कितनी अमानवीय चेष्टाएँ की जाती थीं। उसे कपूर खिलाया जाता था ताकि अग्नि उसे शीघ्र भस्मीभूत करदे तरह-तरह के मादक द्रव पिलाये जाते थे ताकि अर्द्ध चेतनावस्था में उसे जलने के लिये प्रेरित करने में सुविधा रहे, ढोल नगाड़े बजाये जाते थे ताकि उसकी चीख-पुकार सुनने वाला कोई न रहे। इस पुकार को सुना तत्कालीन सहृदय समाज-सुधारकों ने और इस प्रथा को जघन्य अपराध घोषित किया। इसी प्रकार विधवा की मूक वेदना को सुना दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन, रानाडे आदि ने, जिसका जीवन मृतप्राय कर दिया जाता था अथवा ऐसा प्रतीत होता था मानो मृत्यु ही जीव धरे चल फिर रही है। अपनी इस हीनावस्था का जब नारी को बोध हुआ, तो उसे मानो अपने पर स्वयं दया आ गई और वह अपने पृथक अस्तित्व के निर्माण के लिये संघर्ष करने लगी। उसका यह संघर्ष परिस्थितिजन्य है। पुरुष द्वारा जबरन थोपे गये अपमान की पीड़ा के बीज से विकसित जागरण के अंकुर की प्रेरणा को लेकर है, जो आत्मनिर्भर नारीत्व को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाना चाहता है, इस संघर्ष में पुरुष वर्ग से ईर्ष्यायुक्त प्रतियोगिता कर, उन्हें पछाड़, नीचा दिखाने की भावना नहीं है। नारी के इस स्वस्थ प्रयास को प्रतिक्रियावादी, उसकी आत्मकेन्द्रितता तथा स्वार्थ की संज्ञा दे प्रगति के बढ़ते चरण को बलपूर्वक रोक लेना चाहते हैं। वह प्रतिक्रियावादी

पुरुष वर्ग आज भी स्वयं को विजय की कामना लिये राजा जनक के दरबार में गर्व से सिर उठाये याज्ञवल्क्य के समान ही मानता है, जो गार्गी जैसी विदुषी को इसलिये निरस्कृत और अनधिकारी घोषित कर देता है, क्योंकि वह स्त्री है। गार्गी के बुद्धि-पूर्ण सात्विक प्रश्नों का उत्तर न दे याज्ञवल्क्य ने जोर से कह दिया कि "गार्गी! यदि अब अधिक पूछोगी तो तेरा सिर सौ टुकड़ों में बट जायगा।" परन्तु युगीन नारी की बुद्धि की जिज्ञासा तथा जीवन की कमठ शक्ति को आज इस प्रकार की धमकियाँ किसी प्रकार भी कुचल सकने में असमर्थ है। नर नारी सम्बन्धों में आज नारी पुरुष की सह-धर्मी होना चाहती है—अपनी ही गरिमा से युक्त स्वत. प्रकाश वह आगे बढ़ कर स्वयं अपना गौरव अर्जित करना चाहती है। नारी का स्वावलम्बी होना कभी कभी पुरुष के आक्रोश का कारण होता है। यह सत्य है कि नारी की इस चेतना से प्राचीन मान्य-ताओं को ठेस लगी है, क्योंकि वह आज आगे बढ़ कर, वह सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहती है जो सदियों से पुरुष की ही थाती रही है। पश्चिमी सभ्यता व वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उसे अति आदर्शवादी मोह से विलग होकर सहज रूप में विचारने के लिये प्रेरित किया और स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तन परिलक्षित होने लगा।

उषा प्रियम्वदा के 'रुकोगी नहीं राधिका' उपन्यास में यथार्थ के धरातल पर प्राचीन मान्यताओं को चुनौती दी गई है। कृष्णा सोवती के उपन्यास 'मित्रो मर जानी' में भी नई पीढ़ी की नारी का अंकन है, जो किसी सामाजिक विधान से डरती नहीं। वह पति के समक्ष भी कभी सिर नीचा नहीं होने देती—"मित्रों को आदर्श का कोई मोह नहीं है न समाज का भय है, न ईश्वर का। इसके लिये किसी विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। यह मात्र मांस-मज्जा से बनी एक नारी है, जिसमें स्नेह भी है, ममता भी, माँ बनने की हौंस भी।" वह अपने को किसी प्रकार भी पुरुष से कम नहीं मानती, इसी से सास-ससुर, पति किसी का भय उसे सम्पन्न नहीं करता। वह सबका निर्भीकता से उत्तर देती है, चाहे वह पति हो या ससुर। सदियों से पुरुष नारी का भाग्य-विधाता रहा है। नारी का मूल्यांकन पुरुष के माध्यम से होता रहा है। पहले अधिक पत्नियाँ रखना सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता था। पुरुष ने उसे दासी बना कर समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रखा और यदि सच पूछा जाये तो आज भी उसकी प्रवृत्ति वही है, इसी से उसमें बौखलाहट है। नारी को यही समझाया गया कि पुरुष के बिना उसकी कोई गति नहीं। उसे सदा पिता, पति, पुत्र के अधीन ही रहना है और वह उसे अपनी दासी, क्रीता मानकर अपनी पाशविक प्रवृत्तियों की पूर्ति करता रहा और कभी उसे अपने विकास में बाधक मानता रहा और वह निरीह भाव से सब सुनती रही, देखती रही, सहती रही, नारी की इच्छाओं, आकांक्षाओं की ओर उसने कभी नहीं सोचा। नारी की देहयष्टि ही उसके लिये

१. कृष्णा सोवती – 'मित्रो मरजानी' (फ्लैप पर से), प्र० सं० १६६७.

महत्त्वपूर्ण रही। इसी के कारण वह उपेक्षा उत्पीड़न का शिकार बनाई जाती रही। नरेश मेहता के उपन्यास 'डूबते मस्तूल' में रंजना के माध्यम से लेखक ने यही स्पष्ट किया है "प्रत्येक पुरुष ने रंजना के जीवन का मूल्य उसके शरीर मात्र में ही पाया है उसके व्यक्तित्व को स्वीकार करने में वह असफल रहा है।"[1]

सामाजिक प्रक्रिया गतिशील है। कालचक्र ने पलटा खाया। आज नारी की स्थिति पुरुष निर्मित समाज में परिवर्तित हो गई। वह प्रधानमंत्री जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद से लेकर समाज के प्रत्येक क्षेत्र में कुशलता से कार्य कर रही है। अपनी देहरी की दुनिया लांघ, वह समाज के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत है। आज नर-नारी सम्बन्धों में वैषम्य इसलिये दिखाई देता है, क्योंकि उसके जीवन को प्रवंचना मात्र बना देने वाले पुरुष की कृपा दृष्टि पर ही वह अपने को नितान्त आश्रित नहीं रखना चाहती। नारी को शापित जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य करने के पीछे उसके सामन्तवादी विचार। वह स्वयं तो स्वच्छन्द विहार करना चाहता है, परन्तु नारी को प्राचीन मान्यताओं के संकुचित दायरे में रख सदा पत्नीव्रत-परायण और पतिव्रता ही देखना चाहता है। आज यदि युग माँग के कारण नारी को नौकरी करने की अनुमति देता भी है, तो भी अपने स्वामित्व को बनाये रखना चाहता है।

रजनी पनिकर के उपन्यास 'जाड़े की धूप' में सामन्तीय विचारधारा का पोषक मालती का पति, मालती की प्रत्येक इच्छा को धन के तराजू में तोलता है। लेखिका पुरुष के अहंभाव पर व्यंग्य करती हुई लिखती है — "न जाने पुरुष की यह मनोकामना क्यों होती है कि नारी पिसती रहे, नारी की आँखों में आँसू देखकर पुरुष को एक विशेष प्रकार का संतोष क्या होता है, तुष्टि क्या मिलती है।"[2] मालती का पति रातभर बाहर रह कर घर लौटने पर दो निजी नौकरों के होते हुए भी मालती को जगा कर चाय बनवाता है, अपने व्यवहार से अपने को उस पर थोपे रखना चाहता है। उसका कहना है — "पत्नी को आभास तो रहे कि वह सिर्फ पत्नी है और कुछ नहीं।"[3] "ऐसे पुरुषों की दृष्टि में नारी का एक मूल्य है उसका शरीर उसका सौन्दर्य।"[4] शिक्षित, सुन्दर, सुशील पत्नी के होते हुए इधर-उधर भटकने वाले पुरुष से मालती सदा दूर रहने का प्रयास करती है। मालती का पति का सान्निध्य असहनीय हो जाता है। सामन्तवादी प्रकृति के पुरुष, पत्नी को घर में संरक्षण, पोषण देकर अपने कर्तव्य की परिसमाप्ति समझ लेता है और प्रतिकार में उस पर पूर्ण स्वामित्व चाहता है। इसी संकीर्ण प्रवृत्ति के कारण मालती का जीवन विषाक्त हो

---

१. सुषमा धवन — हिन्दी उपन्यास, पृ० २७८
२. रजनी पनिकर — 'जाड़े की धूप' (प्र० सं० १९५८), पृ० १३.
३. वही, पृ० २३
४. वही, पृ० ७०.

जाता है, वह अपनी संस्कार बन्धता के कारण अपनी व्यथा किसी पर प्रकट नहीं कर पाती।

नारी को पुरुष अपने से पृथक् व्यक्तित्व प्रदान नहीं करना चाहता। "वह पति बन जाता है, तो यही चाहता है कि उसकी पत्नी उसके कहने पर चले, जैसे वह सोचे वैसा ही करे पति के हाथ में कठपुतली की तरह नाचे।"[१] पुरुष को नारी का दयनीय निरीह रूप देखकर सन्तोष होता है, जिसे मनोविज्ञान में 'सेडिस्टिक प्लेज़र' कहा गया है। नारी को पीड़ित व अश्रुपूर्ण देखकर उसके अहं की तुष्टि होती है, वह सदा नारी को विनीत ही देखना चाहता है, यदि उसने सिर उठाया तो वह विद्रोही कलंकिनी मानी जाने लगती है।

लेखिका का मत है "यदि पुरुष का वश चले तो एक बार फिर सामन्तशाही परम्परा प्रारम्भ कर दे, जिसमें नारी बाहर का सारा जीवन भूल कर केवल घर की ही होकर रह जाये। चौके चूल्हे से फुर्सत पाये तो पति का मुखचन्द्र निहार ले"[२]

अपने को प्रगतिशील दिखाने के लिये पुरुष ने नारी को स्वतन्त्रता तो दी, परन्तु मनोवृत्ति वही संकीर्ण है। यदि उसका बस चले तो उसे डिबिया में बन्द ही करके रखे।"[३] उपन्यास में पति पवन, एक ओर तो पत्नी को बड़ी उदारता से कहता है "तुम जो चाहो करो, जो तुम्हारी इच्छा हो ठीक वहीं करो, मेरी इच्छा-अनिच्छा की अपेक्षा न करो।' दूसरी ओर मारती के आफिसर, मलकानी के घर आने पर क्रोधित होकर कहता है– "माना कि तुम मलकानी के साथ काम करती हो, परन्तु इसका यह मतलब कहाँ है कि वह यहाँ भी आय और घन्टों बैठा रहे।"[४] जिस पवन ने कभी अपनी ओर नहीं निहारा उसका क्या दायित्व है, वह पति होने का दम भरता है। गृहस्थी का भार भी उठाना नहीं चाहता और नारी से एकान्तिक प्यार की चाहना करता है। नारी, पुरुष के असंयमी चरित्र को सहन करती है, लेकिन कोई भी पति यह सहन नहीं कर सकता कि पत्नी किसी और को चाहती रहे।"[५] अभी तक पुरुष नारी को ही दोष देता रहा है, अपने को झाँक कर नहीं देखता। परन्तु चेतन नारी उसकी हर बात को वेद-वाक्य नहीं मानती; चाहे वह रोज दो बजे भी आये तो ठीक था, वह सहन कर लेती थी, परन्तु आज उसके विचारों के साथ नाचने को तैयार नहीं, न ही उसकी कठोरता और क्रूरता को सहन कर सकती है।"[६] आज नारी पुरुष के सभी रूपों की पर्तें खोल कर रख देना

१. रजनी पनिकर – 'जाड़े की धूप', पृ० १५.
२. वही, पृ० ६३.
३. वही, पृ० ८४.
४. वही, पृ० ८३.
५. वही, पृ० ६०
६. वही, पृ० २४.

चाहती है। जब वह बुरी तरह एक्सपोज़ हो जाता है, उसको अपना बिम्ब दर्पण मे दिखाई देता है, तो वह झुंझला उठता है। पुरुष की कलई खोलने का लेखिका ने सफल प्रयास किया है।

आज अभिजात्य वर्ग मे सुरा-सुन्दरी की आराधना ही अधिक दिखाई देती है। विवाह मे भी लोग देखते हैं – कौन हम विलायत भेज सकता है, कौन कार बंगला दे सकता है। इस क्षेत्र मे भी प्रतिस्पर्धा होने लगी है। 'मोम के मोती' उपन्यास में लेखिका, ऐसे पुरुषों को भेड़िया से केवल एक सीढ़ी ही नीचे मानती है।"[1] जो वासना जीवी हैं।

पुरुष किसी भी वर्ग का हो, उसकी आदम प्रवृत्तियाँ एक-सी ही होती हैं। उच्च तथा मध्यवर्गीय पुरुषों की तरह निम्नवर्गीय पुरुष भी नृशंस अत्याचारी होते हैं। उपन्यास की बिंदिया, नौकरानी सभी प्रकार से स्वस्थ सुन्दर है, फिर भी उसका पति उसे छोड़ कर महतरानी के साथ भाग जाता है। यह पुरुष की अस्थिर प्रवृत्ति के सिवा और क्या है ?

कार्य करने वाली स्त्रियों को, कई पुरुषों के सम्पर्क मे आना पड़ता है, वहाँ भी मनुष्य के कई रूप दिखाई देते हैं। सेतु बन्ध' उपन्यास मे मनोज बसु ने पुरुष के विभिन्न रूपों को चित्रित किया है। लड़की टाइपिस्ट के प्रति आफिस के विभिन्न पुरुषों के दृष्टिकोण का लेखक ने सफल अंकन किया है। पुरुष के रूढ़िबद्ध संस्कार नारी को मित्र के रूप मे नहीं स्वीकार कर पाते, परन्तु सामाजिक व्यवस्था मे भारी परिवर्तन आया है। पहले एक पुरुष परिवार की समस्त नारियों का भार वहन करता था, आज आर्थिक विषमता के कारण एक पत्नी का भार भी वहन नही कर पाता। भाई भी कर्त्तव्य से मुँह चुराता है 'सेतु बन्ध' की नायिका पूर्णिमा दीदी, सारे घर का भार वहन करती है–भाई को डा० बनाती है पिता रिटायर हैं, उनका खर्च भी चलाती है। उनके जीवन के लिए कोई नहीं सोचता, वरन् उन्हें भय रहता है कहीं यह विवाह न करले नही तो हमारा क्या होगा। यह आज की अर्थमूलक सभ्यता की विडम्बना है। आज की सामाजिक व्यवस्था में जब नारी को अपना सम्बल आप बनना है, जब नारी को स्वयं सब कुछ करना है, तो उसकी पुरुष से मैत्री अस्वाभाविक नहीं है।[2]

पुरुष, इन परिवर्तित परिस्थितियों मे चाहे कितना ही प्रगतिशील होने का दम्भ क्या न भरे, परन्तु आज भी संकीर्णता से ग्रस्त है। वह नारी की स्वतन्त्रता को स्वीकार तो देखा-देखी करता है, परन्तु विश्वास का उसमें अभाव है। जिस स्त्री के चरित्र को वह अच्छा नहीं मानता उसी का अवसर पाते स्वयं भोग करने से नहीं चूकता। माया कहती है "जो पुरुष स्त्री को भोग्या मानते हैं, उसके आन्तरिक मन की भावनाओं की उपेक्षा करते हैं, उनका विवाह ही नहीं होना चाहिये।"[3] नारी,

---

१. रजनी पनिकर – 'मोम के मोती' (प्र० सं० १९६), पृ० ८६
२ वही, पृ० ९२.
३. वही, पृ० १३०.

अब पुरुष को स्वामी तथा अपने को दासी नहीं मानती, बल्कि उसके इस कुत्सित व्यवहार से घृणा करती है और आदर्शों के परम्परागत सम्मान को वह नहीं दे पाती। लक्ष्मीनारायण लाल की 'छोटी चम्पा बड़ी चम्पा' उपन्यास में छोटी चम्पा कहती है "मर्द जात औरत के शरीर की इज्जत कभी नहीं करती, उसकी यह आदत ही नहीं रह गई। वह यह बात भूल गया है कि इसके भीतर भी कुछ है।"[1] वह कहती है "इस दुनिया की सारी औरतों का महज यह एक ही दर्द है, मर्द को पा लेना, जो बिल्कुल नामुमकिन-सी चीज है, जो बेचारा खुद किसी को पाने की हसरत में भटक रहा है वह किसी को क्या मिलेगा।"[2] स्त्री को वेश्या बनाने में पुरुष ही दोषी है। पुरुष सब कुछ करके भी समाज में सम्मान और गौरव प्राप्त किये रहता है, परन्तु स्त्री की छोटी-सी भूल उसे जीवन भर जलने के लिए बाध्य करती है। आज का पुरुष कथनी में प्रत्येक स्त्री को समान मानता है, परन्तु वास्तव में उसकी इस मान्यता का कोई अर्थ नहीं, जीवन की दौड़ में वह उसे बराबरी के स्तर पर नहीं रख सकता। वैवाहिक जीवन में यदि पति का व्यवहार उसे अपमानजनक लगता है, फिर भी प्रताड़ित नारी को ही उसी के आगे समर्पण करने के लिये बाध्य किया जाता है और यदि वह इसका विरोध करती है, तो नारी धर्म के लम्बे-लम्बे व्याख्यान, लोगों की अवहेलना, तिरस्कार का सामना करना पड़ता है। सभी उससे यही अपेक्षा करते हैं कि पति के समक्ष समर्पण कर दे।

शिवानी के 'चौदह फेरे' में नन्दी का पति कलकत्ते नौकरी करता है। साल भर में घर आता है, परन्तु आते ही अहं में चूर। पत्नी, भय के मारे अपने साल भर के सुख-दुःख का प्रकटीकरण नहीं कर पाती, डाँट का भय है। पुरुष ने सदा अपना आतंककारी रूप ही स्त्री के समक्ष रखने का प्रयास किया है ताकि भय के कारण वह बोलने का साहस न कर सके। कर्नल के स्वार्थी रूप से नन्दी को खीझ होती है। वह अपने राग-रंग में लीन होकर भूल जाता है कि पत्नी की विषम परिस्थितियों को जानना भी उसका कर्त्तव्य है। पुरुष अपने अहं को ठेस नहीं लगने देना चाहता न ही अपनी सुख-सुविधा तथा अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधा सहन करता है।

पुरुष चाहे शराबी हो, वासना जीवी हो; फिर भी परिवार से निष्कासित नहीं किया जाता। शान्ति जोशी के 'मेरा मन वनवास दिया सा' उपन्यास में पाशविक वृत्तियों वाले पति को ही परिवार की सहानुभूति प्राप्त है और निर्दोष इन्दु, पति के समस्त अवगुणों के लिये उत्तरदायी समझी जाती है: जो वह रात-रात भर घर से गायब रहता है शराब पीता है इसमें भी इन्दु को ही दोष दिया जाता है, क्योंकि यह इन्दु की कमी है जो उसे बाँध नहीं पाती। कैसी विडम्बना है! निर्दोष होने पर भी

---

१. लक्ष्मीनारायण लाल–'छोटी चम्पा बड़ी चम्पा', (प्र० सं० १९६१), पृ० ११४.

२ वही, पृ० ७१.

उसे ही दोषी ठहराया जाता है। दूसरा पुरुष पात्र हरीश है, जो सहृदय होने का दावा करता था वह अनगृहीत करता है। पत्नी के निरउन मन को नहीं समझता। उसका उद्दण्ड मन नारी को केवल भोग्या ही मानता है। 'पत्नी तो मानो मिट्टी का पुतला है, जिसकी घर में स्थापना कर दी गई है।'[1] "वह पत्नी की अनुभूतियों के प्रति निर्मम है, मनुष्य के वेश में पशु।"[2] हरीश पत्नी को कठपुतली मानता है। यह उसकी स्वेच्छा है, चाहे प्यार करे या मिट्टी में मिला दे।[3] पत्नी को प्रतिवाद करने का अधिकार नहीं। लेखिका ने अपने उपन्यास में चित्रित किया है कि पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्थिति अत्यधिक दयनीय है।

पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित पुरुष, पत्नी को गृहणी के ही रूप में देखना नहीं चाहते। विमला रैना के 'प्यासा पानी' का नायक प्रभाकर, पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित है। उसे बच्चे में व्यस्त रहने वाली स्त्री की जरूरत नहीं, वह कहता है "तुम इतना भी नहीं जानतीं कि पति एक माँ नहीं, प्रेयसी चाहता है।'[4] उसे परम्परागत पत्नी का स्वरूप पसन्द नहीं। पत्नी के शान्त प्रेम में उसे संकीर्णता और दकियानूसीपन लगता है। एक ओर तो उसे उन्मुक्त रहने के लिये बाध्य करता है, दूसरी ओर एकनिष्ठ भी देखना चाहता है। स्वयं कई स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखता है, परन्तु क्लब में मालती को किसी अन्य के साथ डांस करते देख तिलमिला उठता है और आनन्द के साथ मालती के सम्बन्ध की कल्पना करके शराबु हो उठता है। यह पुरुष की संकीर्णता है। एक ओर तो उसे तितली बनाना चाहता है और दूसरी ओर स्वतन्त्रता भी नहीं देना चाहता। वह अपनी इच्छानुसार ही नारी को मात्र चलन की स्वतन्त्रता देता है। एक ओर तो उसे स्वतन्त्रता देता है दूसरी ओर संदेह भी करता है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित पुरुष न तो पूर्णरूपेण परम्परागत संस्कारों से मुक्त हो सका, न नये रंग में पूर्णतया अपने को रंग सका है।

सामाजिक गठन में नारी को प्रारम्भ से ही किसी न किसी के आश्रित रहने का विधान प्रस्तुत किया जाता रहा है, जिससे वह सदा परावलम्बी बनी रहे। पुरुष की अपेक्षा नवीन चेतना का उदय नारी में अति मन्द गति से हुआ। पुरुष युग परिवर्तन के साथ प्रगतिशील बनता रहा, परन्तु अशिक्षित तथा संकुचित घेरे में रहने के कारण नारी दकियानूस बनी रही तथा समाजगत और धर्मगत मान्यताओं को भी चिपकाये रही। परिवर्तित परिस्थितियों में नई पीढ़ी की नारी की विचारधारा में परिवर्तन होने लगा, परन्तु पुरानी पीढ़ी की नारी में परिवर्तन की गति अभी भी न के बराबर है। यही कारण है कि नारी ही नारी के प्रति अधिक क्रूर और निर्मम होती है, क्योंकि वह अपने नियन्त्रण में रखना चाहती है। साथ ही स्त्री-सुलभ ईर्ष्या के कारण

---

१ शान्ति जोशी—'मेरा मन बनवास दिया सा' (प्र० सं० १९५६), पृ० ८६.
२. वही, पृ० ९९.
३ वही, पृ० ३२
४. विमला रैना—'प्यासा पानी (प्र०सं० १९६५) पृ० ८३.

भी सहानुभूति हीन हो जाती है। 'मेरा मन बनवास दिया-सा' उपन्यास में सास-बहू के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का तीव्र विरोध करती है और उसे ससुर से पर्दा न करना बहुत बुरा लगता है तथा पति के साथ घूमने जाना उसकी क्रोधाग्नि को और तीव्र करता है, क्योंकि उसने भी बहू-रूप में बहुत कष्ट पाये हैं। वह अपनी सास द्वारा शासित की गई थी। इसी मनोवृत्ति के कारण वह बहू को नियन्त्रित रखना चाहती है और त्रास देती है। बहू बेटे के सुन्दर जीवन से उसे अपने कटु विगत की याद आती है, जहाँ सारा दिन काम ही काम करते रहना पड़ता था—'कुछ न होता तो उनकी साग पुराचार पीनी में लिए मिला देती।"[1] इसी से अपनी बहू की बुराई करके उसे एक दमित आनन्द मिलता है।

उषादेवी मित्रा ने भी 'नष्ट नीड़' में नारी की छिद्रान्वेषी प्रवृत्ति का अंकन किया है। नारी आज अपने स्वतन्त्र विचारों पर किसी प्रकार का आघात होते नहीं देख सकती। उषा प्रियम्वदा के उपन्यास 'रुकोगी नहीं राधिका' में ऐसी युवती का चित्रण है, जो परिस्थितियों से समझौता करते जाना नहीं जानती। वह अमरीकी पत्रकार के साथ अमेरिका में एक वर्ष नितान्त अकेले बिता कर आती है, जो भारतीय समाज के लिये आश्चर्य का विषय है—'मामा, मामी, भाई, पिता, अक्षय सभी उसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वह अपने विवाह का दृढ़ता से विरोध करती है। "जो आप चाहते हैं, वही हमेशा क्यों हो? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं? मैं आपकी बेटी हूँ यह ठीक है पर अब मैं बड़ी हो चुकी हूँ और मैं जो चाहूँगी वही करूँगी।"[2] वह अपने जीवन में किसी का हस्तक्षेप सहन नहीं करती। पुरानी परिपाटी और रूढ़ियाँ उसे मान्य नहीं। वह पिता और भाई के होते हुए भी अलग रहती है, क्योंकि अपने को वहाँ मिसफिट पाती है, इसलिये दिखाने के लिए अपने का वहाँ बनाये रखने के पक्ष में नहीं है। वह विवाह तथा संयम के प्रति बड़ा स्पष्ट दृष्टिकोण रखती है। मनीष और अक्षय दोनों ही उसे चाहते हैं, परन्तु वह परख कर ही निश्चय लेना चाहती है।" मैं ऐसा साथी चाहती हूँ जिसमें स्थिरता हो—औदार्य हो, जो मेरे सारे अवगुणों सहित स्वीकार करले, मेरे अतीत को झेल ले।"[3] आजादी के बाद पाश्चात्य सभ्यता के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में उन्मुक्तता आई है। पहले पुरुष को ही विवाह के सम्बन्ध में चुनाव का अधिकार प्राप्त था, परन्तु अब नारी भी चुनाव की अधिकारिणी है। लेखिका ने वर्जित गर्त्तों का भी साहस के साथ चित्रण किया है तथा नये युग की नारी के नवीन मूल्यों को स्वरित किया है। अभी तक व्यक्तित्व की विराटता एवं विशिष्टता का जो सर्वाधिकार पुरुषों के पास था, वह सही अर्थों में नारियों तक भी पहुँचा और पहली बार इनके स्वतन्त्रचेता मानस एवं स्वाधीन

---

१. शान्ति जोशी—'मेरा मन बनवास दिया सा', पृ० ५६.
२. उषा प्रियम्वदा—'रुकोगी नहीं राधिका' (प्र० सं० १९६७), पृ० ६१.
३. वही, पृ० ९९.

व्यक्तित्व की नई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई । सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पुनर्जागरण के इस काल मे नारियाँ कहीं भी कोने मे पडी रहने वाली मैले कपडो की गठरी नही सिद्ध हुई और प्रत्येक क्षेत्र मे उनका स्पष्ट योगदान सामने आया । इससे मानव-मूल्यों को नई अर्थवत्ता प्राप्त हुई और दोनो वर्गों के बीच समानता की भावना सर्वथा नये परिवेश मे उद्भासित हुई ।"[1] आधुनिक युग की नारी आत्मनिष्ठ और आत्मविश्वासी हो रही है । वह अपना हित, अपनी बुद्धि द्वारा लिये गये निर्णय मे देखना है, जीवन को अभिशप्त करने वाली मान्यताओं और सस्कारो से वह मुक्त होना चाहती है । हिन्दू संस्कृति के अनुसार नारी जीवन के सम्पूर्ण आदर्श पातिव्रत्य मे ही समाहित है । सतीत्व धर्म ही हिन्दू-नारी के चारित्रिक मूल्यांकन की कसौटी है, उसे सामाजीकरण का रूप देने के लिये हिन्दू समाज ने वैवाहिक पवित्रता के नियम कठोर बनाये । तथा विवाह को भी आध्यात्मिक माना है ।"[2] पति परमेश्वर है, उसे मान कर नारी मानव-धर्म की अवहेलना नही सहन करती । 'त्यागपत्र' की मृणाल को जब सकीर्ण, क्रूर मनोवृत्ति का पति घर से निकाल देता है, तो उसकी जूतियाँ खा कर वही बने रहना उसे मान्य नही है । वह पातिव्रत्य धर्म से अधिक महत्वपूर्ण नारी-धर्म, मानव धर्म को मानती है । नारी के स्वाभिमान की रक्षा के लिये घर छोड देती है ।"[3]

पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित भारतीय नारी विवाह सस्था का विरोध करने लगी है । आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण भी उसका किसी की आश्रिता रहना आवश्यक नही रह गया । 'पचपन खम्भे लाल दीवार' मे उषा प्रियम्वदा ने विवाह को आर्थिक सरक्षण के लिये आवश्यक नही माना, परन्तु एकाकी जीवन मे साथी की आवश्यकता के लिये विवाह अनिवार्य मानती है । उपन्यास की नायिका सुषमा भाई-बहिनो के दायित्व के कारण प्रेमी युवक को ठुकरा तो देती है, परन्तु जीवन की एकान्तता उसमे कुण्ठा, वितृष्णा भर देती है । दूसरी नारी पात्र दुर्गा मे भी अविवाहित होने से हीन भाव (इन्फीरियोरिटी काम्प्लेक्स) भर जाता है । मिस शास्त्री भी तप्त धरती की तरह है । निराशाओं ने उनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण विकृत कर दिया है ।[4] लेखिका ने मनीआ का व्यापारी से विवाह करना ,दुर्गा का चिड़चिड़ा स्वभाव तथा सुषमा का जीवन से उकता जाना दिखा कर विवाह की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है।[5] परन्तु विवाह की अनिवार्यता आज नारी के लिये सह-अस्तित्व के रूप में स्वीकार्य है, क्रीतदासी के रूप मे नहीं ।

---

१. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ', पृ० १२५.
२. चण्डीप्रसाद जोशी—हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ३०६.
३. वही, पृ० ३०६.
४. उषा प्रियम्वदा—'पचपन खम्बे लाल दीवार', पृ० ६६.
५. वही, पृ० ७२.

वैदिक काल में समाज में नारी की महत्ता थी, वह स्वयंवर में वर चुन सकती थी, परन्तु मध्ययुग में उसे गौरवपूर्ण स्थान से च्युत कर दिया गया और उन्नीसवीं शताब्दी में तो उसकी समस्त स्वतन्त्रता का हरण हो गया। वह अनेकों अन्धविश्वासों परम्पराओं और मिथ्या आदर्शों से आवेष्टित हो पशुवत् जीवन व्यतीत करने लगी। यदि कभी किसी नारी में विद्रोही भाव अंकुरित होते दिखाई भी देते तो उसे पतिता, कुल्टा कह कर इस सीमा तक लांछित किया जाता कि मृत्यु के वरण में ही उसे मुक्ति उपलब्ध होती। यदि उसकी आत्मा क्रन्दन भी करती तो भी इच्छा-अनिच्छा से समर्पण करने के अतिरिक्त उसके समक्ष कोई विकल्प नहीं था।

प्रेमचन्दकालीन तथा प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में परम्परागत भारतीय आदर्शों से परिपूर्ण नारियों का चित्रण किया गया। आधुनिक काल में भी कुछ आत्मसमर्पिता नारियों का अंकन मिलता है, जो दुःखमय अथवा सुखमय जीवन में अपनी स्थिति से सामंजस्य कर लेती है और निर्विकार होकर जीती है। नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' की सरस्वती आत्मसमर्पण की साक्षात् प्रतिमा है। सरस्वती तथा उसकी पुत्री गुनी जीवित होकर जीवित रहने की चेतना से रहित है।'[1]

भारतीय नारी की विवशता की ओर संकेत करते हुए डा० देवराज ने अपने उपन्यास 'बाहर और भीतर' में सुमित्रा के बेमेल विवाह से कुण्ठित मानसिक रोग से पीड़ित चरित्र का अंकन किया है, जो जीवन से हार जाती है। बाह्य और अन्तर्द्वन्द्व के बीच पिसती हुई नारी स्वयं टूट जाती है, परन्तु सामाजिक बन्धन व नैतिक मूल्यों को नहीं छोड़ पाती। समाज से व्यक्ति लड़ रहा है और समाज उसे मात्र कुण्ठा (फ्रस्ट्रेशन) दे रहा है।[2]

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'रूपा जीवा' की सारदा वैवाहिक बन्धन से मुक्त होना चाहती है, जिसे कभी पति का सच्चा प्रेम नहीं मिला, परन्तु समाज और धर्म से सन्त्रस्त है और अपने अतृप्त कुण्ठित जीवन के कारण क्षय रोग की शिकार हो जाती है, परन्तु इस पर भी रति मन ही मन उसे कोसती है—'ससुरी कहीं की न जीने में न मरने में, हड्डी की भाँति गले में आ फँसी है।"[3] उस हतभागी को सिवाय वितृष्णा के कुछ नहीं मिल पाता। वह प्रेम, विश्वास, वह मान नहीं मिला जिसकी भूख लेकर वह इस संसार में आई है।[4] 'यह पथ बन्धु था' उपन्यास की माँ की भाँति उसकी बेटी गुनी ने भी बहुत सहा है। वह माँ से कहती है—"जीवन में न आँसुओं का मूल्य है, न भावना का—केवल सहना ही सत्य है।"[5]

---

१. डा० इन्द्रनाथ मदान—'आज का हिन्दी उपन्यास', पृ० ६७
२. डा० लक्ष्मीकान्त सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास', पृ० ४४७.
३. लक्ष्मीनारायण लाल—'रूपा जीवा', पृ० ३४ (१९५९).
४. वही, ७६.
५. नरेश मेहता—'यह पथ बन्धु था', पृ० ८८८.

परन्तु युगीन नारी इस प्रकार के दुख भोगने में ही जीवन की परिणति नहीं समझती। वह दुःख के परिहार की शक्ति अपने में सजाये है। इसीलिए विद्रोही स्वर उनमें मुखरित हो रहे हैं जिनसे आज वैवाहिक संस्था में दरार पड़ गई है। पहले परित्यक्त नारी आत्मपीडा में धीरे धीरे सुलगती रहती थी, समाज को ललकारने का साहस उसमें नहीं था। प्रभाकर माचवे के उपन्यास 'द्वाभा' की आभा सोचती है—'ऐसी कितनी माँओं ने यहाँ अपना जीवन पति देवता रूपी पथरीली मंदिर की देहरी पर उत्सर्ग नहीं कर दिया।'[1] आभा ने अपनी माँ का उत्पीडन देखा है, स्वयं उसे पति छोड गया है। उसका अपराध क्या था जो उसे छोड दिया गया है? वह सोचता है—"माना कि श्यामा मुझ से अधिक सुन्दरी है, बलवान, प्रतिभावान और गुणमयी है—इसका यह अर्थ तो नहीं है कि मेरी पूजा को वह ठुकरा कर चले जाते।"[2] उसे यह समस्त जीवन-व्यापार छलावा लगता है। वह सोचती है—'स्त्री के साथ यह व्यवहार राम और दुष्यन्त तथा नल और बुद्ध के जमाने से चला आ रहा है।"[3] आभा न प्राचीन मान्यताओं से विमुक्त हो पाती है, न नवीन मूल्यों को अपना पाती है। वह निरन्तर मानसिक द्वन्द्व से पीडित रहने पर भी कोई साहसपूर्ण पथ नहीं खोज पाती और अन्त में क्षय रोग से पीडित होकर मृत्यु को प्राप्त होती है।

हिन्दू समाज की विषमताओं के कारण, स्त्री बगैर आदमी के न अच्छी जिन्दगी जी सकती है, न बुरी। इसलिए हर लडकी एक कवच ढूँढती है। वह चाहे पति का हो या भाई या बाप का या किसी झूठे रिश्तेदार का।[4] वह यदि एकाकी जीवन व्यतीत भी करना चाहे तो दुनिया उसे जीने नहीं देती, पुरुष का साया उसके लिए इतना जरूरी बन गया है कि उसके बिना रहना असम्भव कर दिया गया है।[5] फलतः विवाह एक आवश्यक बुराई के रूप में भी उसे अपनाना पडता है। शान्ति जोशी के उपन्यास 'मेरा मन बनवास दिया सा' में लेखिका ने अंकित किया है कि लडकी का जीवन समाज तथा माता-पिता का मूक खिलौना है।[6] यह कैसी विडम्बना है कि उसका जीवन समाज की कृपा दृष्टि पर निर्भर है। पति के दुराचारी होने के लिये इन्दु को दोषी ठहराया जाता है कि वह अभागिन है, जिससे दुखी होकर पति पीने लगता है। रात-रात भर गायब रहना भी उसके नारी शरीर का दोष माना जाता है। ऐसे दम घोटू परिवेश में बुद्ध बनने की इच्छा लिये जीने का प्रयास वह करती है, परन्तु वह स्नेहिल मूर्ति संघर्ष करते-करते ही समाप्त हो जाती है। समाज की

---

१ प्रभाकर माचवे—"द्वाभा", पृ० ६ (द्वि० सं० १९५६).

२. वही, पृ० ६.

३. वही, पृ० ७६

४. कमलेश्वर – 'डाक बंगला', पृ० ४५.

५. वही, पृ० १०७.

६. शान्ति जोशी – 'मेरा मन बनवास दिया सा', पृ० २८.

मान्यताओं की कारावास में अभिशप्त जीवन काट देती है। वह सोचती है — "समाज जिसने न जाने मेरे जैसे कितने लोगों को पशु बना दिया है, जंजीर में बंधे हाड़-मांस, सांस लेते हुए मुर्दे जो अपने जीवन की सुरक्षा नहीं कर पाते केवल तीन आती बुझती हुई सांस।"[1] ऐसी समर्पिता नारी भी जब जीवन पर्यन्त शोषित होती रहती है, तो इसे आज की प्रबुद्ध नारी अन्याय मानती है। फलतः समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में इसके (विवाह संस्था के) प्रतिक्रिया स्वरूप परिवर्तन दिखाई देने लगा है। इस संस्था की यह मान्यता रही है कि "एक के बिना दूसरे का अस्तित्व अपूर्ण है — इसी प्राकृतिक विधान का सामाजिक संस्कार है विवाह"[2], परन्तु जब इन मान्य-मूल्यों की अवहेलना होने लगी तो विद्रोह स्वाभाविक था।

विवाह के पश्चात् नारी जीवन की सार्थकता को पाना चाहती है, इसमें आदि काल से यह संस्कार डाले जाते हैं कि वह धरती की तरह ही धैर्यवान और शान्त रहे, परन्तु जब पुरुष दिनों दिन स्वेच्छाचारी होता गया और नारी केवल उपभोग की वस्तु मानी जाने लगी तो उसे यह अपमान असह्य होने लगा।

आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों ने नर-नारी सम्बन्धों में परिवर्तन ला दिया। शिक्षा के प्रचार और प्रसार ने जागरूकता प्रदान की, जिससे स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में परिवर्तन परिलक्षित होने लगा। आर्थिक विषमताओं ने मध्यवर्गीय परिवारों में कुंठा, ऊब और निराशा भर दी। पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति व्यक्तिवादी होने लगे, भौतिक साधनों की पूर्ति के लिये स्त्री-पुरुष दोनों घर से बाहर काम करने लगे, आपसी सम्पर्क से दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और विवाह सम्बन्धी पूर्वाग्रह एवं मान्यताओं में परिवर्तन परिलक्षित होने लगा। 'परिवर्तित नैतिक मूल्यों के अनुसार शारीरिक पवित्रता ही नैतिक कसौटी नहीं मन की पवित्रता ही नैतिकता की कसौटी रह गई है। 'त्याग पत्र' की मृणाल विषम परिस्थितियों में पड़कर अनेक पुरुषों के सम्पर्क में आती है, फिर भी उसकी आत्मा अव्यभिचारिणी ही रहती है।"[3] शिवनारायण श्रीवास्तव के अनुसार "यदि मन निर्मल है, तो उस शरीर के व्यभिचार से मानवीय महिमा घट नहीं सकती।"[4]

भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'निमन्त्रण' की मालती मानती है 'चरित्र मानसिक सदाचार का दूसरा नाम है जो लोग दुनिया भर के झूठ, सच, छल, प्रपंच, कपट, धूर्तता, ईर्ष्या, द्वेष के खून में रंगे रहते हैं, जो मनुष्य के साथ कुत्ते का-सा

---

१. शान्ति जोशी — 'मेरा मन बनवास दिया सा', पृ० ६१.

२. बिन्दु अग्रवाल — हिन्दी उपन्यास साहित्य में नारी चित्रण, पृ० ३०८

३. डा० त्रिभुवनसिंह — हिन्दी उपन्यास और यथार्थ, पृ० २३० (वि०सं० २०२२).

४. शिवनारायण श्रीवास्तव — हिन्दी उपन्यास, पृ० २०८.

व्यवहार करते नहीं लजाते, जो सत्य और न्याय से दूर रह कर एकमात्र स्वार्थ में ही संलग्न रहते हैं—उन्हें जो समाज चरित्रहीन नहीं मानता, मैं ऐसे समाज को नहीं मानती।''[1]

युगीन लेखकों का ध्येय परम्परागत रूढ़ मान्यताओं का ही पिष्टपेषण करना नहीं है, वरन् वैज्ञानिक चिन्तन के कारण नये परिवेश तथा नये धरातल पर नई समस्याओं पर प्रकाश डालना भी है। नवीन परिप्रेक्ष्य में परम्परागत आदर्शों को भी कुछ लेखक लेकर चलते हैं। वह भौतिकवादी सभ्यता से आक्रान्त मानव की अपेक्षा भारतीय परम्पराओं को, जो युग सापेक्ष हों, मान्यता देते हुए वैज्ञानिक चिन्तन तथा बौद्धिक उन्मेष को महत्त्व देते हैं।

प्रेमचन्दजी ने 'गोदान' में मालती का निर्माण कर भावी नारी के वैयक्तिक विकास को नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। तथा ''आधुनिकता की प्रक्रिया से समझौते का प्रयास किया।''[2]

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में नर-नारी सम्बन्धों के नये आयामों को अभिव्यक्ति मिली है। नारी को सतीत्व और देवी के कटघरों से निकाल कर मानवी रूप में देखने का प्रयास किया जाने लगा। 'नदी के द्वीप' में प्रेम की उपलब्धि, उसकी प्रबल अनुभूति तथा व्यक्तित्व के विकास में उसके महत्त्व को अभिव्यक्त किया गया है। इसमें बाह्य रूप से असामाजिक लगने वाले स्त्री पुरुष के सम्बन्ध व्यक्तित्व को कहीं विकृत नहीं करते। सामाजिक वर्जनाओं की अवहेलना करके रेखा, भुवन के सामाजीकृत व्यक्तित्व में कहीं कोई विकृति नहीं कुण्ठा नहीं आ पाई। उपन्यास में स्त्री पुरुष के सम्बन्धों को लेकर समाज की खोखली मान्यताओं पर तीखा प्रहार किया गया है। 'नदी के द्वीप' उपन्यास पर असामाजिकता का आरोप लगाया गया है। नेमीचन्द जैन के अनुसार 'यह असामाजिकता मूल रूप में वैसी ही असामाजिकता है जैसी मीरा के प्रेम की रही होगी, इसीलिए उसमें वैसी ही सामाजिक निरपेक्षता है, वैसी ही सहन करने की ओर पीड़ा से अधिक पवित्र, सफल और परिपूर्ण होने की क्षमता है।'' लेखक ने मन की भावाभिभूतियों से पीड़ित, विह्वल क्षणों की यथार्थ मन स्थितियों का रेखाचित्र 'नदी के द्वीप' में पाया जाता है। रेखा के व्यक्तित्व में कहीं दैन्य नहीं, विषाक्तता केवल अमानवीय सामाजिक विधि विधान के प्रति है। रेखा अपने सम्बन्धों में स्पष्टता लिये है और अपनी जिजीविषा से सभी पर आच्छादित है। वह भुवन को लिखती है—'निराश मत होओ भुवन! अपने जीवन को परास्त भाव से नहीं, स्रष्टा भाव से ग्रहण करो। एक विशाल पैटर्न है जो तुम्हें बुनना है। तुम्हारी प्रत्येक अनुभूति उसका एक अंग है, प्रत्येक व्यथा एक-एक तार—लाल, सुनहला, नीला

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी – निमन्त्रण, पृ० २९ (तृतीय संस्क० १९६१)

२. डा० इन्द्रनाथ मदान — 'आज का हिन्दी उपन्यास', पृ० १०

मैं · मैं मैं भी उसी ताने-बाने के तारों का पुंज हूं"-तुम्हारे जीवन का एक छोटा-सा फूल। मेरे बिना वह पैटर्न पूरा न होता, लेकिन मैं उस पैटर्न का अन्त नहीं हूं। मैं इसमें सुखी हूं कि मैंने भी उसमें थोड़ा रंग दिया है – शायद थोड़े-थोड़े कई रंग—सब उज्ज्वल नहीं हैं, लेकिन कुल मिला कर वह फूल कभी अशोभिकर या तुम्हारे पैटर्न में बेमेल नहीं होगा।"[1] रेखा का आत्मविश्वास अद्भुत है। वह शेखर : एक जीवनी की शशि की तरह आत्महत्या में ही अपनी समस्याओं का निराकरण नहीं देखती, वह नक्षत्र की तरह देदीप्यमान होना चाहती है किसी की दया की पात्र बनना उसका अभीप्सित नहीं। यशपाल का नर-नारी सम्बन्धों में दृष्टिकोण साम्यवादी है। वे नारी को आर्थिक स्वतन्त्रता दिला कर पृथक् व्यक्तित्व प्रदान करना चाहते हैं। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की महालक्ष्मी का यह निरीह भाव उन्हें मान्य नहीं जो पति के विलायत से विदेशी युवती लाने पर तथा इसका परित्याग कर देने पर भी कहती है–"मुझे इसमें ही सुख है, जिसमें आपको है।" वह नौकरानी की तरह भी रहने को तैयार है।[2] यशपाल की तारा तथा कनक अपनी कर्मठता से व्यक्तित्व की विशिष्टता बनाये हुए है।

नारी स्वभाव से कोमल है। वह विषम परिस्थितियों के कारण चाहे आज उग्र दिखाई देती है, परन्तु स्वभाव की सुकोमलता उसका सहज नैसर्गिक गुण है। 'सामर्थ्य और सीमा' की रानी मानुकुमारी वैधव्य की पीड़ा से आहत है, परन्तु उसका सभी के साथ व्यवहार मृदुल है। वृद्ध मेजर नाहरसिंह रानी के लिये कहते हैं– "कितना सुकुमार, कोमल और विदग्ध व्यक्तित्व है। सौन्दर्य की राजसिकता के अन्दर आत्मा की सात्विकता है। रानी वह मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ा दुःख है।"[3] नशे में लड़खड़ाते मेजर को सहारा दे रानी लाने की मेज पर लाती है। रानी के स्निग्ध स्पर्श से बदहवासी अवस्था में भी मेजर कह उठता है – "रानी वह तुम स्त्री नहीं, देवी हो, कितनी दया, कितनी ममता, कितनी करुणा बटोर लाई हो तुम अपने में। अपनी लक्ष्मी, कल्याणी बहू के चरणों पर प्राण दे दूं यही भगवान से विनय है।"[4] स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में स्त्री सदा अपने अक्षय कोष से दया के मोती लुटाती रही है। रानी के सम्पर्क में देवलंकर इंजीनियर आता है। वह भी रानी की ममता पाकर अपने को धन्य मानने लगता है। वह कहता है – "मेरे अन्दर जो अभाव है उसकी पूर्ति मुझे आपमें ही दिख रही है। आप को पाकर मेरा दर्पपूर्ण अहम् विनय और कोमलता को अपना सकेगा।"[5] नारी ने सदा पुरुष की पूरक बनने का प्रयास किया

---

१. नेमीचन्द जैन – 'अधूरे साक्षात्कार', पृ० २५.

२. भगवतीचरण वर्मा – 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० २०८.

३. भगवतीचरण वर्मा– 'सामर्थ्य और सीमा', पृ० ७२.

४. वही, पृ० ७४,७५.

५. वही, पृ० २६८.

है, परन्तु आधुनिक काल मे नर-नारी सम्बन्धों को लेकर बड़ी आलोचना की जाने लगी है। यह समझा जाने लगा है कि नारी पुरुष की प्रतिद्वन्द्वी हो रही है। यह सत्य है कि शिक्षा क प्रसार, औद्योगीकरण, राजनीतिक चेतना आदि से आज की नारी प्रभावित है। वह अपने को पुरुष म किसी प्रकार हेय नही मानती। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह किसी तरह से पुरुष को नीचा दिखाना चाहती है। सामाजीकरण की प्रक्रिया मे पुरुष के साथ उसके सम्बन्धो के कई आयाम प्रकट हुए हैं, जिसका स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासकारो ने चित्रण किया है।

पहले उपन्यास मे नर-नारी के सम्बन्धो मे परम्परागत रूप ही अधिक चित्रित थे, जैसे शिक्षित पुरुष, अशिक्षित नारी, उनम मॅलएडजस्टमेंट अथवा अनुकूलीकरण का अभाव था इसप्रकार का चित्रण आधुनिक उपन्यासो म भी कभी कभी दिखाई देता है – जैसे अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' म महिपाल तथा उसकी पत्नी का चित्रण अश्कजी के उपन्यास 'गिरती दीवारें' मे चेतन और चदा का अकन। दोनो की पत्ना क साथ भावात्मक एकता नही है, उसे कवल शारीरिक बुभुक्षा शा त करने का माध्यम मानते हैं। इस महिपाल की पत्नी पुरुष जाति की सनातन कमजोरी मानकर सह लेती है। स्त्री पुरुष के इन परम्परागत सम्बन्धो म आकर्षण नही रह गया। नवीन परिवेश मे उपन्यास साहित्य म ऐसे बमानी सम्बन्धों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता।

परम्परागत सम्बन्धो का एक रूप नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' में दिखाई देता है। श्रीधर और सरस्वती के सम्बन्धो मे सरो के गौरव की प्रतिष्ठा तो होती है, परन्तु परम्परागत रूप की अमानुषिकता पीडा की कडुवाहट भी मूर्त रूप स मुखरित हुई है। इस प्रकार की अनन्य निष्ठा और यातना की सहनशक्ति आधुनिक युग मे प्राप्त होना दुर्लभ है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो का नवीन परिवेष म अंकन मोहन राकेश के 'अन्धेरे बन्द कमरे' म हरबस तथा नीलिमा के रूप मे किया गया है। हरब स की इच्छा है नीलिमा नृत्य सीख कर महत्त्वपूर्ण बने, परन्तु साथ ही उसे यह भय भी है कही उसके अधिक सामाजिक मान्यता पा जाने से हरब स का महत्त्व न घट जाये। इसलिए उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को सहन नही कर पाता, जिससे दोनो मे तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस तनाव की स्थिति के चित्रण म उपन्यासकार ने आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारा है।[1] परन्तु डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार "आज की तमाम आधुनिकता के बावजूद इसक लिए उपन्यास मे विराट सामाजिक धरातल और नई प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात की व्यंजना की आवश्यकता थी, जिसमे राकेश सफल नही हुए।"[2]

---

१. इन्द्रनाथ मदान – 'आज का हिन्दी उपन्यास' पृ० ६१

२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - हिन्दी उपन्यास उपलब्धियां', पृ० १३१.

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'काले फूल का पौधा' में मध्यवर्गीय धार्मिक वातावरण में पली गीता तथा आधुनिक वातावरण में पले देवन के विचार-भिन्नता की कहानी है। गीता, देवन के आधुनिक जीवन से सामञ्जस्य नहीं कर पाती, आधुनिक सम्भ्रान्त शिक्षित समाज की सदस्या बनने में उसके धार्मिक संस्कार बाधक हैं, उनसे सामञ्जस्य न होने से विशृंखल जीवन को लेकर पिता के घर लौट जाती है। लेखक ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के तीखे यथार्थ को प्रस्तुत किया है। आधुनिक युग का यह कटु सत्य है जो नव तत्वों के समावेश से आया है। "उपन्यास में मध्यवित्त समाज की विवशता, अशान्ति, सूनापन, अकेलेपन की अनुभूति को अभिव्यक्त किया गया है।"[1]

आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य में विवाहित स्त्री-पुरुषों की किसी तीसरे व्यक्ति के साथ प्रेम-भाव की विवेचना की जाने लगी है, परन्तु इन सम्बन्धों का कोई परिपक्व स्थापन नहीं हुआ। अधिकतर एक पुरुष के दो या दो से अधिक स्त्रियों के साथ भावात्मक या शारीरिक सम्बन्धों को व्यक्त किया गया है, जो नवीनता के प्रति मोह वाली प्रवृत्ति की द्योतक है; जिसमें पत्नी या तो सहनशीला बन जाती है अथवा नितान्त उदासीन, और कभी-कभी आवेश में आकर 'सामीप्य का मोह तोड़ देती है। जैसे 'जाड़े की धूप' की मालती, पति से दूर रहने का प्रयास करती है अथवा भावु-कता, आदर्शवादिता आत्मिकता, से अधिक प्रभावित जान पड़ती है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' उपन्यास में रेखा-भुवन के सम्बन्ध स्वतन्त्र आयाम में चित्रित हैं। रेखा आधुनिक नारी के तेजस्वी अनुपम रूप को प्रस्तुत करती है।

जैनेन्द्र के जयवर्धन उपन्यास में इला और जयवर्धन के सम्बन्ध नैतिक मान्यताओं-मर्यादाओं में आबद्ध हैं, इसीलिए वह पास रह कर भी दूर हैं, क्योंकि अविवाहित हैं इसलिये प्रेम की मर्यादा को किसी प्रकार खंडित नहीं होने देते, चाहे गहरी पीड़ा को वहन किये हैं।

राजेन्द्र यादव के उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' में जया तथा शरद सम्मिलित जीवन व्यतीत करने के इरादे से घर छोड़ कर चले जाते हैं, विवाह न करके भी साथ रहते हैं। लेखक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के बदलते रूपों से पूर्णतया सजग है, परन्तु कोई सफल अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से नहीं प्रगट कर पाया। "वह विवाह को सामाजिक अनुबन्ध मानता है। इसमें पावनता का प्रश्न ही नहीं उठता।"[2] इन्हीं के उपन्यास 'शह और मात' में उदय तथा सुजाता के सम्बन्धों की विशद विवेचना है। सुजाता उदय की बुराई प्रो० वर्मा से सुन चुकी है, परन्तु फिर भी उसकी ओर आकर्षित होती है। वह स्वयं सोचती है—"बदनाम और दुश्चरित्र रूप से पहचाने जाने वाले पुरुषों के प्रति मैंने अपने भीतर एक बड़ा उत्कट और दुर्जेय सा आकर्षण पाया है। साथ

---

१. इन्द्रनाथ मदान-'आज का हिन्दी उपन्यास', पृ० ५६.
२. वही, पृ० ७२.

ही यह भी नहीं लगता कि यह बहुत अस्वाभाविक है। शायद सभी स्त्रियों के साथ यही होता हो।" अर्पणा जिससे सुजाता बड़ी प्रभावित होती है और उसके जीवन का अध्ययन कर उसे अपने लेखन का विषय बनाना चाहती है, सुजाता का राजघरानों में स्त्रियों के साथ पुरुष कैसा व्यवहार करते हैं, उसका वर्णन करते हुए बताती है-"चौबीसों घंटे एक जहर था कि नस-नस मे समाया जा रहा था। भाई के पाँव पर गिर कर रो पड़ी थी तो युवराज को जब यह ज्ञात हुआ कि बिना पर्दे के भाई के सामने जा कर अपना दुःख प्रकट किया है तो युवराज ने कमरे से हंटर निकाल कर इतना मारा-इतना मारा और कहने लगे- हाथी पाँव तले रौंदवा दूँगा—भाइयों के भरोसे मत रहना" इस महल मे किसी का घमण्ड नही चलता। उस दिन अर्पणा अधमरी हो गई थी। परन्तु सामन्ती युग की परिसमाप्ति के बाद स्त्रियों की इतनी हीन अवस्था उन लोगों मे भी नही रही जो अपने को राजघरानों से अभी भी सम्बन्धित मानते हैं। उपन्यास मे प्रेम कथा तो चित्रित है परन्तु इसके माध्यम से युद्धोत्तर-कालीन परिवर्तनशील परिस्थितियों का बड़ी यथार्थता से चित्रण किया गया है। उदय अपने व्यवहार का स्पष्टीकरण देते हुए सुजाता से कहता है-"अगर मैं यह कहूँ कि यह तो सिर्फ शह थी और असल मे तुम मात खा गई हो।"[१] उसे अपने इस व्यवहार से दुःख है कि एक भोली-भाली लड़की को भुलावे मे डाले रहा है और उसी की यह भी इच्छा है कि सुजाता "जैसी अच्छी लड़की से मित्रता का सम्बन्ध बना रहे।"[२] इस तरह स्त्री-पुरुष का एक दूसरे से खुल कर मिलना तथा विवाह से पूर्व एक दूसरे को पहचानने का प्रयास करना परिवर्तित परिस्थितियों के कारण ही सम्भव हो सका है और ऐसे सम्बन्धों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण सवेदनशील है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की विविधता का युगीन उपन्यासकारों ने विशद वर्णन किया है।

---

१. राजेन्द्र यादव-'शह और मात', पृ० ४६ (प्र० सं० १९५९).
२. वही, पृ० २७९.
३. वही, पृ० २७६.

अध्याय ८

नये हिन्दी उपन्यास पर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव

वर्तमान जनतान्त्रिक युग में, उपन्यासों का अन्य साहित्यिक विधाओं में शीर्ष स्थान है। उपन्यासों के माध्यम से युग की जटिलताओं विविधताओं का विषद वर्णन तथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक समस्याओं के सशक्त स्वरूप प्रतिबिम्बित होते हैं।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में राष्ट्रीय जागृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विगत अस्सी वर्षों की अवधि में राष्ट्रीय चेतना की गति बड़ी क्षिप्र रही है और उपन्यासों का विकास राजनीतिक क्रोड में होने के कारण जन-जीवन की राष्ट्रीय भावनाओं का अंकन उपन्यासों में परिलक्षित है।

वर्तमान सामाजिक राजनीतिक उपलब्धियों ने जन-जीवन को नई दृष्टि दी है। प्रगतिशील साहित्यकार जीवन की समस्याओं का अध्ययन करता है, ऐसे में राजनीति को साहित्य से विलग नहीं किया जा सकता। राल्फ फाक्स के अनुसार "साहित्यकार को अपनी रचनाओं में समाज के वर्तमान रूप का चित्रण करना होगा, जनता की मूक अभिलाषाओं को वाणी देनी होगी तभी वह इतिहास के अध्ययन द्वारा जीवन प्रदायिनी शक्तियों का समर्थन करते हुए जनता का मार्ग-दर्शन करने में सहायक होगा।"[1]

भारतीय राजनीति तथा राष्ट्रीय चेतना का आरम्भ १८८५ में कांग्रेस की स्थापना से हुआ परन्तु आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार "कांग्रेस की राजनीति जनता की राजनीति न थी; न तो जनता उसे समझती थी और न जनता को समझने का

१. राल्फ फाक्स : नावल एण्ड पीपुल, पृ० ६०.

जरूरत ही समझी जाती थी।"[1] यही कारण है कि तत्कालीन स्वाधीनता आन्दोलन की गति अति मन्द थी। राष्ट्रीय आन्दोलन, महात्मा गांधी के नेतृत्व में १९१६ से आरम्भ होकर १९४७ तक अबाध गति से चलता रहा। उस समय एक ओर तो गांधी के नेतृत्व में जनता में राष्ट्रीय भावना बलवती हो रही थी, दूसरी ओर हिन्दी उपन्यास अपने विकास के सोपान पर अग्रसर होता हुआ सम-सामयिक राजनीति तथा राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्त कर रहा था, जिसमें प्रेमचन्द का स्थान प्रमुख है।

"गांधी जी ने राजनीति को नया रूप दिया और प्रेमचन्द ने उपन्यासों को नई अभिव्यक्ति, जो सम-सामयिक राजनीति से प्रभावित थी।"[2] दोनों का ध्येय तत्कालीन सामाजिक संघर्ष को तीव्र गति देना था, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन को गति मिल सके। गांधीजी राजनीति को जीवन से अलग नहीं मानते थे और प्रेमचन्द साहित्य को राजनीति से।"[3] प्रेमचन्द ने प्रथम बार गांधीवाद तथा राष्ट्रीय भावना को अपने उपन्यासों में स्वरित किया, जिसके सर्वप्रथम दर्शन 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' में होते हैं। साहित्य जन-जागरण की महत्त्वपूर्ण धुरी है। प्रेमचन्दजी ने भी कहा है – "साहित्य की सृष्टि मानव समुदाय को आगे बढ़ाने-उठाने के वास्ते होती है।"[4] प्रेमचन्दजी के उपर्युक्त उपन्यासों में जन-आन्दोलन अथवा जनता की राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्ति मिली है। गांधीवाद तथा क्रान्तिकारी जीवन के दर्शन हमें जैनेन्द्र के सुनीता, सुखदा तथा विवर्त उपन्यासों में भी होते हैं तद्‌युगीन उपन्यासों में राष्ट्रीय भावनाओं के अंकन के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं का भी व्यापक चित्रण मिलता है।

राहुलजी ने मार्क्स के सिद्धान्तों को उपन्यासों के माध्यम से जनता के समक्ष रखा। मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्त का सामाजिक प्रतिपादन अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'जय यौधेय' में करते हैं। राहुलजी मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं, "वे कभी-कभी उपन्यास में ऐसी जीवन-परिस्थितियों की सृष्टि कर देते हैं जो आरोपित-सी लगती हैं और यौधेय संघ सोवियत संघ का रूप धारण करने लगता है।"[5] राहुलजी ने मार्क्स के अर्थ-वैषम्य के सिद्धान्त को अपने उपन्यास 'विस्मृत यात्री' में चित्रित किया है। नरेन्द्र-यश कहता है "समाज में आर्थिक विषमता ही, दुःख का मूल

---

१. बृजभूषण सिंह 'आदर्श—हिन्दी के राजनैतिक उपन्यासों का अनुशीलन' (१९७०), पृ० १००.

२. वही, पृ० १०१.

३. वही, पृ० १०२.

४. प्रेमचन्द – 'कुछ विचार', पृ० ८८.

५. सुषमा धवन – 'हिन्दी उपन्यास', पृ० १९८.

कारण है।"[1] राहुलजी के ऐतिहासिक उपन्यासों का मूलभूत उद्देश्य साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करना है।

"मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रेरित प्रगतिशील उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे साहित्य की रचना करना था जिसका सैद्धान्तिक आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हो और विषयवस्तु जनसाधारण का जीवन तथा वास्तविक जीवन की सामाजिक-आर्थिक विषमताएँ आदि। किसान, मजदूर, समाज का उपेक्षित और शोषित वर्ग इस साहित्य की मूल चिन्ता रही।"[2] यशपाल भी मार्क्सवादी उपन्यासकार हैं। मार्क्सवाद के वैज्ञानिक विचार दर्शन को पहली बार यशपाल ने अपनी उपन्यास कला में ढाला।[3] 'दादा कामरेड' में इनकी मार्क्सवादी चेतना के दर्शन होते है। 'देशद्रोही' तथा 'पार्टी कामरेड' में राष्ट्रीय घटनाओं के माध्यम से मार्क्सवादी चिन्तनधारा की ही अभिव्यक्ति है। यशपाल मार्क्स की तरह समाज को शोषण के बन्धनों से मुक्त करना चाहते हैं, जिसमें प्रगतिशील क्रान्तिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय मानते हैं।"[4] यशपाल अहिंसावाद तथा आतंकवाद की अपेक्षा 'साम्यवादी जीवन-दर्शन, जिसमें मार्क्सवादी दर्शन का आग्रह है, को महत्त्व देते है।[5] इनके उपन्यास 'पार्टी कामरेड' में साम्यवादी दल की सजीव झाँकियाँ हैं, जिनके द्वारा युग-चेतना को वाणी दी गई है।"[6] इनके उपन्यास 'मनुष्य के रूप' में मनोरमा मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित है और कम्युनिष्ट कार्यकर्ता भूषण से प्रेम करती है।"[7] 'मनुष्य के रूप' में सामाजिक विषमताओं, पूँजीवादी अनैतिकता तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का अंकन है। 'झूठा सच' तथा 'वतन और देश' और 'देश का भविष्य' में देश के सामाजिक और राजनीतिक वातावरण को यथासम्भव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित किया है।"[8] विभाजन के पश्चात् जनता की राष्ट्र के प्रति चेतना का वर्णन करते हुए कहते हैं – "देश का भविष्य नेताओं और मंत्रियों के ही हाथ में नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।"[9]

रांगेय राघव ने अपने उपन्यास 'घरौंदे' में राजनीतिक संघर्ष तथा वर्ग संघर्ष का चित्रण किया है, इनके उपन्यासों में समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण हुआ

---

१. राहुल सांकृत्यायन – विस्मृत यात्री' पृ० ३७२
२. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन – 'हिन्दी उपन्यास कला' (१९६५), पृ० ३११.
३. आलोचना (२१), पृ० ८८.
४. यशपाल – 'बात बात में बात,' पृ० २७ (१९५४).
५. सुषमा धवन 'हिन्दी उपन्यास', पृ० २९१.
६. वही, पृ० २९८
७. लक्ष्मीकान्त सिन्हा – 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास', पृ० ४०५.
८. वही, पृ० ४१०.
९. यशपाल – 'झूठा सच' (दूसरा भाग), पृ० ६०१.

है।'[1] 'विषाद मठ' में बंगाल के दुर्भिक्ष का नग्न चित्रण तथा पूँजीवाद की भर्त्सना की गयी है।

भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में भारतीय विचारधाराओं की पृष्ठ-भूमि पर विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के आपसी संघर्ष का चित्रण कर तत्कालीन राजनीतिक वातावरण का चित्रण किया गया है। वर्माजी इस उपन्यास में युग की सम्पूर्ण राजनीतिक चेतना को मूर्त करना चाहते हैं।[2]

इस प्रकार स्वातन्त्र्यपूर्व उपन्यासों में तत्कालीन राजनीतिक विचारधाराओं तथा राजनीतिक गतिविधियों का अंकन परिलक्षित होता है, साथ ही गांधीवाद में उपन्यासकारों की आस्था के दर्शन होते हैं।

हिन्दी कथा साहित्य पर राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा, आन्दोलनों से सामाजिक जीवन में क्रान्ति आई। स्वाधीनता संग्राम देश की चेतना का केन्द्र-बिन्दु था। अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं का भी जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। रूस की सर्वहारा क्रान्ति से भारत का किसान मजदूर वर्ग भी अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गया और देश की प्रत्येक गतिविधि में अपने योगदान के दायित्व को समझने लगा परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष में लोगों की जो आस्था गांधीवाद में थी उस भावना का ह्रास होने लगा।

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में युग-चेतना तथा राजनीतिक विचारधारा कई आयामों में मुखरित होने लगी। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूंद और समुद्र' में सर्वोदयी भावना का स्वरूप उभरा है। इस उपन्यास की मूल भावना सर्वोदय समाज की स्थापना है। बाबा रामजी के रूप में सन्त विनोबा की वाणी मूर्त हो उठी है।[3]

गांधीवाद के ह्रास का कारण है मार्क्सवाद से प्रभावित समाजवादी चेतना का विस्तार तथा भौतिकवादी चिन्तनधारा।

स्वतन्त्र भारत के बदलते सामाजिक राजनीतिक धार्मिक परिवेश ने साहित्यकारों की चिन्तन धारा को प्रभावित किया। परिवर्तित परिस्थितियों ने परम्परागत जीवन मूल्यों पर प्रभाव डाला। राजनीतिक परिस्थितियों और व्यक्ति के साथ उनके सम्बन्धों का विवेचन राष्ट्रीय प्रभाव के कारण उपन्यासकार करने लगे। भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगा मैया', 'मशाल', 'सती मईया का चौरा' में राजनीति से प्रभावित जीवन के सभी पक्षों का अंकन है। उपन्यासों में देहाती जीवन का दैन्य पीड़न चित्रित है, जिसके समाजशास्त्रीय विवेचन से ज्ञात होता है कि ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति आर्थिक परिवेश की विषमता के कारण या तो नीरस यांत्रिक जीवन व्यतीत

१ सुरेश सिन्हा – हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास', पृ० ४८

२. डा० चण्डीप्रसाद जोशी – 'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन', पृ० ४००,

३. डा० ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' – हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन, पृ० १०७

करता है अथवा आक्रोश से भर कर क्रान्ति करता है। "गंगा मैया में लेखक समाज के मूल में क्रान्तिकारी शक्तियों को पहचान कर उदयशील चेतना की अभिव्यंजना करने में सफल हुआ है।"[१] 'गंगा मैया' में नव-जीवन अनुप्राणित करने का प्रयास लेखक ने किया है। "गोदान का होरी जो व्यक्तिगत तथा समष्टिगत विवशताओं को लिये मर जाता है, परन्तु वही गंगामैया में मटरू के रूप में जी उठा है।"[२] परन्तु वह परिस्थितियों से संघर्ष कर उन पर विजय पाने का सतत प्रयत्न करता है। 'मटरू होरी का विकसित रूप है, जो सामूहिक किसानों को जीवन का आधार बनाकर जमींदारों के अत्याचार के विरुद्ध सम्पूर्ण शक्ति से लड़ता है।"[३] परन्तु मटरू 'परती, परिकथा' का जितन नहीं बन सका और गुप्तजी रेणु से आगे नहीं बढ़ पाते।[४] राष्ट्रीय प्रभाव के दर्शन आंचलिक उपन्यासों में भी होते हैं। "आंचलिक उपन्यास राष्ट्रीय उपन्यास का ही एक सीमित-संकुचित रूप है, जिसमें लेखक उसके अन्तरंग जीवन को इस प्रकार उभारता है कि उसकी अनन्य सामान्यता पाठक पर स्पष्ट प्रभाव डालती है।"[५] भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'मशाल' में समाजवादी चेतना ही मुखरित है, तथा मजदूर आन्दोलन का चित्रण है। मजूर कहता है—"दुनिया की हर चीज पर सरमायादारों ने हक जमा रखा है, हमें बेवकूफ बनाकर वे हमसे गुलामों की तरह काम कराते हैं और हमारी मेहनत की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं।"[६] लेखक ने श्रमिक वर्ग के संघर्ष के चित्रण द्वारा समाजवादी अथवा साम्यवादी चेतना को अभिव्यक्ति दी है।

'सती मैया का चौरा' में भी किसानों का जीवन तथा संघर्ष चित्रित है। ग्रामीण जीवन के अनेक पहलुओं का सजीव चित्रण किया गया है।

युगीन परिवेश ने उपन्यासकारों को अत्यधिक प्रभावित किया, "भारत विभाजन से सामाजिक मूल्यों पर गहरा प्रभाव पड़ा।" ऐसे समय में स्त्रियों पर नृशंस अत्याचार, सामूहिक पलायन, साम्प्रदायिक विद्वेष और भयानक चारों ओर बढ़ता गया। 'सती मैया का चौरा' उपन्यास में युगीन स्थितियों का प्रभाव दिखाई देता है। मुन्नी, कांग्रेस के भ्रष्टाचार से क्षुब्ध होकर वर्ग चेतना पैदा करना चाहता है ताकि वर्ग-संघर्ष के द्वारा जनता मुक्ति की लड़ाई लड़ सके।[७] और वर्ग-चेतना भी रूस और चीन के तरीकों की हो जिसे कांग्रेसी सत्ता के विरुद्ध लाना चाहता है। मुन्नी

---

१. सुषमा धवन—'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३०६.
२. वही, पृ० ३११.
३. वही, पृ० ३११.
४. डा० बेचन—'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास' पृ० १९०.
५. महेन्द्र चतुर्वेदी—'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण' (१९६२), पृ० १६०.
६. भैरवप्रसाद गुप्त—'मशाल' (१९५१), पृ० १०८.
७. भैरवप्रसाद गुप्त—"सती मैया का चौरा" (१९५९), पृ० ५६४.

के अनुसार "भारत मे इन्सानो की शक्ति सोयी पडी है और उसे जगाने के लिये रूसी और चीनी नेताओं की तरह आदमियो की जरूरत है। हमारे यहाँ के सफेदपोश नेताओ और अफसरो को प्रलय तक इसकी समझ नही आयेगी।"[1]

उपन्यास मे कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, जनसघ और लीग के राजनीतिक सिद्धान्तो की आलोचना की गई है। कांग्रेस की सचालित योजनाओ की असफलता का चित्रण इस प्रकार किया गया है—"बीज मिलता है परन्तु खेत मे न जा कर स्वार्थियो के पेट मे जाता है। सभापति के घर मे रेडियो बजता है, पचायती कार्यक्रम चलता है, पर सुनने वाला कोई नही " अखबार और न जाने कितना साहित्य आता है, परन्तु पढने-पढाने वाला कोई नही। पचायत का सेक्रेटरी उसको बटोर कर बनिये के यहाँ बच आता है।"[2]

मुन्नी साम्यवादी ज्ञान, यूथ लीग, स्टडी सर्किल ए जिल्स, मार्क्स लेनिन साहित्य से प्राप्त करता है और गाँव की प्रगति के लिये अपनाये गये हिंसात्मक कार्यों को अनुचित नहीं मानता। उपन्यास मे परम्परा और पीढियो का सघर्ष दिखाया गया है। एम०सी० दुबे ने भी अपनी पुस्तक 'इण्डियासचेंजिंग विलेजेज मे पचायत समिति के कार्यों की आलोचना की है। 'मुन्नी का मत है सर्वसाधारण की भलाई के लिये कुछेक को दबाने की जरूरत पडे तो इसम क्या बुराई है।"[3]

सक्रान्ति काल में मानवीय उदात्त भावनाए प्रम, करुणा विश्वास, सहानुभूति विलुप्त हो जाती हैं। ऐसी स्थिति मे परिवार से बिलग हुई स्त्रियो को आत्महत्या या सतीत्व की बलि दे आत्म-हनन करना पडता है, क्योंकि ऐसी उत्पीडित नारियों के लिये समाज, परिवार मे स्थान नही रहता, उन्हें घृणा तथा उपेक्षा ही समस्त ओर प्राप्त होती है। समाज बहिष्कृता नारी के लिये, इस अग्निपरीक्षा की वेला मे, आदर्शों की रक्षा कर पाना कठिन होता है। विभाजन के उपरान्त भी इस विभीषिका की शिकार नारी को बहुत सहना पडा है। "जितनी निममता एव बेशर्मी से इनके साथ व्यवहार किया गया वह न केवल स्त्री जाति के लिये अपमानजनक बात थी, वरन् समूची मानवता के लिए लज्जा एव ग्लानि की बात थी।"[4]

'झूठा सच' मे इस असह्य अवस्था का यथार्थ चित्रण है। उपन्यास मे विभाजन की विभीषिका और उसके उत्तर प्रभाव का विशद और जीवन्त चित्र उभारा गया है[5] ऐसे समय मे जीविका की समस्या बडो विकट रूप से समक्ष आई।

---

१. भैरवप्रसाद गुप्त— 'सती मैया का चौरा', पृ० ६०१
२. वही, पृ० ६२४.
३ वही, पृ० ६०५
४. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय —'हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ', पृ० १२५.
५ रामदरश मिश्र—'उपन्यास एक

समाजशास्त्रीय आधार पर यह सामाजिक विघटन का काल था जब कि बेकारी, बेरोजगारी, चोरी, अपराध आदि विघटनकारी तत्वों की वृद्धि हो गई। देश को खाद्य समस्या, आवास की समस्या, जनसंख्या की समस्या का सामना करना पड़ा। जीविकोपार्जन के लिये लोगों को घोर संघर्ष करना पड़ा, जिसने लोगों में आत्मविश्वास का भाव पैदा किया, परन्तु कभी-कभी शरणार्थियों की सेवार्थ निकले हुए कुछ लोग विवश नारियों से लाभ उठाने के लोभ का त्याग न कर पाते थे। 'झूठा सच' में यशपाल ने आपसी सम्बन्धों की विविधता तथा असंगतियों का सजीव वर्णन किया है। इन्होंने तारा-कनक जैसी आत्मविश्वासी स्वावलम्बी नारियों के साथ सती जैसी विवश नारी का भी चित्रण किया है। "उपन्यास में कांग्रेस के प्रति जनता की अनास्था तथा कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धान्तों तथा सन् १९४६ से १९५६ तक की गतिविधियों का चित्रण है।"१ 'झूठा सच' के दूसरे भाग 'देश का भविष्य' में साम्यवादी पात्र कांग्रेस की आलोचना करते हैं। लेखक ने मार्क्सवाद के वैज्ञानिक विचार-दर्शन को उपन्यास कला में ढालने का सफल प्रयास किया है।

"स्वाधीनता के पश्चात् राष्ट्रीय चेतना से युक्त उपन्यासों की रचना हुई, जिसमें अश्कजी कृत 'बड़ी-बड़ी आँखें', रेणु कृत 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा'; भगवतीचरण वर्मा का 'सबहि नचावत राम गोसाई'; चाणक्य सेन का 'मुख्यमन्त्री' (माया गुप्त द्वारा अनुदित), रामदरश मिश्र का 'जल टूटता हुआ' आदि हैं। "अश्क जी के उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' में वर्तमान प्रशासन-व्यवस्था पर प्रच्छन्न व्यंग्य है।"२

रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' को अश्कजी 'गोदान' के बाद का मील स्तम्भ मानते हैं।[३] उपन्यास में राष्ट्रीय जागरण, नवनिर्माण तथा स्वतन्त्रता के बाद विभिन्न योजनाओं के प्रति लोगों की आशा-निराशा का चित्रण है। विश्व युद्ध के खतरे और विश्व शान्ति के प्रयास, जो सुश्चेव की भारत यात्रा से और भी बलवती हुए आदि भावनाओं का चित्रण है।[४] 'परती : परिकथा' में भूमि सम्बन्धी कानूनी सुधार के कारण प्रगति तथा परम्परा के संघर्ष का चित्रण है। "परती : परिकथा में स्वतन्त्रता के पश्चात गाँवों के आर्थिक संगठन एवं सामाजिक रूपविधान की हलचलों का अंकन है।"५

'जल टूटता हुआ' में रामदरश मिश्र ने कांग्रेस सरकार की कमजोरियों का पर्दाफाश किया है तथा उनकी कथनी और करनी का अन्तर बताया है। वृन्दावन लाल

---

१. डा० व्रजभूषण सिंह-'आदर्श' हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन, पृ० २२७

२. वही, पृ० १०६

३ आलोचना (१५), पृ० ११०.

४. डा० बेचन-'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र विकास' पृ० १६९.

५. डा० सुरेश सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास', पृ० ५४०।

वर्मा के उपन्यास 'अमर बेल' मे सहकारी भावना के द्वारा नव-निर्माण का संदेश दिया गया है।[१] 'यह पथ बन्धु था' मे नरेश मेहता ने तत्कालीन राजनीति का सुन्दर चित्रण किया है। एक ओर आतंकवादी उग्र दल के लोग हैं, परन्तु स्वार्थग्रस्त नहीं हैं दूसरी ओर कांग्रेसी आन्दोलनकर्त्ता, खादी बोर्ड आदि संस्थाओं को बनाकर स्वार्थ सिद्ध करते हैं। चुनावों में कई प्रकार के निम्नस्तरीय हथकण्डे अपनाते है। उपन्यास का पात्र विशन खादी भण्डार तथा कार्यकर्त्ताओं पर व्यंग्य करते हुए कहता है—'यहाँ सब चरखा कातते हुए भेड़िये है जिन्होंने अपने खूनी नख गोमुखी मे छिपा रखे हैं।'[२]

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सबहि नचावत राम गोसाईं' मे युग की यथार्थवादी तस्वीर चित्रित है इन्होंने स्वाधीनता के बाद कांग्रेस राज्य में किस प्रकार चोरबाजारी, भ्रष्टाचार और डाकेजनी का बोलबाला है, उस पर व्यंग किया है। लोग अपने आपको बदल कर कामयाबी का सेहरा बाँधते हैं। उपन्यास में राजनीतिक उठा पटक हैं, जिसमे लोगों के बाने बदल गये हैं। घूस का किस प्रकार चारो ओर साम्राज्य है, लेखक ने उसे व्यक्त किया है। मुनाफ का दशम् भाग भगवान के नाम मे ब्राह्मणो को अर्पित करने की व्यवस्था धर्मशास्त्र मे है " भगवान अकेले ब्राह्मणो में ही नही हरेक आदमी मे हैं, खास तौर से उन छोटे-बडे सब आदमियो मे जो बेईमानी और लूट मे राधेश्याम की सहायता करते हैं। यह दशमांश अगर चतुर्थांश बना दिया जाये तो आमदनी बेतहाशा बढ सकती है, राधेश्याम ने जल्दी ही यह अनुभव कर लिया। लिहाजा कमसेरियट के क्लर्क अकाउन्टन्ट और अफसर, इनके पास मुनाफे का अथवा लूट का चौथा हिस्सा पहुँचा देना उसने अपना नियम बना लिया था, जिसके फलस्वरूप उसकी पूँजी पचीस लाख से ऊपर पहुँच चुकी थी।[३]

लोग अपने लाभ के लिये किस प्रकार अपना असली रूप छिपाये रहते हैं, इसे पर कवि झक्क बात रामलोचन से कहता है—"मेरी यह सब बातें बनावटी हैं, शायद आज की दुनिया ही बनावटी बातों की है। सच बात तुम कह नही सकते, क्योकि सत्य हमेशा टकराता है, घुलने-मिलने की चीज तो बनावट है। तो भाई डियर रामलोचन बनावट ही जिन्दगी है, सत्य तो मौत है।"[४] उपन्यास मे प्रमुखतया इन लोगों का वर्णन है—त्यागमूर्ति, राधेश्याम (ब्लेकमार्केटियर), जबर सिंह तथा रामलोचन, डी० एम० पी०, स्त्रीपात्र धनवत कुंवर, रश्मि और हमीदा। कैसे जीवट वाले व्यक्ति हमारे चारों ओर जी रहे हैं और हम उनमें जी रहे हैं ?"

---

२. डा० ब्रजभूषण 'आदर्श'—हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन, पृ० १०६.
३. नरेश मेहता—'यह पथ बन्धु था', पृ० २१७.
४. भगवतीचरण वर्मा– सबहि नचावत राम गोसाईं', पृ० ३३ (१६७०).
५. वही, पृ० २६४.

अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' में भी राजनीतिक चुनावों की हलचलों का वर्णन है। हमारे देश में वोट गिराना आदि चुनावों की सरगर्मियों का रोचक वर्णन है। सज्जन-वनकन्या के माध्यम से भी राजनीति के जीवन की अवसरवादिता, सिद्धान्तहीनता पर प्रकाश डाला गया है। जाति-भेद के कारण सामाजिक-वैषम्य पर महिपाल का मत है—"जब तक हिन्दुस्तान में यह जटिल जाति-भेद रहेगा, हम कितना सुधार करने पर भी, समाज को मानव-समाज के रूप में प्रतिष्ठित करने में असमर्थ रहेंगे।" यह जातिवाद किसी समय भारत की शक्ति और उसके बाद हमारे निरन्तर पतन का कारण रहा है। हमारी नागरिक सभ्यता महाजनी गणतन्त्र की सभ्यता है, जिसका आधार आर्थिक है। जब तक वह पूरी तौर पर नहीं टूटता तब तक जाति-विधान नहीं टूट सकता।[1]

राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' उपन्यास में कांग्रेस में आये भ्रष्टाचार पर प्रकाश डाला गया है। नेता देशबन्धु के चित्रण में समसामयिक जीवन में पाई जाने वाली अनीति, छल-कपट तथा यौन-कुण्ठा का चित्रण किया है।[2] उपन्यास का मूल स्वर मार्क्सवादी विचारधारा है, जो अन्य प्रगतिवादी कथाकारों के चिन्तन की भांति यान्त्रिक न हो कर गतिशील है।[3] यादव की कथाकृतियों में मार्क्सवादी चिन्तन के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया गया है।[4]

आधुनिक हिन्दी उपन्यासकारों में राजनीतिक परिस्थितियों का वर्णन समाजशास्त्रीय धरातल पर अधिक गहनता, विदग्धता तथा तीव्रता से हुआ है, साथ ही राजनैतिक ऊहापोह अथवा उसका भंडाफोड़ करने का भी प्रयास उपन्यासकार करता है। यही कारण है कि युगीन उपन्यासकार सामाजिक गतिशीलता के मूलभूत आधारों और व्यक्तिगत जीवन के साथ गहरी आत्मीयता का परिचय देने का प्रयास करते हैं। आज का उपन्यासकार राजनीतिक मान्यताओं, सिद्धान्तों के विषय में पहले से अधिक तटस्थ, सतुलित दृष्टिकोण लेकर चलता है। वह अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से राजनीतिक मतवादों की आलोचना करता है, उनका मूल्यांकन करता है। "यूरोप के सम्पर्क ने हमारे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक मान-मूल्यों को अत्यधिक प्रभावित किया। उसके प्रभाव से हमारे राजनीतिक जीवन में राष्ट्र-भाव की भावना उत्पन्न हुई। पाश्चात्य साहित्य की वैयक्तिक सत्ता की भावना ने भौतिकवादी चिन्तन तथा बौद्धिक उन्मेष ने वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की चेतना को क्षिप्रता प्रदान की। स्वतन्त्रता संग्राम में गांधीजी के नेतृत्व में पुरुष ही नहीं, नारी का भी सक्रिय योगदान है—यह प्रेरणा भी पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति के सम्पर्क से प्राप्त हुई। पाश्चात्य साहित्य में

---

१. अमृतलाल नागर—'बूँद और समुद्र', पृ० ५५७

२. सुषमा धवन—'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३२४.

३. वही, पृ० ३२५.

४. डा० बेचन—'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में चरित्र विकास,' पृ० २०३.

नारी ने गौरव पाकर भारतीय साहित्य में भी एक क्रान्ति को जन्म दिया।''[1] और भारतीय नारी भी आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी बनने की चेष्टा करने लगी। ''प्रेमचन्द युग अथवा प्रेमचन्दोत्तर युग का लेखक अपनी बात का, समाज के प्रति अपने विद्रोह का, दबी जुबान से अथवा मनोविज्ञान या दर्शन के आवरण में लपेट कर प्रस्तुत करता था किन्तु आज का उपन्यासकार निर्भीक होकर समाज के प्रति अपने आक्रोश को व्यक्त करता है।''[2] स्वतन्त्र्योत्तर युग की विशेषता है कि प्रजातन्त्रीय प्रणाली में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का हनन नहीं किया जा सकता तथा विचारों के प्रकटीकरण में किसी को रोका नहीं जा सकता। इसीलिये बीसवीं सदी के सातवें दशक के लेखकों को अपनी बात समाज के समक्ष रखने के लिये किसी ओट की आवश्यकता नहीं। वे निःसंकोच रूप से प्रत्यक्ष भाव की अभिव्यक्ति करता है। यही कारण है कि प्रजातन्त्र शासन प्रणाली की राष्ट्रवादी भावनाओं के परोक्ष में क्रियाशील स्वार्थ प्रवृत्तियों का नग्न चित्रण रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' तथा श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' में परिलक्षित है। चुनाव के नाम पर तथा अपने पद-प्रतिष्ठा के नाम पर व्यक्ति कितने दावपेच खेलता है, उसका यथार्थ अंकन है। यह व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का ही प्रभाव है कि समानता की दुहाई देने वाले अपने स्वार्थों में किस प्रकार लिप्त हैं। उपन्यासकार ने उसका विषद् वर्णन किया है। 'कोई नये पुल बनवाता है कोई सड़कें बनवाता है, कोई गरीबों को अन्न और कम्बल दान करता है। उसी हिसाब से रामहीन के भैया ने चबूतरे के आसपास का नक्शा बदलने की कोशिश की।'[3] लोगों के व्यक्तिगत स्वार्थ ही अधिक प्रबल हैं। ''एकता के प्राचीर टूट रहे हैं, ऊपर से एकता का कृत्रिम आवरण है, जो जगह-जगह से दरक रहा है।''[4] उपर्युक्त लेखकों ने राष्ट्रीय भावना के परोक्ष में किस प्रकार राजनीतिक कूट चालें चली जाती हैं, उनका सटीक चित्रण किया है।

स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त सामाजिक राजनीतिक सजगता के कारण सामाजिक सन्दर्भ में व्यक्ति की दृष्टि से अधिक सोचा जाने लगा है। मानवीय संवेदना के आग्रह के कारण आचरण की असंगतियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर जानने का प्रयास किया जाने लगा है। यह फ्रायडियन विचारधारा का प्रभाव है, जिससे हिन्दी उपन्यासकार अत्यधिक प्रभावित हुए। जैनेन्द्र, अज्ञेय इलाचन्द्र जोशी आदि ने फ्रायड के अनुसार मन की तीन अवस्थाओं को मान्यता दी है—चेतन मन, अवचेतन मन तथा अचेतन मन, जिनका चित्रण इन उपन्यासकारों ने किया है। मनोविज्ञान के समावेश से उपन्यासों में चरित्र विकास का नया द्वार खुला और कलासौन्दर्य में भी अभूतपूर्व

---

१ कान्ति वर्मा स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ० १४१.

२ डा० महेन्द्र चतुर्वेदी—'हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण' (प्र० स० १९६२), पृ० १८५–६

३. श्रीलाल शुक्ल—'रागदरबारी,' पृ० २६०.

४ रामदरश मिश्र—'जल टूटता हुआ' की भूमिका से।

की वृद्धि हुई।[१] मनुष्य के मानवीय पक्षों का अधिकाधिक उद्घाटन हुआ। परिणाम-स्वरूप सामाजिक बंधन अस्वीकार किये जाने लगे।[२] इलाचन्द्र जोशी के अनुसार परम्परागत संकीर्ण आदर्शों और सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति विद्रोही होने का साहस जिसे नहीं होता, वह असामाजिक होता है। "सामाजिक कुप्रथाएँ समष्टिगत मानव मन के परम्परागत अन्धसंस्कारों से उत्पन्न मकड़ी के जाले हैं, उनकी सफाई करने के बाद ही मनुष्य अधिक आन्तरिकता से उस मकान को अपना सकता है।[3] फ्रायडियन दर्शन ने साहित्य एवं संस्कृति को प्रभावित किया। "अब न केवल सेक्स सम्बन्धी मान्यताओं का विरोध हुआ बल्कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत की भी उपेक्षा होने लगी।"[४] सेक्स सम्बन्धी कुंठाओं को युगीन उपन्यासकार निर्बाध रूप से चित्रित करने लगे।

फ्रायड के अनुरूप प्रसिद्ध लेखक कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों ने भी हिन्दी उपन्यास-कारों को प्रभावित किया। मार्क्सवाद में हमें जर्मनी का दर्शन, इंगलैण्ड का अर्थ-शास्त्र, फ्रांस का समाजवाद तथा अन्य क्रान्तिकारी विचारधाराओं के एक जगह दर्शन होते हैं।[५] मार्क्स ने अपने दर्शन को व्यवहारिक रूप देने का प्रयास किया। भारत ने पाश्चात्य भौतिकवादी तथा अर्थमूलक संस्कृति से प्रभावित होने के कारण मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद का स्वागत किया। पहले जहाँ जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था, उसके स्थान पर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र, धर्मनिरपेक्ष समाज, धर्मनिरपेक्ष कानून तथा धर्मनिरपेक्ष चिन्तन को महत्त्व दिया जाने लगा। भौतिक जगत में ही पारलौकिक संसार की कल्पना साकार की गई। आध्यात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा, भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रधानता मिली।[६] इस प्रकार भारतीय चिन्तनधारा पर अन्तर्राष्ट्रीय विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। विश्व में विज्ञान की चरमोन्नति के परिणामस्वरूप समस्त चिन्तन पद्धति बौद्धिकता का आग्रह करने लगी, आध्यात्मिक तथा भावात्मक चिन्तन के स्थान पर वैज्ञानिक चिन्तन सर्व-स्वीकृत हुआ।[७] फलतः उपन्यासकारों में परम्पराओं के अन्धानुकरण के स्थान पर तर्क तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आग्रह को प्रधानता दी गई, परन्तु अत्यधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण "समाज तथा संस्कृति की उपेक्षा करके परिस्थितियों को नियामक शक्ति मान लिया जाता है। व्यक्ति वैज्ञानिक की भाँति तटस्थ तथा विवश मान लिया जाता है"

---

१. डा० बेचन–आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास, पृ० १४८.
२. शिवनारायण श्रीवास्तव–हिन्दी उपन्यास, पृ० २५४.
३. इलाचन्द्र जोशी विवेचना पृ० १०६
४ चण्डीप्रसाद जोशी हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ४१३.
५. डा० रामविलास शर्मा–'प्रगति और परम्परा', पृ० ३८ (१९३९).
६. चण्डीप्रसाद जोशी–हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ४१४.
७ वही, पृ० ४१५

और व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा के लिये व्यग्र रहता है। समाज का बौद्धिक वर्ग इसे भी दर्शन का रूप दे देता है। अस्तित्ववाद तथा क्षणिकवाद इसी मन स्थिति की उपज है।' [1] अस्तित्ववाद के दर्शन अज्ञेय जी के 'अपने-अपने अजनबी' में होते हैं। अस्तित्ववाद का जन्म यूरोप में दो विश्व युद्धों के आतंकपूर्ण वातावरण के कारण हुआ क्योंकि जीवन के प्रति विश्वास खो देने से तथा भविष्य की अस्थिरता के कारण वह प्रत्येक क्षण को समेट लेना चाहते थे और कुंठित वातावरण में अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहते थे। इसी मरणशील पाश्चात्य संस्कृति को वस्तुस्थिति मान कर कतिपय साहित्यकारों ने अपना लिया और अस्तित्ववाद तथा अणुवाद उनके लिये महान् दार्शनिक मीमांसा बन गये।' [2]

पूर्व प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों का काम सम्बन्धी दृष्टिकोण घोर नैतिक था, परन्तु युगीन उपन्यासकारों पर पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव है, 'मध्यवर्गीय कुंठाओं से पीड़ित लेखकों ने फ्रायड के दर्शन तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों के विचारों में ही स्वातन्त्र्य का प्रकाश देखा।' [3] जिसमें इलाचन्द्र जोशी अज्ञेय, यशपाल भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि ने काम सम्बन्धी नैतिक मूल्यों को ठुकराया है। यशपाल फासिस्ट देशों की नैतिकता का प्रमाण देते हुए लिखते हैं– जर्मनी में लड़कियों और स्त्रियों ने अपने चुम्बन बेच बेच कर युद्ध के समय देश की सहायता के लिये रुपया इकट्ठा किया था और जापान में वेश्यावृत्ति द्वारा देश की सहायता के लिये धन कमाया था। इस देश में ऐसे काम को किसी भी भावना से नहीं सहा जा सकता।" [4] परन्तु भारतीय संस्कृति-नैतिकता पर फासिस्ट देशों की संस्कृति आरोपित करना समाजशास्त्रीय दृष्टि से अनुचित होगा।

इलाचन्द्र जोशी मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद दोनों को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। उनके अनुसार 'बाह्य जगत का गतिशील क्रम अन्तर्जगत का निर्माण करता है दूसरी ओर अन्तर्जगत के वही संस्कार बाह्य जगत पर अज्ञात में अपना प्रभाव डालते जाते हैं इसलिए एक महान् सत्य के इन दो चरम पहलुओं को समान भाव से अपनाने की चरम आवश्यकता है।" [5]

वर्तमान युग के राजनीतिक परिस्थितियों में बदलते हुए मानव मूल्यों का सजीव अंकन लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'रूपाजीवा" में हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के समय जब राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल था भारतीय पूंजीवादी, अंग्रेजों के ही गीत गाते थे। ये अंग्रेज और यह गांधीजी का सत्याग्रह यूरोप में लड़ाई की

---

१ चण्डीप्रसाद जोशी – हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ४१६
२ वही, पृ० ४१७
३ वही, पृ० ४२६.
४ वही, पृ० ४२७
५ इलाचन्द्र जोशी, विवेचना, पृ० २२.

कम्युनल देन अदर मोहम्डन्स – हमारे हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट ड्रामेटिक बहुत हैं। हर बात में रूस और चीन की तरफ भागते हैं।"[1] हड़तालों में मजदूरों के विचार, मार्क्सवाद का पुष्टिकरण करते हैं। जिन्दा रहोगे तो तुम्हारा खून मिलों में निचोड़ा जायेगा – तुम चाईनारों से जल-जल कर मरोगे और वैसे मरने से इन्कार कर दोगे तो नतीजा सामने है – जब तक यह गद्दर के दूध के धुले चोगे पहने राक्षस तुम्हारी हमारी छातियों पर हैं – हमारी किस्मत यही है।[2] मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार शोषण के विरुद्ध विद्रोह के स्वर मुखरित हैं और देश को साम्यवाद की आवश्यकता है, यह मानते हैं। सट्टेशाही और कांग्रेसी राज मुर्दाबाद के नारे लगाते हैं।[3]

उपन्यास में मार्क्सवाद को महत्त्व दिया गया है। साम्यवादी चेतना नागार्जुन के उपन्यासों में भी पाई जाती है। नागार्जुन का उपन्यास 'बलचनमा' सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। देश की राष्ट्रीय संस्था में जमींदारों के ही नाते-रिश्तेदार प्रविष्ट हो गये हैं जो किसानों-मजदूरों का अहित करते हैं। फूल बाबू का चरित्र इसी प्रकार का है। रूस की क्रान्ति के पश्चात् लेनिन ने सभी मजदूर वर्ग और किसानों से आग्रह किया था कि कभी भी ऐसे व्यक्ति को किसी उत्तरदायित्व-पूर्ण पद पर न जाने देना, जिनके माँ-बाप आदि जमींदार, साहूकार या जारशाही के नौकर रहे हों यदि वे इन पदों पर पहुँच गये तो अपनी पुरानी प्रवृत्तियों को उभार कर जनता का सही शासन न स्थापित होने देंगे।[4] लेखक ने कहा है 'पहले अंग्रेज लूटते थे, अब काले अंग्रेज, शहरों के पूँजीपति आदि जनता का शोषण करते हैं।' सोशलिस्टों के नेतृत्व में किसान संग्राम में बांस की छिपाटी पर हँसिया हथौड़ा वाला झंडा फहरा उठता है। रोजी रोटी की लड़ाई के बहादुर सिपाही जान-शान को छोड़ आपस में कामरेड हो जाते हैं। 'बाबा बटेसर नाथ' में भी साम्यवादी चेतना का अंकन है। 'वरुण के बेटे' उपन्यास में साम्यवादी ग्रामीक कार्यकर्ता, जो राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में निम्न कार्यों से क्षुब्ध हो हँसिया-हथौड़ा मार्का, लाल झंडे वाली सभा का नेता बन जाता है और मछुओं के संघर्ष में उनका सहयोगी बन जाता है। लेखक ने वर्ग-संघर्ष की भावना से सामाजिक-असामाजिक तत्त्वों का चित्रण किया है।

नागार्जुन का 'उग्रतारा' समाजवादी चेतना से परिपूर्ण उपन्यास है। उनके उपन्यासों में राष्ट्रवादी-सामाजिक स्थितियों का जीवन्त चित्रण पाया जाता है और *'उग्रतारा' में मनोविश्लेषणवादियों की तरह अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण भी यथार्थवादी* शैली में किया है। 'दुखमोचन' उपन्यास में नागार्जुन ने सर्वोदयी भावना का चित्रण

---

१. राजेन्द्र यादव – 'उखड़े हुए लोग', पृ० ४६.

२. वही, पृ० २३१.

३. वही, पृ० २७२.

४. व्रजभूषण सिंह 'आदर्श—हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ० ४११.

किया है । दुखमोचन' मे मानवीय शक्ति का प्रतिपादन किया है 'सब लोग जियें और एक दूसरे के साथ जियें ।'[1] इस प्रकार समाजवादी चेतना प्रबल हो रही है । राजनीतिक स्वतन्त्रता के कारण विभिन्न राजनीतिक दल अपने अपने विचारों का प्रचार करते हैं । उपन्यासों के माध्यम से गांधीवाद साम्यवाद, सर्वोदय, समाजवाद, मार्क्सवाद, आदि विचारधाराएं जनता को प्रभावित करती रही है ।

(क) राष्ट्रीयता बनाम अन्तर्राष्ट्रीयता

हिन्दी उपन्यासो मे राष्ट्रीयता की भावना से अवगत होने के लिये, उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है —

(१) स्वाधीनता-पूर्व काल (१८८५ ई० से १९४६ ई० तक)

(२) स्वातन्त्र्योत्तर काल (१९४७ से आज तक) ।

प्रारम्भिक काल के उपन्यासो (१८८५ से १९२० तक) मे राष्ट्रीय चेतना सशक्त नही थी । उनमे सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष ही प्रमुख था । १९२१ से १९४७ तक के उपन्यासो मे प्रमुख घटनाएं एव सामयिक राजनीति, समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर उभरी और राष्ट्रीय आन्दोलन मुखरित होने लगा, जिसके दर्शन प्रेमचन्द के उपन्यासो मे होते हैं ।

स्वाधीनतापूर्व काल मे कांग्रेस की स्थापना तथा उसके नेतृत्व मे स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये किये गये अहिंसक आन्दोलनो का चित्रण उपन्यासो में पाया जाता है । प्रेमचन्द ने "साहित्य के माध्यम से मशाल लेकर राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये मार्ग प्रशस्त किया ।"[2]

कांग्रेस के अहिंसक आन्दोलन मे विश्वास न रखने वाले सक्रिय क्रान्तिकारियों ने अपना अलग सगठन बनाया, जिसमे भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद खुदीराम, बटुकेश्वरदत्त तथा यशपाल आदि प्रमुख थे । १९३२ तक यह सक्रिय कार्यकर्ता अपनी जान की बाजी लगा कर देश की आजादी की लड़ाई मे सिर पर कफन बांधे निकल पड़े और भारतीय राष्ट्रीयता ने उग्र रूप धारण कर लिया । राष्ट्रीयता की भावना का समुचित विकास उन्नीसवीं शताब्दी मे हुआ । राष्ट्रीयता के विकास में जिन दो प्रमुख तत्त्वो ने योग दिया, वे हैं, ब्रिटिश शासन व्यवस्था तथा धार्मिक आन्दोलन । धार्मिक आन्दोलनो ने नव जागृति के लिये उल्लेखनीय प्रयास किया ।

राष्ट्रवादी-चेतना के दर्शन प्रेमचन्दजी के 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', तथा 'गोदान' मे होते हैं । 'प्रेमाश्रम' मे प्रेमचन्दजी गांधीवाद से प्रभावित हैं । 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर अहिंसक क्रांति का प्रोत्साहित करता है जिससे प्रभावित

१. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' – हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ० ४९७.

२. चण्डीप्रसाद जोशी—'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन', पृ० ३७८.

है। मुख्य चौधरी, चालीस बीघा जमीन गाँव के भूमिहीनों को बाँट देना है।[1] गाँधीजी के 'रामराज्य' की स्थापना के लिये प्रेमशंकर अपना स्वत्व का परित्याग करना है। उपन्यास में साम्यवाद की झलक पाई जाती है। "रूस में काश्तकारों का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं, वहीं हाल की बात है काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।[2]

प्रेमचन्दजी के उपन्यास 'रंगभूमि' में राजनीतिक चेतना 'प्रेमाश्रम' से व्यापक है। 'रंगभूमि' को नन्ददुलारे वाजपेयी ने गांधीवादी उपन्यास कहा है। 'रंगभूमि' के सूरदास में गांधीवादी विचार मूर्त है। 'सत्य अहिंसा का उसमें ऐसा समावेश हो गया कि वह आदर्श मूर्त हो जाता है।"[3] 'रंगभूमि' में १९२० के असहयोग आन्दोलन तथा शासन की दमनात्मक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। "उपन्यास के व्यापक चित्र फलक पर स्वतन्त्रा-पूर्व राष्ट्रीय भावनाओं का अंकन है।"

'कर्मभूमि' उपन्यास की पृष्ठभूमि में सविनय अवज्ञाआन्दोलन चित्रित है, जो राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रेरक स्रोत है। कर्मभूमि में स्वाधीनता संग्राम और तज्जन्य जन-जागृति के व्यापक प्रसार का अंकन है।

'गोदान' में भी भारतीय राजनीतिक तथा समाजवादी चेतना का अंकन है। उस समय कांग्रेस के अन्तर्गत ही समाजवादी दल की स्थापना हो गयी थी और साम्यवादी गतिविधियाँ भी जोर पकड़ रही थीं। 'गोदान' के रचनाकाल के समय मजदूर आन्दोलन सशक्त हो रहा था, परन्तु उसका चित्रण 'गोदान' में नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामयिक देश काल की विशेषताओं का चित्रण है। उनका साहित्य देश काल की विशेषताओं के परस्पर सम्बन्ध को चित्रित करने वाला साहित्य था।[4]

भगवतीचरण वर्मा के टेढ़े मेढ़े रास्ते' और भूले बिसरे चित्र' में भी राष्ट्रीय भावना का समग्र चित्रण है। इन उपन्यासों में राष्ट्रीय भावना का अंकन है। स्वाधीनतापूर्व राजनीतिक घटनाओं में प्रमुख है—सन् बयालीस की क्रान्ति, जिसमें आजाद हिन्द फौज का गठन, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में हुआ, जिसने इस यज्ञ की अग्नि को और भी भड़का दिया।

दूसरी घटना है देश का विभाजन, जिसे रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के 'नयी इमारत' तथा यशपाल के झूठा-सच में पूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। 'झूठा सच' में राष्ट्र-विभाजन की राजनैतिक पीठिका पर पंजाबी जन-जीवन की सबल अभिव्यंजना है।

---

१. प्रेमचन्द—'प्रेमाश्रम', ३८८.
२. वही, पृ० ६६.
३. सुषमा धवन—'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३४.
४. डा० रामविलास शर्मा—'प्रेमचन्द और उनका युग', पृ० १५२.

नागार्जुन, रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त आदि के आंचलिक उपन्यासों में भी स्थानीय रंग के पृष्ठाधार पर क्षेत्रीय राजनीतिक चेतना तथा राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित आंचलिकता को प्रेषित किया गया है। समाजशास्त्रीय विवेचन से ज्ञात होता है कि आज जन-जीवन राजनीति से इतना उद्वेलित है कि जीवन में इसके प्रभाव को विलग नहीं किया जा सकता, इसीलिये युगानुरूप जीवन की प्रतिच्छाया को उपन्यासकार प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

युग की मान्यताएं लेखक के दृष्टिकोण को प्रभावित करती हैं। राजनीतिक मान्यताओं ने समाज के साथ-साथ साहित्य को भी प्रभावित किया। सन् १९२० के पश्चात् भारतीय जन-मानस की राष्ट्रीयता की भावना ने आन्दोलन को तीव्र किया। गांधीवाद के जन-जीवन के निकट होते हुए भी १९३४ में समाजवादी और मार्क्सवादी विचारधारा भारतीय राजनीति में प्रस्फुटित हुई, जिसका पोषण यशपाल ने अपने उपन्यासों में किया। यह विचारधारा गांधीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप अंकुरित हुई। (स्वयं यशपाल इस विरोध का साहित्य मानते हैं।)

रांगेय राघव के उपन्यास 'विषाद मठ' के एक गीत में यही विरोधी स्वर मुखरित है। "रोने के दिन सदा नहीं रहते। सिर धुन-धुन कर पछताने वाले तेरे दुखों के ताप से चट्टानें पिघलने लगी हैं। स्वतन्त्रता, शान्ति तथा साम्य की दुंदुभी बजने वाली है, तूने अपना बागी सिर उठाया है।"१ इन क्रान्तिकारियों की भाषा में देश-प्रेम, त्याग और बलिदान का स्वर मुखरित है, वे समता का पोषण करते हैं। समता की राष्ट्रवादी भावना अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित है। नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' में भी यही स्वर निनादित है। 'आप जब उठ खड़े होंगे और एक कंठ होकर हुंकार करेंगे तो जालिम जमींदारों का कलेजा दहलने लगेगा' वे हैं ही कितने, दाल में नमक के बराबर। ...किसान भाइयों अब आप जाग गये हैं। खान बहादुर चाहे महाराज बहादुर, कोई आपका हक नहीं छीन पायेगा, आप अपनी ताकत को पहचानिये।"२

इस प्रकार राष्ट्रीय जागरण काल में गांधीयुग में रचित उपन्यासों में गांधी-दर्शन तथा स्वातन्त्र्योत्तर काल में समाजवादी विचारधारा का प्राधान्य है।

१९३७ से आज तक के उपन्यासों में राष्ट्रीय भावना का उदात्तीकरण हुआ है, जिनमें जनवाद से प्रभावित राष्ट्रीय भावना का अंकन है। आज के उपन्यासकारों का सामयिक चित्रण समाजशास्त्रीय आधार पर सफल प्रयास है। युगीन उपन्यासकारों की राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों से प्रभावित है। शिवनारायण के अनुसार—"उपन्यास को सिद्धान्त प्रचार का साधन बनाया गया है।"३ फलतः उपन्यास राष्ट्रीय

---

१. रांगेय राघव-'विषाद मठ', (१९४६), पृ० १६३.
२. नागार्जुन-'बलचनमा', (१९५२), पृ० १९२, ९३.
३. शिवनारायण श्रीवास्तव-'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३२२.

तथा अन्तर्राष्ट्रीय विचारों के सबल वाहक रहे हैं तथा जनता को प्रभावित करने का सफल माध्यम भी।

राष्ट्रीयता एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसे मिटाया नहीं जा सकता। यह प्रेरणामूलक है। इसकी जड़ मनुष्य की सामाजिक भावना और कबायली मनोवृत्ति है।[1]

"राष्ट्र परम्परा की जागृत चेतना, विदेशी साहित्य और उसका विकसित जीवन तथा संसार के अन्य देशों की स्थितियों, सभ्यताओं संघर्षों और साहित्य के सम्पर्क में देश में अंग्रेजी शासन और उसके राजनीतिक परिणाम-शोषण और सांस्कृतिक विशृंखलता एवं उस काल की हमारी सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों--इन सब के दोहन-मंथन से हमारी नवीन चेतना का विकास हुआ, जो अपने दृष्टिकोण में सामाजिक थी।"[2] जिसे राष्ट्रीयता की संज्ञा दी जा सकती है। भारत के राजनीतिक आन्दोलन पर फ्रेंच क्रान्ति और अंग्रेजी शिक्षा का पूरा प्रभाव पड़ा।[3] विभिन्न देशों के आदान-प्रदान से न केवल सांस्कृतिक विकास हुआ वरन् चिन्तन पद्धति तथा जीवन दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ—वैज्ञानिक विकास तथा बौद्धिक विकास से धर्म के स्थान पर तर्क और कार्य-कारण सम्बन्ध जीवन-दृष्टिकोण को निश्चित करने लगा। जादू, अन्धविश्वास, जो धर्म के अंग थे, उन्हें अलग करके धर्म को बुद्धि ग्राह्य बनाने का प्रयास किया जाने लगा। पश्चिम की वैज्ञानिक चिन्तनधारा ने मानव में आत्म-विश्वास को जागृत किया। वह हर बात पर ईश्वर की दुहाई देने के स्थान पर स्वयं पर भरोसा करने लगा, विश्व नियन्ता की भावना जगी। बर्टेण्ड रसेल के अनुसार 'वैज्ञानिक युग के पूर्व विश्व में ईश्वर सर्वशक्तिमान समझा जाता था। ईश्वर को प्रसन्न रखना ही प्राकृतिक दुर्घटनाओं से बचने का एकमात्र उपाय था अतः ईश्वर को प्रसन्न रखने के लिये आवश्यक था कि मानव अपनी असमर्थता, शक्तिहीनता तथा नम्रता व्यक्त करके ईश्वर पर पूर्ण विश्वास करे।'[4]

रसेल के इन विचारों से धर्म की महत्ता का पता चलता है, परन्तु आधुनिक युग में अकाल, महामारी आदि दुर्घटनाओं के लिये ईश्वर को दोषी न ठहरा कर सरकार को उसकी कुव्यवस्था के लिये दोषी ठहराया जायेगा। इस प्रकार लोगों की चिन्तनधारा तर्कसंगत तथा विशाल दृष्टिकोण अपनाने लगी, जिससे देश राष्ट्र की सीमा से परे अन्तर्राष्ट्रीय भावनाएँ आसक्त होने लगीं।

---

१. आशीर्वादम्-राजनीतिशास्त्र (१९७०), पृ० ५८३.

२. डा० रामगोपाल सिंह चौहान-'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास'
(प्र० सं० १९६५, पृ० १३.

३. डा० लक्ष्मीकान्त सिन्हा-'हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास', पृ० १६३.

४. बर्टेण्ड रसेल – 'द इम्पेक्ट आफ साइन्स आन सोसायटी', पृ० २४-२५।

अंग्रेजी सत्ता १७५७ से भारतवर्ष में प्रारम्भ होती है। पलासी के युद्ध में सिराजुद्दौला की हार के बाद भारत पर अंग्रेजों ने अपना अधिकार जमाया। सन् १८५७ तक भारतीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के प्रथम प्रयास होने तक सम्पूर्ण भारत पर उनकी प्रभुता का झंडा लहराने लगा था।

अंग्रेजों के शासन तथा नृशंस अत्याचारों से पीड़ित जनता में प्रतिक्रिया स्वरूप विद्रोह की भावना जागृत हुई, पश्चात्य सभ्यता तथा शिक्षा से भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना का उद्रेक हुआ। श्रीमती ऐनीबेसन्ट के अनुसार "भारतीय राष्ट्रीयता कोई हाल का पौधा नहीं है, वरन् जंगल का देख है, जिसके पीछे हजारों वर्षों की स्मृतियाँ हैं।" १

शिक्षित भारतीय जनता ने अंग्रेजी स्वेच्छाचारी शासन से विमुक्त होने के लिये, देशव्यापी राजनीतिक संस्था 'इंडियन नेशनल कांग्रेस, (१८८५)' की स्थापना की तथा देश की सामाजिक आर्थिक स्थितियों में सुधार के लिये स्वशासन की आवश्यकता अनुभव की। इसमें कुछ उदार नीति को मानने वाले थे और अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति रखते थे। उदारवादी राजनीतिज्ञों की विचारधारा लज्जाराम के 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास में ध्वनित होती है — "जिन बातों को देने का सरकार ने वादा कर लिया है अथवा आप जिन पर अपना स्वत्व समझते हैं, उन्हें सरकार से माँगें। जब माता पिता भी बेटे बेटी को रोने से रोटी देते हैं, तब राजा से माँगने में कोई बुराई नहीं, तुम ज्यों ज्यों माँगते जावोगे वह त्यों त्यों धीरे-धीरे देती जाती है। ·· नियमबद्ध आन्दोलन करना अच्छा है।' २ परन्तु इस प्रकार की विचारधारा उग्रवादी देशभक्तों को असंतुष्ट करती थी, वे अंग्रेजों की भर्त्सना करते थे, सरकार उनका दमन करती थी।

आर्थिक विषमता के कारण भी उग्र विचारों को बल मिला।

इस युग के उपन्यासों में राष्ट्रीयता का जो स्वरूप उभरा "उसका प्रथम प्रेरणा स्रोत राष्ट्र का प्राचीन गौरव तथा संस्कृति है।" ३ भारतीय संस्कृति के पोषक विवेकानन्द, दयानन्द, बालगंगाधर तिलक आदि ने पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति के गौरवपूर्ण अतीत की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया और उसमें आत्मविश्वास की भावना को जागृत किया। लोकमान्य तिलक, अरविन्द और कुछ अंशों तक लाला लाजपत राय की राजनीतिक गतिविधियों में हिन्दुत्व की प्राचीन भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। तिलक ने शिवाजी, गणेशोत्सव, गीता को राष्ट्रीय

---

१ डा० बी० पी० एस० रघुवंशी — 'राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारत का संविधान' पृ० ४.

२. लज्जाराम शर्मा मेहता — 'आदर्श हिन्दू' भाग ३ पृ० २४०

३. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ०, ५०७.

सेवा का आधार निरूपित किया । अरविन्द ने राष्ट्रीयता का आध्यात्मिक शक्ति के समकक्ष बनाया और उसे धार्मिक स्वरूप की मान्यता दी ।' १ उन्हीं दिनों अफ्रीका में गोरे-काले की रंग द की नीति के कारण भारतियों के साथ अभद्र व्यवहार ने अग्नि में घी का काम किया । फलतः इन्हीं कारणों से जनता में राष्ट्रीयता की चेतना का उद्रेक हुआ । कांग्रेस के दो दल बन गये – उग्र तथा नरम; जिन्हें वैधानिक आन्दोलन में विश्वास नहीं था वह उग्र दल के कहलाये, दूसरे नरम दल के । सरकार के दमनचक्र से क्रुद्ध नवयुवक क्रान्तिकारी आन्दोलन करने लगे और हिंसात्मक कार्यों द्वारा अपना आक्रोश व्यक्त करते, परन्तु साधनों की कमी और अल्पसंख्यक होने के कारण सफल न हो सके । परन्तु इनके आतंक से सरकार के मन में थोड़ा भय समा या । इन्हें सन्तुष्ट करने के लिये मिन्टो-मार्ले ने कुछ सुधारवादी प्रयास किये और नरम दल वालों को प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में स्थान दिया और मुसलमानों को निर्वाचन और प्रतिनिधित्व के अधिकार दिये गये, जिसने साम्प्रदायिकता का बीजारोपण किया । भारतीय देशभक्त इन सुधारों से सतुष्ट नहीं थे और प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) के समय तिलक तथा ऐनीबेसेन्ट ने 'होम रूल' की मांग की और मि० मोन्टेग्यु उस समय भारत के प्रधानमंत्री थे, उनमें इस मांग को पूर्णतः ठुकराने का साहस नहीं था, क्योंकि अंग्रेजों को भी साम्राज्य की रक्षा के लिये भारत की सहायता की आवश्यकता थी । इसलिये उन्होंने स्वायत्त शासन सम्थाओं को प्रोत्साहन देने का आश्वासन दिया । "१९१६ ई० में कांग्रेस के दोनों दलों में एकता स्थापित हुई । हिन्दू-मुस्लिम, समझौता होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन संगठित शक्ति बन गया था । २४ अक्टूबर १९१७ ई० में रूसी क्रान्ति की सफलता तथा उसकी जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार की घोषणा से अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी बदल चुकी थीं । इसी से १९१९ ई० में मान्टेग्यु चेम्सफोर्ड के नाम से सुधारों को कानूनी रूप दिया गया ।[२] परन्तु यह सब भुलावा मात्र था । द्विविध शासन प्रणाली भ्रमात्मक थी । सरकार एक ओर तो नरम दल वालों को अपना समर्थक बनाना चाहती थी और दूसरी ओर दमनकारी कानूनों से क्रान्तिकारी तथा उग्र राष्ट्रीय तत्वों को नष्ट करना चाहती थी । इसलिये सरकार ने रोलेट एक्ट पास किया, परन्तु गांधीजी के नेतृत्व में सम्पूर्ण देश ने रोलेट बिल का विरोध किया । यह पहला अवसर था कि राष्ट्रीय स्तर पर जन-आन्दोलन चला ।[३] और ब्रिटिश सरकार को अनुभव हो गया कि राष्ट्रीय आन्दोलन जन-आन्दोलन का रूप धारण कर गया है । ६ अप्रैल १९१९ में गांधीजी के नेतृत्व में प्रथम असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ । पूर्ण स्वराज्य राष्ट्रीयता का

---

१. ब्रजभूषणसिंह 'आदर्श'—'हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ० ५०८.

२. चण्डीप्रसाद जोशी – 'हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन', पृ० १८७.

३. वही, पृ० १८७.

प्रश्न बन गया।[१] पंजाब में जलियावाला बाग के अमानुषिक गोलीकांड ने सम्पूर्ण राष्ट्र में विद्रोहाग्नि भड़का दी।

द्वितीय महायुद्ध में राष्ट्रीय आन्दोलन को नूतन बल मिला। कांग्रेस ने भारत के भावी विधान हेतु राष्ट्रीय विधान सभा की माँग को फिर रखा और ब्रिटिश सरकार द्वारा बैठाये गये क्रिप्स कमीशन की योजना को अस्वीकार किया, तथा १९४२ में भारत छोड़ो का नारा बुलन्द किया। इस पर सरकार का दमन-चक्र और तीव्र हो गया; परन्तु जन-शक्ति का वह कुछ न बिगाड़ सकी। उसी समय मुस्लिम लीग ने मुसलमानों का स्वतंत्र राष्ट्र बनाने पर जोर दिया और साम्प्रदायिकता फैल गई। देश दो भागों में बँट गया, परन्तु १५ अगस्त १९४७ का विहान स्वतंत्र भारत का था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीयता की भावना ने जन-जीवन को एक सूत्र में बाधने का प्रयास किया। युगीन उपन्यासकारों पर राष्ट्रीय आन्दोलन का सम्यक प्रभाव पड़ा, शासन के अत्याचारों, जमींदारों के नृशंस व्यवहार, सरकारी कर्मचारियों का मनमानापन, जनता की चेतना, सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन आदि का चित्रण तद्युगीन उपन्यासों में पाया जाता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक विचारों में परिवर्तन आया। सामाजिक कुरीतियों के प्रति भी साहित्यकार सजग हुए।

'राष्ट्रीयता हमारे लिए जरूरी है, हमारा अस्तित्व ही राष्ट्रीयता पर निर्भर है।'[२] "राजनीतिक स्वाधीनता के बाद भारत के लिये सांस्कृतिक और मानवतावादी राष्ट्रीयता की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है।"[3] राष्ट्रीयता में विशाल दृष्टिकोण अपेक्षित है, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय सदभावना और मैत्री का विकास हो।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीयता ने कई आयाम खोले। प्रान्तीयता भाषा, साम्प्रदायिकता, जाति भेद के कारण राष्ट्रीयता में संकीर्णता आ गई जो राष्ट्रीय एकता के लिए अभिशाप सिद्ध हुई और जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सदभावना की सबसे बड़ी शत्रु है।[४] कभी-कभी संकीर्ण "राष्ट्रीयता की भावना देशों के आपसी सम्बन्धों में कटुता ला देती है जिससे एक दूसरे की संस्कृति और सभ्यता का ठीक-ठीक अध्ययन प्रायः असम्भव हो जाता है। ......आधुनिक काल में राष्ट्रीयता के नाम पर लाखों व्यक्तियों का जीवन और करोड़ों की सम्पत्ति बर्बाद की जा चुकी है। राष्ट्रीयता विदेशों से घृणा करना सिखाती है। इस प्रकार की आक्रामक राष्ट्रीयता को 'भेड़ियों की आक्रामक राष्ट्रीयता' (वुल्फ पैक) कहा गया है। यही राष्ट्रीयता युद्ध के बीज बोती है और खराब से खराब किस्म के साम्राज्यवाद में बदल

१. चण्डीप्रसाद जोशी —हिंदी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० २४३.
२. आशीर्वादम्—राजनीतिशास्त्र पृ० ५८३.
३ वही, पृ० ५८३.
४. वही, पृ० ५८१.

जाती है। 'भेड़ियों-सी आक्रामक राष्ट्रीयता के उदाहरण सैनिकवादी जापान, फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी हैं।"[1]

समाजशास्त्रीय पीठिका पर अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि हिन्दी के उपन्यासों में राष्ट्रीयता के लिये घातक तत्वों को उपन्यासकारों ने प्रोत्साहित नहीं किया। भारत एक विशाल राष्ट्र है "जिसमें अनेक जातियों, धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं का संगम है। इतना होने पर भी राष्ट्रीय इतिहास, सांस्कृतिक परम्परा और धर्म व्यवस्था एक सूत्र में बंधी है और दृढ़ है।'[2] राष्ट्रीय एकता के लिए भारत की धर्मनिरपेक्षता की नीति सराहनीय है। साम्प्रदायिक द्वेष राष्ट्रीय एकता के लिए घातक है, जिसे हम भारत विभाजन की विभीषिका में देख चुके हैं। यशपाल का 'झूठा सच' साम्प्रदायिक विद्वेष के घातक परिणामों का घोतक है। संकीर्ण दृष्टिकोण राष्ट्रीयता के लिये हानिकारक है, "फूट और विघटन की प्रवृत्तियों से सामाजिक तथा सांस्कृतिक विघटन होता है, जिन्हें राष्ट्र-हित के लिये समाप्त करना आवश्यक है। आधुनिक उपन्यासों में भ्रष्टाचार का मुखर विरोध किया जाता है, क्योंकि यह देश की गम्भीरतम समस्या है, देश की प्रगति के लिए घातक है; कांग्रेसी नेताओं, उद्योगपतियों, प्रशासनिक कर्मचारियों के भ्रष्टाचारों का उद्घाटन चतुरसेन शास्त्री के 'बगुले के पंख', अश्कजी के 'बड़ी-बड़ी आँखें', यशपाल के 'झूठा सच' भगवतीचरण वर्मा के 'सबहिं नचावत राम गोसाईं', श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' तथा माया गुप्त द्वारा अनूदित उपन्यास 'मुख्यमन्त्री' में किया गया है। राष्ट्र के स्वस्थ निर्माण के लिए भ्रष्टाचार की समाप्ति का जिहाद प्रशंसनीय प्रयास है। साहित्यकार मानवीय सम्बन्धों में साम्यमयी स्थिति उत्पन्न करने का प्रयास करता है; यह साम्यवादी स्थिति राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी अपेक्षित है। हिन्दी उपन्यासों में राष्ट्रीय-चेतना की तो अभिव्यक्ति फिर भी मिली है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता का पूर्ण प्रस्फुटन अभी नहीं हो पाया।

समाजशास्त्रीय धरातल पर जबकि विश्व समुदाय (वर्ल्ड कम्युनिटी) की कल्पना की जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास आवश्यक है ताकि राष्ट्रीयता की सीमा-रेखा से बाध्य न होकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर मानवता का विकास हो सके।

(ख) उदार प्रजातन्त्र—व्यक्ति स्वतन्त्रता

प्रजातन्त्र का आदि स्वरूप प्राचीन पंचायतों के रूप में मिलता है, जिनके दर्शन हमें प्राचीन काल के गणराज्यों में होते हैं। पराधीनता के बाद हमारी प्राचीन शासन पद्धतियाँ लुप्त हो गईं और "विदेशी शासकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से नवीन

---

१. आशीर्वादम्—राजनीतिशास्त्र पृ० ५८०.

२. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श'—हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ० ५५०.

शासन पद्धतियाँ प्रचलित थी। आधुनिक प्रजातन्त्र का जन्म विदेश मे हुआ, भारत मे तो यह बहुत बाद में आया।"[1]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' में ईसा पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी की राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति का वर्णन है। "उपन्यास में गणतन्त्रात्मक राजनीतिक व्यवस्था के उज्ज्वल एवं विकृत पक्षों का वर्णन उपलब्ध होता है।"[2] गणतन्त्र राज्य के विधान मे नगर की सर्वाधिक रूपसी कन्या को नगर-वधू बनाया जाता था। आम्रपाली ऐसी ही नारी है; परन्तु अपने व्यक्तित्व की गरिमा से मंडित है। गणराज्य के नागरिकों को नगरवधू पर समान अधिकार रहता था तथा लेखक ने इस नियम की आलोचना की है। वह लिखता है-' धीरे-धीरे अम्बपाली की एक लोकोत्तर मूर्ति मेरे मानस पर अंकित हो गई। तथाकथित उस प्राचीन कानून ने मुझे अम्बपाली का हिमायती बना दिया।[3] लेखक ने उपन्यास में नारी-स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन किया है, तथा गणतन्त्र और राजतन्त्र सम्बन्धी वैदिक तथा गाथार संस्कृति का चित्रण किया है।

राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास 'सिंह सेनापति' तथा 'जय यौधेय' मे प्राचीन गणतन्त्रात्मक समाज व्यवस्था का चित्रण है। 'सिंह सेनापति' मे लिच्छवी गणतन्त्र के सामाजिक जीवन का चित्रण है। गणतन्त्रात्मक सामाजिक विधान मे युग की स्वच्छन्दता, नारी की स्वतन्त्रता, श्रम की गरिमा सम्पत्ति पर समान अधिकार का यशोगान उपन्यास का मूल स्वर है।[4] राहुलजी राजतन्त्र को नर-नारियों का बन्दीगृह मानते हैं। "उपन्यास मे गणतन्त्र जीवन का चित्रण और बुद्ध के विचारो का निरूपण किया गया है।"[5]

राहुलजी ने अपने उपन्यास 'जय यौधेय' में; भी यौधेय गण के राजनीतिक प्रशासन, आर्थिक विधान तथा सामाजिक व्यवस्था का चित्रण किया है। 'जय यौधेय, के नायक की स्वातन्त्र्य प्रियता, बौद्धिकता, कर्त्तव्य निष्ठता राष्ट्रीयता, सौन्दर्यवादिता कलाकारिकता उसके व्यक्तित्व को उभारने मे सहायक होती है।[6] लेखक राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्र को महत्त्व देते हैं। तथागत ने भी बौद्ध संघ की व्यवस्था गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर स्थापित की थी। संघ की सम्पत्ति पर किसी एक व्यक्ति का नहीं समस्त भिक्षुओं का अधिकार था।[7]

---

१. कान्ति वर्मा—'स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास', पृ० १५५.
२ सुषमा धवन—हिन्दी उपन्यास, पृ० ३५०.
३. आचार्य चतुरसेन शास्त्री-' वैशाली की नगरवधू', पृ० ११८.
४. सुषमा धवन—'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३६६.
५. वही, पृ० ३६८
६ वही, पृ० ३६६.
७ वही, पृ० ३६६.

रांगेय राघव के उपन्यास 'मुर्दों का टीला' में मोहन जोदड़ो की गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली का, जिसमें जनता को अपना प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार था चित्रण किया गया है तथा गणपति, सेनापति आदि पदाधिकारियों की नियुक्ति भी महानगर के निवासी करते थे। उपन्यास में दासता का विरोध किया गया है।" "स्वतन्त्रता मेरा ध्येय है। ...... मनुष्य को महानता देना मेरा एकमात्र धन है।"[1] इस उपन्यास में दास-प्रथा का विरोध और गणतन्त्र-शासन का आग्रह है।

यशपाल के उपन्यास 'दिव्या' में भी गणतन्त्रात्मक समाज का चित्रण किया गया है। "इस प्रकार चतुरसेन शास्त्री, राहुल तथा रांगेय राघव के उपन्यासों में गणतन्त्रात्मक विधान की समस्याओं का उद्घाटन इसलिये हुआ है कि आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राजनीतिक व्यवस्था को प्राचीनता की गरिमा में मण्डित किया जा सके।"[2] "मुर्दों का टीला उपन्यास में मिश्र और एलाम, सुमेर और मोहनजोदड़ो के दार्शनिक तत्त्वों की झलक देकर गणराज्य की गतिविधि का विश्लेषण मार्क्सवादी दृष्टि से किया है।"[3]

उपर्युक्त ऐतिहासिक उपन्यासों का समाजशास्त्रीय आधार पर अनुशीलन करने पर स्पष्ट होता है कि प्रजातन्त्र की भावना प्राचीन काल में गणराज्यों में पाई जाती थी, परन्तु आधुनिक प्रजातन्त्र का जन्म विदेश में हुआ। "जनतन्त्र और समष्टिवाद का समन्वय, रूसो के (१७१२–१७७८) सिद्धान्त 'जनरल विल थ्योरी' में प्राप्त होता है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति (सन् १७८९) में जनतान्त्रिक विचारों की परम्परा की व्यवस्थित और सशक्त परिणति दृष्टिगत होती है।[4]

प्रजातन्त्र के मूल में जन-कल्याण की भावना निहित है। सर्वप्रथम अमेरिका में अब्राहम लिंकन ने इस प्रणाली को मूर्त रूप दिया और धीरे-धीरे विश्व में इस प्रणाली का महत्त्व बढ़ता गया। भारत में इस प्रणाली का बीजारोपण १८५७ में स्वातंत्र्य संग्राम काल में हुआ और आज कांग्रेस की शासन प्रणाली का स्वरूप प्रजातन्त्रीय है। अन्तर्राष्ट्रीय विचारों में प्रजातन्त्र की भावना ने ही सर्व प्रथम भारत को अपनी ओर आकर्षित किया। प्रजातंत्र की भावना राष्ट्रीयता की भावना के साथ विकसित होती गई और तद्युगीन उपन्यासों में भी प्रजातन्त्रीय भावना परिलक्षित होने लगी। प्रेमचन्द जी के 'प्रेमाश्रम' में आदर्श ग्राम की स्थापना में प्रजातंत्र की भावना ही प्रमुख है।

प्रजातन्त्र में सामाजिक स्तर सम्बन्धी भेद-भाव को मिटाकर समानता की भावना का उदय हुआ। निचले से निचले स्तर का व्यक्ति भी श्रेष्ठतम पद प्राप्त करने की कल्पना कर सकता है, जिससे समाज तथा साहित्य में वर्ग अथवा व्यक्ति विशेष को

१. रांगेय राघव–'मुर्दों का टीला' (१९४८), पृ० ५३९–७.

२. सुषमा धवन–'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३२५.

३. वही, पृ० ३२५

४ कान्ति वर्मा—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ० १५५–६.

ही स्थान न मिल कर सभी जनसामान्य का स्थान मिलना अनिवार्य हो गया।[१] इसीलिये लिंकन ने इसे जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता का शासन कहा है। यही कारण है कि स्वातन्त्र्य संग्राम का जन आन्दोलन कुछ नेताओं के वादविवाद तक ही सीमित न रहा वरन् वह जनता का प्रयोजन बन गया।[२] सभी समस्त राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील हो उठा। प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान महत्वपूर्ण है और जब राष्ट्र सजग हो कर स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान कर प्रयत्नशील हुआ तो इस राष्ट्रीय शक्ति ने अंग्रेजों को इस ओर सोचने के लिए विवश किया। १९०६ में दादाभाई नौरोजी ने प्रथम बार कलकत्ता में कांग्रेस के सभापतित्व के अपने भाषण में स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया जिसकी प्राप्ति के लिए जनता कटिबद्ध हो गई और वर्षों के निरन्तर संघर्ष के बाद भारत १९४७ में स्वतन्त्र हुआ और प्रजातन्त्रीय प्रणाली पर सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी ने प्रशासन करना प्रारम्भ किया। देश में आम चुनाव हुए जिसके माध्यम से जनता ने अपने प्रतिनिधि लोकसभा तथा विधानसभा के लिए निर्वाचित किए। परन्तु धीरे धीरे प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली में कई प्रकार की बुराइयों का समावेश होने लगा मंत्री बन जाने के बाद विधायकगण कभी अपने निर्वाचित क्षेत्रों में जाने का कष्ट नहीं करते और चुनाव के समय मौसमी मेंढकों की तरह फिर दिखायी देने लगते हैं। सरकारी भ्रष्टाचार का विशद वर्णन युगीन उपन्यासकारों ने किया है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सामर्थ्य और सीमा' तथा 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' में प्रजातन्त्र प्रणाली में पाये जाने वाले व्यक्तिगत स्वार्थों का उद्घाटन किया गया है। इनके उपन्यास 'सामर्थ्य और सीमा' की रानी कहती है—"हमारा राज्य वास्तव में सरकार के हाथ आ गया है वे मनुष्यता छोड़ चुके हैं वे बदनीयत हैं, बेईमान हैं, चरित्रहीनता की हद हो गई है चारों ओर लूट मची हुई है, जान माल इज्जत ईमान सभी कुछ खतरे में है।[३] किसी ने सत्य कहा है शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट कर देती है और पूर्ण शक्ति व्यक्ति को पूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है (पावर करप्ट्स एण्ड एब्सोल्यूट पावर करप्ट्स एब्सोल्यूटली)। इस सत्य की ओर इंगित करते हुए मेजर नाहरसिंह रानी से कहते हैं—रानी बहू सत्ता जिसके हाथ में आती है वही मदान्ध होकर बदनीयत, बेईमान दुश्चरित्र हो जाता है, हम राजवंश वालों ने जिस प्रकार वैभव एकत्रित किया हमने जो जो अन्याय और अत्याचार किये, हमने जिस पाशविकता को अपनाया इतिहास उसका साक्षी है—हमें परिस्थितियों का मुकाबला करना पड़ेगा जो कुछ जमा है उसे वैसा स्वीकार करके उससे लड़ो उसको बदलो।"[४]

इससे स्पष्ट होता है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में चाहे वह ऐकतन्त्र हो या प्रजातन्त्र सत्ताधारी सदैव सत्ता का दुरुपयोग करता है। प्रजातन्त्र प्रणाली को

१ त्रिभुवन सिंह हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद पृ० १६२
२ चण्डीप्रसाद जोशी-हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन पृ० ७१
३ भगवतीचरण वर्मा सामर्थ्य और सीमा पृ० ७४
४. वही पृ० ७४

यह विशेषता है कि इसमें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य को मान्यता दी जाती है, परन्तु आजकल भी धर्म, जाति तथा वर्ग के नाम पर वह केन्द्रित होती जाती है। हिन्दुस्तान धर्म-निरपेक्ष राज्य है, मुसलमानों को भी पूर्ण स्वतन्त्रता है परन्तु उनकी निष्ठा हिन्दुस्तान के प्रति नहीं है। मौलाना रियाजुलहक कहता है–"आप हिन्दू चाहते हैं कि हम मुसलमान हिन्दुस्तान के वफादार रहें।"[1] वह यह नहीं कहता हम हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तान के वफादार रहें। यही कारण है कि वह ज्यादा से अधिक से अधिक मुसलमानों को भगाकर पाकिस्तान का एक हिस्सा बनाना चाहता है।

प्रजातंत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के कारण पूंजी का एकत्रीकरण हो रहा है। इसी से मंत्री जोखनलाल मकोला से कहते हैं–"हम अपने देश के लोगों को आप पूंजी-पतियों की कृपा पर नहीं छोड़ सकते, पूंजीवाद के देवता के उपासकों में नैतिकता और सद्भावना की उपासना के प्रति न कोई विश्वास रहता है, न आस्था रहती है। पूंजीवाद मनुष्य में भयानक विषमता का द्योतक है।"[2]

परन्तु यही जोखनलाल जैसे मंत्री, अपने पद के लिये सब कुछ करते हैं। इन्हीं पूंजीपतियों का आश्रय लेकर चुनाव जीतते हैं और बाद में पूंजीपति इनसे उचित-अनुचित कार्य कराते रहते हैं। एक को अपनी कुर्सी का मोह है, दूसरे को धन के षार्थक्य का। इसीलिये मकोला कहता है (जोखनलाल से)–"भयानक विषमता को उत्पन्न करती है पूंजी, पूंजीवाद नहीं। पूंजीवाद तो इस पूंजी की स्वाभाविक व्युत्पत्ति है और इस पूंजी को मिटाने की क्षमता न तुममें है और न तुम्हारे आकाओं में। आज मुझे हिन्दुस्तान में कोई भी आदमी ऐसा नहीं दिखता जो पूंजी का गुलाम न हो। यह राजसी शान-शौकत, तड़क-भड़क में बड़े-बड़े महल ... सब में पूंजी लगी हुई है ... पूंजीवाद में विषमता है, क्या राजनीति में कम विषमता है ?"[3] पीढ़िया तथा मकोले कहता है–"राजनीति में कई कोटियाँ बन गई हैं। तुम कहोगे तुम्हें जनता ने चुना है और.... पर यह सोचा है कि तुमने अपने चुने जाने के लिये जनता को मूर्ख बनाया है, छल-कपट, जाल-फरेब इन सबका सहारा लेते हो तुम, पार्टी बनाते हो,......... पार्टी का संचालन जैसे करते हो वह तुम अच्छी तरह जानते हो।"[4]

प्रजातन्त्र प्रणाली में व्यक्ति का सामाजीकरण व्यवस्थित ढंग से तभी सम्भव है जब कि सरकारें व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठ कर दूसरों को आगे बढ़ने का अवसर दें, परन्तु होता यह है कि एक बार जो मंत्री बन जाता है वह दोनों हाथों से धन खसोटने लगता है और पद से चिपके रहने के लिये हर सम्भव, उपाय करता है। वोट लेने के लिये नेतागण क्या नहीं करते ?" "तुम लोगों को खरीदते हो, वह अपने

१. भगवतीचरण वर्मा–'सामर्थ्य और सीमा,' पृ० ११३.
२. वही, पृ०, ११५.
३. वही, पृ० ११६.
४. वही, पृ० ११६.

रुपये से नहीं बल्कि हमारे रुपयों से और यह रुपया तुम जबरदस्ती हम लोगों से चन्दे के नाम वसूल करते हो–तुम हमें दबाते हो, प्लेट फार्म पर खड़े होकर कहते हो • इसलिये कि सत्ता तुम्हारे हाथ है।'[1]

यह सत्य है, सत्ताधारी शक्तिशाली होने के कारण भ्रष्टाचार फैलाते हैं परन्तु उसके विरुद्ध आवाज उठाने की स्वतन्त्रता भी प्रजातन्त्र में ही सम्भव है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रजातन्त्रीय प्रणाली के आधार पर निर्वाचन द्वारा अपना मन्त्रि-मण्डल बनाया गया। भारत के अतीत में कभी हो सकता है मन्त्रिमण्डल बने हों, परन्तु निकट विगत में कोई ऐसा उदाहरण नहीं। राष्ट्रीय जीवन की यह महान् घटना है कि *भारतीयों ने अपना मन्त्रिमण्डल चुनाव द्वारा बनाया जिसमें व्यक्ति की सामाजिक स्थिति* के स्थान पर उसके सामाजिक योगदान को महत्त्व दिया गया, निर्वाचन के लिये व्यक्ति किसी जाति, किसी भी वर्ग, धर्म, का हो सकता है, परन्तु उसके लिये देश सेवक होना महत्त्वपूर्ण है। भारत का प्रथम निर्वाचित मन्त्रिमण्डल पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त के संरक्षण में बना। जिसमें स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों को जनता ने अपनी पूर्ण आस्था से चुना परन्तु विगत बीस वर्षों में परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गई हैं। अपना सर्वस्व निछावर करने वाले नेता नहीं रहे जो त्याग बल पर जनता का विश्वास प्राप्त किये हुए थे। आज नेतागण जनता के बल पर नहीं सरकार तथा धन के बल पर नेता बनने का प्रयास करते हैं।

स्वतन्त्र भारत में समता के लिये जमींदारी, ताल्लुकेदारी मिटाई गई, परन्तु 'गरीबी और अमीरी नहीं मिटाई जा सकती। जमींदारी मिटने से अमीरी और गरीबी मिट जायेगी, यह तो प्रोपेगण्डा के खोखले अलफाज थे।"[2] अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' की विवेचना करते हुए लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं–"आज स्वतन्त्र भारत के तरुणों ने गांधी–युग के राष्ट्रीय भारत का त्याग, बलिदान और आदर्श नहीं देखा, उन्होंने चारों ओर चारित्रिक पतन, नैतिक अवमूल्यन, मूल्यों का विघटन, घूसखोरी भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी को राष्ट्रीय हित के स्थान पर स्थापित देखा है, लोगों के नकली मुखौटे देखे हैं। वास्तव में स्वतन्त्र भारत दो मूल दोषों से पीड़ित है, जिनसे अन्य सारी बुराइयाँ उत्पन्न हुई और हो रही हैं वे हैं––चरित्र और नेतृत्व का खोखलापन –क्राइसिस ग्राव करैक्टर और क्राइसिस ग्राव लीडरशिप। ऐसे खोखलेपन में आज का तरुण घुटन अनुभव कर रहा है और कल्याण राज तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद खोखले शब्द बन गए हैं, उनकी अर्थवत्ता नष्ट हो चुकी है। स्वतन्त्र भारत में ईमानदारी का कोई स्थान नहीं रह गया। देशसेवा का मानदण्ड है हलवे माड़े की सुरक्षा और देश भक्ति के नाम पर जनता को मूर्ख बनाना और भौतिक सुख-साधन जुटाना, जड़ रूढ़िवादिता को कोई मिटाना नहीं चाहता। जो मिटाना चाहता

---

१ भगवतीचरण वर्मा–'सामर्थ्य और सीमा,' ११६.

२. वही, पृ० पृ० २०८–९.

है उसे सात्त्विक और सम्पूर्ण निष्ठ बढ़ कर दबाने की चेष्टा की जाती है।"[1] यही कारण है कि आज प्रजातन्त्र प्रणाली में गांधीजी के युग का निस्वार्थ देश-सेवा भाव नहीं रहा। सत्ता और पैसे का ही बोलबाला चारों ओर परिल
क्षित होता है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' में भी प्रजातन्त्र प्रणाली के दोषों का अंकन है। किस प्रकार उद्योगपति मन्त्रियों से मिल कर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। उद्योगपति राधेश्यामजी, मन्त्री जबरसिंह तथा त्यागमूर्ति मुख्यमन्त्री से मिल कर ट्रैक्टर फैक्टरी के लिए पाँच एकड़ जमीन किसानों से हथियाने की व्यवस्था करते हैं—"जनहित के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रयोगशाला खुल रही है। ट्रैक्टर फैक्टरी से देश की बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हो रही है।"[2] फलतः देश के विकास के नाम पर पूँजीपति सरकार से मिल कर व्यक्तिगत लाभ उठाते हैं, जिससे साधारण जनता की आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हो पाता। "स्वस्थ सामाजिकता का अभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। तथाकथित योग्य नौकरशाही भ्रष्ट है, समृद्ध होने के स्थान पर जीवन खोखला हो गया है।"[3]

चाणक्य सेन के अनूदित उपन्यास 'मुख्यमन्त्री' में भी प्रजातन्त्र प्रणाली में स्वार्थी प्रवृत्तियाँ किस प्रकार प्रबल हो रही हैं, उनका अंकन किया गया है। मुख्यमन्त्री कृष्ण द्वैपायन पत्नी से कहते हैं—"शक्ति के लोभ से हमारे मन में सोई हुई सारी आकांक्षाएँ जाग उठी हैं। शासन को हमने राजनीति बना लिया। देश सेवा के लिए अंग्रेजों के आगे अपना बलिदान जो देश सेवक करते रहे, उन्हें हमने शासन और ढाँचे के बाहर ही छोड़ दिया। पुरानी नौकरशाही स्वार्थों को नोचने-खसोटने वालों के शि
कार हमारे जन-कल्याण का काम शुरू हुआ। आज हम राजनीति में इस तरह फँस गए हैं कि इससे छुटकारा पाने का अब कोई रास्ता नहीं रह गया, हमारी तमाम कोशिशों के अन्दर एक बड़ी खाई रह गई है। हम महसूस तो करते हैं, पर उसे ढूँढ़ने और पाटने का न तो अवकाश है न कोई उपाय ही दिखाई पड़ता है। जब दिया बुझने को होता है तब वह और भभक कर जलना चाहता है। नए तेल के बिना वह नहीं जलेगा, यह चेतना उसे नहीं होती।"[4]

आज व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को अधिक महत्त्व देने लगा है, इसीलिए अपने पद से जोंक की तरह चिपका रहना चाहता है। स्वार्थपरता उसे बहुत-सी बुराइयों को सहन करने के लिये बाध्य करती है, मन में यह जानते हुए भी कि अपनी आत्मा को वह गिरवी रख रहा है दूसरों के दबाव को सहन करता है, विद्रोह की उसमें क्षमता नहीं क्योंकि उसे अपने पद को सुरक्षित जो रखना है।

---

1. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – 'हिन्दी उपन्यास: उपल
ब्धियाँ', पृ० १०१.
2. भगवतीचरण वर्मा – 'सबहिं नचावत राम गोसाईं', पृ० १५५.
3. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ, पृ० १०२.
4. चाणक्य सेन – 'मुख्यमन्त्री', पृ० १८८–९

'मुख्यमंत्री' उपन्यास में सुदर्शन दुबे, मुख्यमंत्री कृष्ण द्वैपायन का विरोध करते हैं, पर तु जैसे ही मुख्यमंत्री उन्हें अपने मंत्रिमण्डल में शामिल करने को कहते हैं, व अपने मान-अपमान को भूलकर आत्मसमर्पण करने को तैयार हो जाते हैं। "सवेरे ही यह कहकर गये थे कि आसमान में दो सूरज दो चाँद एक साथ नहीं रह सकते। सुदर्शन दुबे, कृष्ण द्वैपायन एक ही मंत्रिमण्डल में रहकर एक दूसरे को सहयोग नहीं दे सकते। वही सवेरे का सूर्य, आधी रात को ज्योतिहीन तारामात्र रह गया। कल सवेरे वह फिर सूरज नहीं बन सकेगा। अब दिन में भी उसे तारा बनकर रहना पड़ेगा।"[1]

अपने स्वार्थ तथा पद के लिये व्यक्ति अपनी आत्मा की आवाज को ही नकार देते हैं। आज राजनीति केवल नारेबाजी या व्यक्तिगत स्वार्थों पर आधारित रह गई है, वास्तव में त्याग करने वाले आज से चार दशक पूर्व हो गये हैं। जो अधिक धन व्यय कर सकता है वही चुनाव लड़कर नेता बन सकता है। कृष्ण द्वैपायन कहते हैं— "आज राजनीति में कौन आ रहा है ? गाँव के अमीर किसान ""दस तरफ के बेकार लोग जिन्हें कुछ नहीं करने को है, वही अब राजनीति कर रहे हैं।"[2]

वास्तव में आज मध्यवर्गीय मेधावी लोग तो कुछ भी नहीं कर पाते, आर्थिक विषमता का संघर्ष उन्हें हर कदम पर रोकता है, टोकता है, निम्न मध्यवर्ग सबसे अधिक विडम्बनाओं का शिकार है। भारत का शिक्षित वर्ग अनुभव करता है कि देश की बागडोर जो सम्भाले हुए हैं उनमें अधिकतर सत्तारूपी दृढ़ डोर के सहारे अपनी आकांक्षाओं की पतंग आकाश-स्पर्शी बनाने में अधिक ध्यान दे रहे हैं। परन्तु जन-मानस आज सजग है। व्यक्तिगत स्वार्थों की दलदल में निमज्जित उनके प्रशासन का नाटक अधिक दिन नहीं चल सकेगा।

कुछ प्रभावशाली नेता दूसरे लोगों को आगे नहीं आने देते और अधिकृत लोगों को कमजोर बनाकर वश में किये रहते हैं तथा वह लोग भी अपनी स्थिति बनाये रखने के लिये मूक बने रहते हैं, क्योंकि उनके स्वार्थ इसी से पल्लवित होते हैं। व्यक्तिगत दुर्बलताओं, भाई-भतीजावाद, रिश्वत आदि की सील से उनके ओंठ मोहर बंद रहते हैं, जिनका मंत्री, उपमंत्री बनना ही लक्ष्य हो वे कैसे राष्ट्र की सेवा कर सकते हैं ? प्रजातंत्र का मुख्य ध्येय है सामान्यवाद पर तु जहाँ धनतंत्रवाद का बोल-बाला हो वहाँ समन्वय अथवा प्रजातंत्र का समाजवादी ढाँचा उभर नहीं पाता।

पहले भारत में गाँवों में जहाँ गरीबी, अज्ञान, दैवी-कोप, अनावृष्टि से लोग दीन-हीन अवस्था में रह रहे थे वहाँ एकता थी, चेहरों पर एक-सी उदासी, आँखों में एकसे आँसू थे। बाढ़ आने पर सभी बचाव के लिये प्रयत्नशील, एक दूसरे का सहयोग देने के लिये तत्पर दिखाई देते थे। परन्तु आज स्थिति बोध की वास्तविकता ने सब

१. चाणक्य सेन – 'मुख्यमंत्री', पृ० १४६

२. वही, पृ० १४७

पीस दिया है, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने बचाव में लगा है। इसी का विवेचन करते हुए रामदरश मिश्र ने अपने उपन्यास 'जल टूटता हुआ' की भूमिका में लिखा है - "इस जवार का जीवन भी तो जल ही है, लेकिन पहले एक साथ बहता था, बाढ़ में उमड़ता था एक साथ गर्मी में सूखता था। अब तो नये-नये बांध बन रहे हैं उस जल के किनारे""ये बांध भी पक्का नहीं हैं जगह-जगह से दरक जाते हैं; जहाँ से दरकते हैं थोड़ा पानी बह जाता है दूसरी दिशा की ओर यह पानी कहीं मिल नहीं पाते विपरीत या समानान्तर धाराओं में बहते ही चले जाते हैं (जैसे महीपसिंह और सतीश) हां टूट रहा है तो यहां का जल, जो बराबर टूट रहा है। धारा से धारा टूट रही है, बांध है कि बन रहे हैं, लेकिन एक भी ऐसा नहीं जो जल को संचित कर एक दिशा में प्रवाहित करे और उसमें से शक्ति उजागर करे ""बांध जगह-जगह दरक रहे हैं और जल टूट रहा है "टूट रहा है।"[1]

प्रजातन्त्र प्रणाली में प्राचीन सामाजिक मान्यताएँ टूट रही हैं। प्रत्येक व्यक्ति आज अपने व्यक्तित्व के लिये संघर्ष करता है, वह अपने अधिकारों के लिये सजग है। आज कोई किसी को जाति, धर्म, पद के आधार पर दबा नहीं सकता। उपन्यास का पात्र सतीश, जिसने महीपसिंह के यहां पन्द्रह वर्ष नौकरी की थी, इन पन्द्रह वर्षों में उसे नई दुनिया के दर्शन हुए हैं। वह कहता है-"एक दुनिया जिसका रंग किसानों और मजदूरों की चीख-चिल्लाहटों के कन्धों पर खड़ा था जिसके कमल इन गरीबों के पसीने के कीचड़ में खिले थे, जिसका प्रकाश गरीबों की हड्डियों की रगड़ से फूटता था, जिसकी गोदी में लिपटे वाले जमींदारों, इनके कारिन्दों और दरबारियों की मांग में सड़ी मछली की गंध पानी थी।"[2] उनका सूर्य अस्त हो गया है। वह यदि महीपसिंह के कहने पर रात को दिन नहीं कह सकता तो अपने को इस व्यवस्था से अलग कर सकता है, वह मैनेजरी छोड़ देता है। परन्तु यह प्रजातन्त्र राज्य में ही सम्भव है, इससे पूर्व की व्यवस्था में व्यक्ति को अपनी जमीन बेच कर भी सिर झुकाये रहने के लिये बाध्य किया जाता था। परन्तु अब सामन्तशाही समाप्त हो गई है। सतीश जनसेवा का व्रत लेता है, परन्तु इस क्षेत्र में उसने पंचायतों के चुनाव में स्वार्थप्रियता का नग्न नर्तन देखा है। महीपसिंह दीनदयाल, भाटापारा गांव की राजनीति को दूषित किये हुए हैं। मउगा दलसिंगार जैसे निम्न प्रकृति के लोगों को विदूषक बनाये हुए हैं। पुलिस को घूस देकर अपनी ओर मिला लेते हैं। पैसे देकर मत करवा लेते हैं, दूसरों को फँसाने के लिये जाल फैलाते हैं इनके पास धन बल है, परन्तु जमाना बदल गया है। यह सभी अनुभव करते हैं। असन्तुष्ट मजदूरों को इकट्ठा करके जगपतिया ने सोसलिस्ट पार्टी बना ली है, जो जगपतिया महीपसिंह की चाकरी करता रहा वही अत्याचारों से पीड़ित हो

१. 'रामदरश मिश्र-'जल टूटता हुआ' की भूमिका से।

२. रामदरश मिश्र—'जल टूटता हुआ', पृ० ११३.

कर कलकत्ता चला जाता है और वही मे अधिकार की चेतना से भिन्न होकर लौटता है और अपने मजदूर साथियो सहित महीपसिंह के खिलाफ आवाज लगाता है—अत्याचार का नाश हो, मिल का मालिक मजदूर है सरकार निकम्मी है। जगपतिया न अदालत पचायत मे महीपसिंह के विरुद्ध नालिस की। सतीश ने महीपसिंह को सम्मन भेजा परन्तु महीपसिंह ने अपनी सामन्ती शान मे चपरासी को डाट कर लौटा दिया कि दरिद्रों और मूर्खों की पचायत मे महीपसिंह नहीं आयेगा।¹ सतीश इस पर विचार करता है कि सरकारी व्यवस्था मे हस्तक्षेप करने वाले, उसका मजाक उडाने वाले महीपसिंह अभी भी न जाने कहा का सपना देख रहे हैं और विडम्बना यह है कि सरकार भी ऐसे ही लोगो को मान दे रही है टिकट दे रही है लेकिन वह अपने अधिकार-सीमा मे इस राक्षस को नहीं छोडेगा, इसका अन्जाम चाहे जो हो क्योंकि महीपसिंह अपनी ताकत पर मेरा अपकार करने की कोशिश करेगा कई लोग सतीश से समझा भी चुके थे कि वह इस मुकदमे को दबा दे या इधर उधर करदे। वह क्यों नाचीज मजूर के लिये एक बडे आदमी से रार मोल ले रहा है? सतीश जानता है कि इन सारी बातो मे, परोक्ष मे स्वयं महीपसिंह है, परन्तु अपना नाम कहलाना हेठी समझता है। वह सतीश को अभी भी अपना नौकर समझता होगा।"¹ बडे बडो के तलवे चाटने वाले महीपसिंह को हम जैसे गांव के लोगो के अधिकारों के प्रति आस्था ही कैसे हो सकती है? हा इन पचायतो में उन्हे आस्था कैसे हो सकती है जहाँ वह स्वयं सभापति और सरपच नहीं है?² अन्याय के प्रति आवाज लगाने की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र मे ही सम्भव हो सकती है सामन्तशाही काल मे विद्रोहियो को कुचल दिया जाता था। छल बल का सहारा तो आज भी लिया जाता है परन्तु परिस्थितिया बदल गई हैं, इससे शोषक भी सतर्क हैं। राजनीति मे व्यक्ति स्वार्थाय हो जाता है और न्यायप्रिय व्यक्ति को विपरीत परिस्थितियो से जूझना पडता है। रामकुमार (पात्र) कहता है–"मुझे राजनीति नही आती, राजनीति जो छुरा भोंक कर मुसकराती रहती है राजनीति जो कभी भी करवट ले सकती है। बेहयाई से जो किसी की भी बलि दे सकती है गाव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसी का नहीं सभी अकेले हैं, एक दूसरे के तमाशाई हैं। गाँव टूट रहा है, परन्तु नया गाव बन भी रहा ³-किसानो मजदूरों का जगपतिया का खेत अब महीपसिंह नहीं कटवा सकता।"³

आज महीपसिंह जैसे व्यक्ति को भी, दो बार सम्मन लौटा देने पर भी, तीसरी बार आना ही पडा। वह जनता के दरबार मे हाजिर होकर क्रोध से उबल रहे थे, अन्दर ही अन्दर कुढ रहे थे परन्तु कुछ नहीं कर पाते। "सोचते हैं— ....'ये दरिद्र

---

१ रामदरश मिश्र– 'जल टूटता हुआ', पृ० ३८०–८१

२ वही, पृ० ३८१.

३ वही पृ० ३८६

जिनसे जूतों से बात करता था पद-ग्रहण करने पंचायत में इकट्ठे हुए हैं।"[1] परन्तु समय बदल गया है। यह बात पक्की है उन्हें भी पचास रुपये का दण्ड भरने को या रमधनिया से माफी मांगने को कहा है। माफी मांगना उन्हें सह्य नहीं, पचास रुपये पास में हैं नहीं। वह तड़प कर मैनेजर छैलबिहारी से यह कह कर चल जाते हैं–'कल लाकर जमा कर देना'। "आज सभी के समान अधिकार हैं। जाति वर्ग, पेशा, जन्म अथवा विज्ञापन के आधार पर किसी को अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता क्षमता, कार्यकुशलता और अध्यवसाय को पूरी तरह आजमाने का अवसर मिलना अपेक्षित है।"[2] परन्तु महीपसिंह के क्रोध तथा बौखलाहट का कारण है कि वह "समाजवाद के आधारस्तम्भ समान अवसर और समानाधिकार"[3] को मान्यता नहीं देता, उसके सामन्तवादी अहं को यह समता स्वीकार्य नहीं है।

सुरेश सिन्हा के उपन्यास 'सुबह अँधेरे पथ पर' में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन की पुरानी मान्यताओं और आधुनिक जीवन-दर्शन का यथार्थ चित्रित किया गया है। लेखक ने सामाजिक समस्याओं को नूतन परिप्रेक्ष्य में चित्रित किया है। उपन्यास में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के काल में विभिन्न जीवन-दृष्टियाँ, राजनीतिक विचारधाराएँ, घटनाएँ एवं विघटनाएँ, आधुनिक सामाजिक आर्थिक एवं नैतिक तनाव तथा मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ एवं विघटन, राजनीतिक नारे तथा भाई-भतीजावाद वाली भारतीय डेमोक्रेसी, सभी कुछ एक विराट एल्बम की भाँति उपन्यास में एक के बाद एक उभरते चले जाते हैं।[4] उपन्यास में स्वातन्त्र्योत्तर भारत "अपनी विशेषताओं एवं कुरूपताओं के साथ हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। 'सुबह अँधेरे पथ पर' मानवीय विसंगतियों की वृहद् गाथा है।"[5]

युगीन उपन्यासकारों ने समाज के विकास के लिये समाजवादी समाज के लिये, समाज में पाई जाने वाली विविधताओं को चित्रित करके समता का प्रतिपादन किया है।

साम्यवादी दृष्टिकोण भी प्रजातन्त्र प्रणाली की देन है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों को महत्त्व दिया जाता है, दूसरे की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले को समाज क्षमा नहीं करता। भारत की प्रजातन्त्र शासन प्रणाली अपने लोकतान्त्रिक समाजवादी स्वरूप की सदैव घोषणा करती रही है, जिसमें कहा जाता है कि वह आर्थिक विषमताओं के उन्मूलन में रत है, परन्तु सुरेश सिन्हा के 'सुबह अँधेरे पथ पर' उपन्यास में चित्रित परमात्मा बाबू के जीवन की पग-पग पर आने वाली

---

१. रामदरश मिश्र–'जल टूटता हुआ' पृ० ५१५
२. डा० विजयेन्द्र स्नातक–'चिन्तन के क्षण', पृ० १०८.
३. वही, पृ० १०८.
४. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय–'हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ', पृ० ११३
५. वही पृ० ११३.

विषमताओं बाधाओं से हमारी इस स्वतन्त्रता का खोखलापन प्रकट होता है। मानव के स्वस्थ विकास के लिये सामाजिक 'व्यवस्था में परिवर्तन होना अत्यन्त आवश्यक है और मानवात्मा की पुनर्प्रतिष्ठा के लिये सचमुच एक क्रान्ति अनिवार्य है।"१ क्रांति से यह तात्पर्य नहीं कि सामाजिक विघटन हो जाए, वरन् सामाजिक व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन हो जहाँ केवल कथनी में ही नहीं करनी में भी साम्यवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन हो। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' में भी सामयिक राजनीति की सफलता विफलता का चित्रण है, जिसमें अन्तर्विरोधी स्थितियों का लेखक ने उद्घाटन किया है। उपन्यास में स्वतंत्र भारत अपनी सभी उपलब्धियों के साथ प्रतिध्वनित है।"२

प्रजातन्त्र की यह उदात्त भावना है कि वह समूहवादी न होकर मानववादी राज्य की व्यवस्था करता है, जो व्यक्ति और उसकी वाणी के स्वातन्त्र्य का प्रतिष्ठान करती है। प्रजातन्त्र का उदात्तीकरण तभी सम्भव होगा, जब व्यक्ति को विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। आज व्यक्ति का स्वयं का योगदान ही महत्त्वपूर्ण है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजीकरण के लिये व्यक्ति स्वतन्त्र्य, प्रजातन्त्र शासन प्रणाली का मूलभूत सिद्धान्त माना जाता है। आज जाति, परिवार, वर्ग आदि महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वरन् व्यक्ति की अपनी सामाजिक स्थिति महत्त्वपूर्ण है। इसीलिये आज एक हरिजन भी मन्त्री हो सकता है और उसके हाथ का छुआ खाकर, ब्राह्मण भी जाति से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता, फलतः प्रजातन्त्र प्रणाली में साम्य सभी के लिये अपेक्षित है और स्वतन्त्रता सभी का जन्मसिद्ध अधिकार है।

प्रजातन्त्र प्रणाली की यह विशेषता है, जिसमें व्यक्ति को विचारों, व्यवहारों के प्रकटीकरण में स्वतन्त्रता होती है। प्रजातन्त्र का आधार जनमत है, जिसमें प्रत्येक नागरिक को "इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह शासकीय दल की निर्भीकता से आलोचना कर सकता है और चाहे तो जनमत को प्रभावित कर उसे बदल भी सकता है। मत-प्रचार तथा मत वैभिन्य प्रकट करने की प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता है।"३ यही प्रजातन्त्र का समाजवादी स्वरूप है, जिसमें व्यक्ति निर्भीकता से अपना विकास कर सके और अपने योगदान से समाज में अपनी एक स्थिति बनाने की सुविधा प्राप्त कर सके। वह सुविधा प्रजातन्त्र प्रणाली की समाजवादी स्थापना में ही सम्भव है। मनुष्य-मनुष्य में अन्तर न मानकर सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं को मिटाना समाजवाद का ध्येय है।४

---

१ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ', पृ० ११८.

२. वही, पृ० १०८.

३ बृजभूषण सिंह 'आदर्श' – हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ० ५६५.

४ डा० विजयेन्द्र स्नातक – 'चिन्तन के क्षण', पृ० १०५.

(ग) व्यष्टि से समष्टि की ओर समाजवाद

व्यक्ति समाज की इकाई है उपन्यास जीवन की व्याख्या है और इस रूप में जीवन का महाकाव्य है।[1] प्रत्येक काल में समाज-दर्शन का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहा है। प्रत्येक देश के प्राचीन ऐतिहासिक काल में समाज-दर्शन का अस्तित्व अवश्य रहा है, भले ही वह प्रमुख विचार-दर्शन न रहा हो. उसका कारण युग की सीमा है। चण्डीप्रसाद जोशी के अनुसार 'सर्वोत्तम विचार-दर्शन हम उसे कह सकते हैं जहाँ मानव, समाज तथा व्यक्ति तीनों का केन्द्र मिल सके। जिससे स्वस्थ संस्कृति का निर्माण हो सके। यह तीन आदर्श बिन्दु हैं, इनमें संघर्ष तथा अन्तर्विरोध की स्थिति जितनी कम होगी उसे हम उतना ही स्वस्थ विचार दर्शन कह सकते हैं। हमने युग का प्रतिरूप मानव को स्वीकार किया है। युग शब्द विशाल परिवेश का द्योतक है, उसी तरह मानव भी विशाल समूह का द्योतक है।[2]"

प्रत्येक युग में व्यक्तिवादी विचार-दर्शन का स्वरूप भी भिन्न रहा है। प्राचीन युग में व्यक्तिवादी विचार-दर्शन का स्वरूप धार्मिक एवं आध्यात्मिक था लेकिन आधुनिक युग में समाज निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता घोषित करना उसका लक्ष्य हो गया है।[3]

जैनेन्द्रजी के उपन्यास कल्याणी में कल्याणी अपने बर्बर पति को सन्मार्ग पर लाने के लिये सत्याग्रह, उपवास, आत्मपीड़न सभी अस्त्र काम में लाती है, परन्तु पति आसानी से नहीं बदल पाता, फिर भी जैनेन्द्रजी गाँधी-दर्शन का समर्थन करते हैं। गाँधी-दर्शन को अपनाने का ढंग भी जैनेन्द्रजी का अपना है। वे आत्मपीड़ा-दर्शन तथा गाँधी-दर्शन में भेद नहीं मानते।

अब हिन्दी साहित्य में गाँधीवादी, मानवतावादी तथा समाजवादी विचार-दर्शन पाये जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द के मानवतावादी विचार-दर्शन की परिणति गाँधीजी में हुई और गाँधीवादी विचार-दर्शन का प्रभाव हमारे पिछले युग के सभी उपन्यासकारों पर पड़ा। तद्युगीन उपन्यासकारों की कृतियों में गाँधीवादी मान्यताओं को अधिक महत्त्व दिया गया। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'अचल मेरा कोई' में गाँधीजी के सत्याग्रह का आश्रय लेकर सुधाकर अपनी पत्नी का जीवन-दर्शन परिवर्तित करने का प्रयास करता है।

इस युग में उपन्यासकार, सामाजिक दुर्व्यवस्था में अभावों से पीड़ित मानव को वाणी देने के लिये प्रयत्नशील है तथा व्यक्ति को वैयक्तिक संकीर्णताओं से मुक्त

---

१. व्रजभूषण सिंह 'आदर्श' – 'हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ. ५५६.

२. चण्डीप्रसाद जोशी – हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ४४३

३. वही, पृ० ४४३.

कर्के सामान्य मनुष्यता के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिये प्रेरित करते हैं। व्यक्ति का निर्बाध वैयक्तिकता समष्टि के हितों के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। सामाजिक परम्परा के उपन्यासकार समाज-कल्याण अथवा समष्टि मंगल में ही व्यक्ति-हित की कल्पना करते हैं।

व्यक्तिवादी जीवनदर्शन का समावेश युग चेतना के अनुकूल विभिन्न उपन्यास-कारों ने किया है। भगवतीचरण वर्मा उपेन्द्रनाथ अश्क उदयशंकर भट्ट अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी आदि उपन्यासकारों ने व्यक्ति और समाज की समस्याओं को व्यक्ति के विकास की कसौटी पर कसा है। वर्मा जी के 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में क्रमश नैतिक सामाजिक राजनैतिक पृष्ठभूमि पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। 'चित्रलेखा' में उन्होंने पाप और पुण्य के प्रश्न का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से उत्तर दिया है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार भगवती बाबू में व्यक्ति और समाज के परस्पर संघर्ष की भावना निरन्तर विद्यमान रहती है।'[1] तीन वर्ष में धन की शक्ति, प्रेम के स्वरूप तथा पाप पुण्य का समाधान भी व्यक्तिवादी भूमि में दिया है तथा टेढ़े मेढ़े रास्ते में राजनैतिक विचारधाराओं का विश्लेषण, वैयक्तिक दृष्टिकोण से किया है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के पात्रों के जीवन का संघर्ष उनके वैयक्तिक विकास की समस्या है और इसीलिए समाज की विपरीत परिस्थितियों में भी संघर्षरत दिखाई देते हैं। 'गिरती दीवारें', गर्म राख' तथा 'बड़ी बड़ी आँखें' के पात्रों का संघर्ष वैयक्तिक है, जो निम्न मध्यवर्गीय समाज की विषमताओं की देन है।

उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'नये मोड़' तथा 'सागर लहरें और मनुष्य' में प्रेम का उदात्तीकरण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रतीक है परम्परागत विवाह प्रथा का खण्डन लेखक की व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रतीक है। वह मानवता के मूल्यों को अधिक महत्त्व देता है। इनके उपन्यासों में सामाजिक रूढ़ियों का व्यक्तिगत हितों के लिए विरोध किया गया है। 'नये मोड़' की डा० शेफाली तथा सागर लहरें और मनुष्य' की रत्ना द्वारा प्रेम तथा विवाह की समस्या को प्रतिपादित किया गया है। जिसमें लेखक, व्यक्ति की गरिमा को स्थापित करने का प्रयास करता है।

इलाचन्द्र जोशी के सभी पात्र अहंवादी और व्यक्तिवादी हैं। 'पर्दे की रानी' में वैयक्तिक तत्वों और मनोविश्लेषणात्मक प्रसंगों की विवेचना है।

अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' का शेखर घोर वैयक्तिकता से ओतप्रोत है। उसके सामान्य मानव व्यवहार भी असामान्यता लिये हुए हैं। वार्ष्णेय के अनुसार अज्ञेय ने इस अहं का उन्मूलन सामाजिक संस्कारशीलता में करने की चेष्टा की है।

---

1. डा० लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय – 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ', पृ० ६६

वे इसे मानव विकास में बाधक मानते हैं, इसलिए क्रमश: वैयक्तिक अपने निजत्व का विस्तार करता है।"[1]

उपन्यासों में समाज की विशिष्ट परिस्थितियों का चित्रण किया जाता है और सामाजिक समस्यामूलक, सामाजिक यथार्थमूलक भेद किये जाते हैं; परन्तु सामाजिक उपन्यासों की चेतना व्यक्ति सापेक्ष न होकर समाज सापेक्ष होती है, जिसमें व्यक्ति के अहम् का महत्व नहीं होता, सामाजिक उपलब्धि का महत्त्व होता है। प्रेमचन्दजी समाज की दृष्टि से व्यक्ति को आंकते थे। इनके उपन्यासों की मूल प्रेरणा समाज-कल्याण की भावना है जो आदर्शोन्मुखी है परन्तु प्रेमचन्दोत्तर काल में सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया जाने लगा, जिसमें 'समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों, उसके प्रत्येक आचार-विचार तथा उसकी राष्ट्रीय, आर्थिक एवं नैतिक अवस्थाओं का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर साहित्यकार करने लगे।"[2]

व्यक्ति समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है, परन्तु व्यक्ति ने अपने विकास के लिए कुछ प्रयत्न किये और उन्हीं प्रयत्नों की देन समाज है।[3] समाज के विकास के लिए व्यक्ति को समष्टि हित के लिये कुछ त्याग करना पड़ता है। यही कारण है कि भारत समष्टि हित के लिए अणुबम बनाने का सदा विरोध करता रहा है। विज्ञान ने मानव-जाति के विकास के लिए अनगिनत आविष्कार किए, परन्तु जहाँ मानव विकास के कल्याण की कामना की गई वहीं दूसरी ओर विनाशकारी उपलब्धियाँ भी प्राप्त की गई। हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराये गये अणुबम के विचार से हमारा समस्त हृदय काँप उठता है। इसीलिए समष्टि हित के लिए ऐसे घातक अस्त्रों का बहिष्कार अपेक्षित है।

भारत का प्राचीन काल से सामाजिक व्यवस्था में दृष्टिकोण, आत्म-कल्याण तथा सामाजिक-कल्याण की भावना को लिये हुए है। जनतंत्र प्रणाली के मूल में यही भावना प्रमुख है कि सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत विकास के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त हो सके।[4] व्यक्ति की सबसे प्रमुख आवश्यकता है व्यक्ति का विकास, परन्तु जहाँ व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहता है, वहीं दूसरी ओर 'परिवार, समाज और राष्ट्र में सम्मिलित होकर सभी के विकास से सम्बद्ध हो जाता है। किसी भी स्थिति में वह अपने को पृथक् नहीं कर सकता। व्यष्टि और समष्टि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक से दूसरे को अलग नहीं किया जा सकता। समष्टिगत भावना के कारण पुरुषों के अनुरूप नारी को भी मान्यता दी जाने लगी है। यशपाल

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ', पृ० ४६.
२. त्रिभुवनसिंह – हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', पृ० २३१.
३. सीताराम शर्मा – 'स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य' पृ० १८ (१९६४).
४. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' – 'हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ० ५०७.

का मत है 'समाजवादी संस्कृति में ही नारी के अस्तित्व को मान्यता दी जाती है। जहाँ पुरुष के लिए प्राप्य सभी अवसर नारी के लिए भी सुलभ होते हैं, वहाँ स्त्रियों को आपके देश की तरह केवल चौके और बिस्तरे के लिए उपयोगी बनाकर सुरक्षित नहीं रखा जाता।''[1] समाज के समाजवादी दृष्टिकोण के लिए स्त्री-पुरुष दोनों का सामाजीकरण अपेक्षित है, इसीलिए आज के समाजवादी समाज में दोनों के समानाधिकार हैं। 'झूठा सच' की तारा द्वारा एक निम्न मध्यवर्गीय लड़की के क्रमशः जागृत और आत्मसजग होने का प्रभाव सम्प्रेक्षित होता है।[2]

'झूठा सच' में नारी पात्रों में भावुकता, कल्पनाशीलता और कोमलता के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व में साहस, संयम और खुलेपन का ऐसा मिश्रण है जो उन्हें विशिष्टता देता है।[3] राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' में भी यही अभिव्यक्त किया है कि समाजवादी समाज के लिये स्त्री-पुरुष दोनों का समान स्तर होना आवश्यक है।

स्वाधीनता के बाद स्त्री-पुरुष समान धरातल पर कार्य करने के लिये स्वतंत्र है। समाजवाद की यह विशेषता है कि स्त्री-पुरुष दोनों सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक रंगमंच पर अपनी शिक्षा-दीक्षा का उचित उपयोग कर सकते है। यशपाल के नारी पात्र, पुरुषों के साथ कम्युनिस्ट पार्टी में कार्यरत हैं। 'दादा कामरेड' की शैल 'पार्टी कामरेड' की गीता, देशद्रोही' की यमुना और चन्दा तथा 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा साम्यवादी पार्टी की सदस्या होने के कारण पुरुषों के अनुरूप, साहस से कार्य करती हैं। अंचल के उपन्यास 'नयी इमारत' की नायिका आरती, धनी परिवार की प्राचीरों को लाँघ कर कांग्रेस पार्टी में भाग लेती है। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'जलूस' की पवित्रा, शरणार्थी जीवन की विषमताओं से जूझती हुई अपूर्व साहस का परिचय देती है। 'दीर्घतपा' उपन्यास की बेला और रमला बनर्जी भी अपने-अपने जीवन को सेवा-कार्य में लगा देती हैं। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सीधी सच्ची बातें' की कुलसुम धनाढ्य परिवार की लड़की है, फिर भी राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेती है, । आज स्त्री-पुरुष समान धरातल पर सभी क्षेत्रों में भाग लेते हैं, जिसमें जाति, धर्म, वर्ग किसी का आग्रह नहीं हैं। यह समाजवादी भावनाओं के कारण ही सम्भव है, जहाँ प्रत्येक व्यक्तित्व अपना महत्त्व रखता हैं। यही कारण है कि आज इन्दिरा गाँधी भी उसी दृढ़ता से देश की बागडोर सभाले हुए है जिससे नेहरू जी ने शासन किया था। 'स्वाधीनता के उपरान्त भारतीय उपन्यासों में एक नयी चेतना आयी और इस चेतना का प्रकाश इस रूप में दिखाई दे रहा है कि भारतीय उपन्यास मात्र व्यक्ति का चित्रण न रह कर समष्टि का चित्रण बनता जा रहा है।''[4]

---

१. यशपाल – 'बात बात की बात', पृ० ५५.
२. नेमीचन्द जैन – 'अधूरे साक्षात्कार', पृ० ७७
३. नेमीचन्द जैन – 'अधूरे साक्षात्कार', पृ० ७८-७९.
४. महेन्द्र चतुर्वेदी — 'हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण', पृ० १८८. (प्र० सं० १९६२.

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद 'भारत ने स्वतंत्र, सुखी और सम्पन्न भारत के नव-निर्माण का लक्ष्य घोषित किया–वर्गहीन, शोषणमुक्त, समाजवादी समाज व्यवस्था के निर्माण का लक्ष्य–जिसमें न वर्ग-वैषम्य होगा, न वर्ण असमानता, न जाति-पांति, न ऊँच-नीच; जिसमें हर व्यक्ति को न्याय, समानता, विकास करने को समान अवसर, शिक्षा काम और सुरक्षा का समान अधिकार होगा।" [१]

समाजवाद को साकार रूप देने के लिये सरकार ने कई दृढ़ कदम उठाये–जमींदारी उन्मूलन, राज्यों का विलीनीकरण छुआ-छूत समाप्ति के सम्बन्ध में कानून, बालिग मताधिकार, तलाक हिन्दू कोड बिल दहेज बिल, कई उद्योगों का राष्ट्रीकरण पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा सर्वमुखी विकास, हाल ही में बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा राजाओं के प्रिवीपर्स समाप्त करने का प्रयास आदि। समाजवादी समाज व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के सराहनीय प्रयास हैं। यद्यपि सरकार की नीति समाजवाद की स्थापना करना है, परन्तु फिर भी वह अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर पा रही है। जिसका कारण है कांग्रेस में हितों और विचारधाराओं का टकराव, जो गुटबाजी और प्रभुत्व स्थापना के लिये शक्ति-सन्तुलन और छल-प्रपंच जैसी प्रवृत्तियों को जन्म देता है।"[२] आज जनता में स्वाधीनता प्राप्ति के लिये जो राष्ट्रव्यापी एकता थी, उसका अभाव पाया जाता है; क्योंकि देश की आजादी सब का लक्ष्य था, जबकि आज कांग्रेस के अतिरिक्त अनेक पार्टियाँ हैं जिनके परस्पर विरोधी विचार हैं, राष्ट्र निर्माण की अलग-अलग नीतियाँ हैं और 'जनता में समाजवादी समाज की स्थापना के राष्ट्रीय लक्ष्य के प्रति अनेक भ्रम हैं।"[3] जनता स्वयं तय नहीं कर पा रही, किस प्रकार की व्यवस्था उसे सुखी बना पायेगी। कांग्रेस के निजी स्वार्थों को प्रश्रय देने की प्रवृत्ति के कारण जनता का इसमें स्वतन्त्रतापूर्व जैसा विश्वास नहीं रहा, परन्तु सरकार फिर भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास कर रही है और देश सामन्ती और पूँजीवादी दो समाज-व्यवस्थाओं को पार करके समाजवादी समाज की व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है।[४] जिसकी कल्पना राजीव ने अपने उपन्यास 'नया नगर की कहानी' में साकार करने का प्रयास किया है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'मुक्ति पथ' में राजीव और सुनन्दा, मुक्ति-निकेत की स्थापना करके समाज के विकास हेतु "समश्रम साधना को महत्त्व देते हैं, यह समाजवादी भावना सर्वोदय के सन्निकट है।" [५]

---

१ डा० रामगोपाल सिंह चौहान — स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, (१९६५), पृ० ३०.

२. वही, पृ० ३२.

३. वही, पृ० ३२

४ वही, पृ० ३६.

५. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' – हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन, पृ० २८७.

"भारतीय राजनीति को प्रमुखत दो विचारधाराओं ने प्रभावित किया–गांधी वाद तथा मार्क्सवाद ने। मार्क्स ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसे वैज्ञानिक समाजवाद, मार्क्सवाद और साम्यवाद जैसा विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। समाजवादी विचारधारा का अन्वेषण मार्क्स, प्लेटो, टामसमूर, हेरिंग्टन के ग्रालावा सैंट साइमन, राबर्ट ग्रोवेन और चार्ल्स फरिय जैसे अनेक विचारक का ऋणी है, क्योंकि किसी न किसी रूप मे उसने इन विद्वानो के विचारो से प्रेरणा ग्रहण की है।[1]

१६वी शताब्दी मे मार्क्स तथा एंजल्स ने समाजवाद का प्रतिपादन किया। 'रूस की विजय से एशियाई देश समाजवादी विचारधारा की ओर आकर्षित हुए। भारत मे १६२४ म साम्यवादी दल की स्थापना हुई। जिसका ध्येय समाज मे समता लाना है। यह पूंजीवाद का विरोधी है और समाज मे दो वर्गों को ही मान्यता देता है – शोषक तथा शोषित। दोनो अपने हितो के लिये संघर्ष करते हैं। यह वर्ग-संघर्ष मे हिंसा तथा क्रान्ति को अनैतिक नही मानता।"[2]

इसमे सन्देह नही कि लोकतात्रिक समाजवाद की स्थापना के मूल म समाज मे आर्थिक समता और वर्गविहीन समाज की स्थापना ही प्रमुख है। इस प्रकार के समाज के विषय में कार्ल मार्क्स ने आन्दोलन प्रारम्भ किया था। उन्होंने अपने विचार को पूंजीवाद के संघर्ष म बडे जोर से उठाया और आर्थिक समानता के लिये क्रान्ति का सन्देश दिया।"[3]

भारत मे समाजवादी धारा के दो स्वरूप मिलते हैं – एक का विकास कांग्रेस मे ही हुआ, जिसे नेहरू जी का भी समर्थन प्राप्त था और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी उसी विचारधारा की देन है। दूसरा रूप भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का है इनका भी ध्येय समाजवाद तथा साम्यवाद है, परन्तु दोनों का प्रेरणास्रोत मार्क्सवाद होने पर भी दृष्टिकोण में भिन्नता हैं। भारतीय साम्यवाद मार्क्सवाद का समर्थक है और पूंजीपति वर्ग का विरोधी तथा उत्पादन के साधनों पर समाज के एकाधिकार को मान्यता देता है।

रूस मे मार्क्सवाद के कारण समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई, जिससे प्रभावित होकर हिन्दी के उपन्यासकारो ने उसे अपने चिन्तन का विषय बनाया, जिसमे राहुल, यशपाल रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन आदि प्रमुख हैं। इनके उपन्यासो मे समाजवादी चेतना परिलक्षित होती है।

नागार्जुन के 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसरनाथ' तथा भैरवप्रसाद गुप्त के 'गंगा मैया' और 'सती मैया का चौरा' उपन्यासों मे आर्थिक वैषम्य और वर्ग संघर्ष का चित्रण है। भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल' तथा राजेन्द्र यादव के 'उखडे हुए लोग'

---

१. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' हिन्दी के राजनैतिक उपन्यासों का अनुशीलन, पृ० ५२८
२. वही, पृ० ५२८–२६
३. विजयेन्द्र स्नातक–'चिन्तन के क्षण', पृ० १०३ (१९६६)

मे मजदूर संघर्ष है। इन उपन्यासकारों का ध्येय आर्थिक वैषम्य को दूर करके समा
मे समता लाना है, जो समाजवादी समाज का लक्ष्य है। मानवता के विकास के लि
समाज का यह उदात्त स्वरूप अपेक्षित है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत औ
विष', रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ', भगवतीचरण वर्मा के 'सबहि नचाव
राम गोसाईं', सुरेन्द्र सिन्हा के 'सुबह अंधेरे पथ पर' मे गत दो दशाब्दियों मे स्वत
भारत मे आये नैराश्य का चित्रण है। जनता की स्वतन्त्रता-पूर्व जो कल्पना थी कि
उन्हें सभी प्रकार के शोषण से मुक्ति मिल जायेगी उस पर कुठाराघात हुआ। "य
एक ऐसे स्वप्नलोक का टूटना था, जो नितान्त अप्रत्याशित था, जिसने भारतीय जीव
की पूर्ण भावधारा को परिवर्तित कर दिया"[1], जिसमे लोगों मे नैराश्य बढ़ता गया
ऐसे वातावरण मे जहा निरन्तर तनाव, घुटन एवं पग-पग पर ठोकरें ही मिली है
मनुष्य की सारी सार्थकता अपने आप खण्डित हो जाती है।[2] इस सामाजिक परिप्रेक्ष
मे दो अन्तर्विरोधी स्थितियां उभरी हैं—एक मे तो अदम्य जिजीविषा तथा आत्म
विश्वास के साथ विरोधी स्थितियों का सामना करने की क्षमता है, दूसरी परिस्थिति
कुण्ठा और विघटन उत्पन्न करती है। "यह जीवन संघर्ष प्रत्यक्ष स्तर पर देखा ज
सकता है। यह सक्रियता एवं निष्क्रियता का, कर्मठता एवं दायित्वहीनता का संघ
है।"[3] उन विरोधी स्थितियों का चित्रण उपर्युक्त लेखकों ने आलोच्य उपन्यासों मे
किया है, जिनसे स्पष्ट होता है कि नई पीढ़ी आज की मानसिक अराजकता, भ्रष्टाचार
आडम्बरपूर्ण अकर्मण्यता के साथ समझौता नहीं करती है।"[4] उपन्यासों मे
आधुनिक जीवन के मानवीय पक्षों का सजीवता से अंकन है। 'जीवन के बदलते
चेहरे व्यापक परिप्रेक्ष्य मे देखे गये है।" उपर्युक्त उपन्यासों मे—समष्टि के कल्याण
के लिये, अन्धकार से प्रकाश मे जाने के लिए, नैराश्य मे जिजीविषा के लिए स्वतन्त्र
भारत की निरपेक्ष नीति के लिए—सामाजिक चित्र-फलक पर नई पीढ़ी का प्रति
निधित्व करने का प्रयास है। "सुरेश सिन्हा के उपन्यास 'सुबह अंधेरे पथ पर' मे
उपेक्षणीय व्यक्ति (परमात्मा बाबू) की प्रतिष्ठा का लेखक ने नई दिशा का संकेत किया
है "[5] समाजवाद की स्थापना मे इन युगीन लेखकों का योगदान सराहनीय है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानव परिवार की उदात्त भावना

"मानवता और विश्व-शान्ति के प्रति साहित्य का सामान्य उत्तरदायित्व
माना गया है। साहित्य मानव सम्बन्धों मे साम्यमयी स्थिति का प्रतिष्ठापन करना
है—...साहित्य का ध्येय मानव-मानव के पारस्परिक सम्बन्धों मे सुधार हो, जिससे

१. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'हिन्दी उपन्यास उपलब्धियां', पृ० ११०.
२. वही, पृ० ११२.
३. वही, पृ० १११.
४. वही, पृ० १०८
५. वही, पृ० १२३.

देश मे और देश के बाहर भी साम्यमयी स्थिति निर्मित हो, जिससे विश्वशांति की आधार पीठिका बने।"[1]

संचार और परिवहन के साधनो के कारण भौतिक दूरी नही रही। आज एक देश की समस्या का प्रभाव सभी देशों पर पडता है, इसलिये राष्ट्रीय अलगाव की भावना को विशाल मानव परिवार के हित के लिए समाप्त करना होगा और राष्ट्रीय सम्प्रभुता के सिद्धात के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय एकता के सिद्धात को अपनाना होगा।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीयता का ध्येय आत्मसम्मान और स्वशासनपूर्ण राष्ट्रो का एक ऐसा परिवार है जो समानता, शांति और आपसी सहयोग से एकता मे बँधा हो।[3] अपने देश तथा राष्ट्र के लिए निष्ठा रखते हुए दूसरे देशो के लिए सौहार्द्र की भावना होना आवश्यक है, नही तो जैसे पहले कहा गया है 'भेड़ियों की सी आक्रामक राष्ट्रीयता मानवता की शत्रु है।" समाजशास्त्रीय दृष्टि से जीवन के विकास के साथ सामुदायिक भावना का भी विकास होता है और आज विश्व-समुदाय की कल्पना की जा रही है, जिसमे देश, राष्ट्र की सकीर्णता से ऊपर उठ कर अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व कल्याण की कामना है। बोगार्डस के अनुसार समुदाय का विचार पडौस से आरम्भ होकर सम्पूर्ण विश्व तक पहुँच जाता है।[3] बाल्यकाल मे बच्चा पडौस के बच्चो में खेलता है, उनसे कई प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता है तथा दूसरे स्थानो के बच्चो के विरुद्ध अपने को सगठित करता है तभी उसमे सामुदायिक भावना का उद्रेक होता है। परिचय के विस्तार के साथ उसके सम्बन्ध सम्पूर्ण नगर के विभिन्न क्षेत्रों से हो जाते हैं और नगर उसका समुदाय हो जाता है। राजनीतिक सम्पर्कों के कारण सम्पूर्ण राज्य को सामुदय मानने लगता है। जागरुकता के कारण वह राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध जोडता है। इस प्रकार जीवन की प्रगति के साथ-साथ समुदाय का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय भावना मे विश्व-कल्याण की भावना निहित है। सामुदायिक भावना मे 'हम की भावना' (वी फीलिंग) होती है, जिसमे एक दूसरे के सुख-दु ख मे रुचि रखते हैं, मानसिक रूप से स्वय को दूसरों के निकट समझते हैं। हम सब एक हैं की भावना सामुदायिक भावना के परोक्ष मे रहती है। यही भावना विश्व को एक परिवार समझने मे सहायक होती है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि सामुदायिक भावना धीरे धीरे अपने सकीर्ण क्षेत्र से विकसित हो कर विश्व समुदाय की भावना (वर्ल्ड कम्युनिटी सेन्टीमेन्ट्स) का रूप धारण कर

---

१. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श'—हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासो का अनुशीलन, पृ० ५५१.

२. आशीर्वादम—'राजनीतिशास्त्र', पृ० ६१७

३. वही, पृ० ६१७.

४. ई० एस० बोगार्डस—'सोशियोलोजी', पृ० २२.

रही है। विश्व बन्धुत्व की भावना के साथ, सामुदायिक भावना के परम्परागत रूप में परिवर्तित हुआ है और इसमें विश्व-समुदाय की भावना का उद्रेक हुआ। विलियम लाएड्ड गेरीसन का कहना है कि पूरा संसार हमारा देश है, मानवमात्र हमारे देशवासी हैं, हम दूसरे देशों की धरती को इतना ही प्यार करते हैं जितना अपनी राष्ट्रीयता की धरती को।[१]

अठारहवीं शताब्दी में इमानुअल काण्ट ने अपने निबन्ध 'टुवर्ड्ज़ इटरनल पीस' के लिए संघीय स्थापना पर योजना बनाई। काण्ट ने विश्व नागरिकता का समर्थन किया।

बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रसंघ की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में प्रगति का महत्त्वपूर्ण चरण है। जनमत अन्तर्राष्ट्रीयता की महत्ता को अनुभव कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानव-कल्याण की सहज विचारधारा को आधुनिक काल में अधिक बल दिया जा रहा है। राष्ट्रसंघ (लीग आव् नेशन्स) की स्थापना जनवरी १९२० में हुई, जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाना और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखना था। भारत इस संघ का सदस्य है और विश्व-बन्धुत्व में आस्था रखता है। 'हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों में राजनीतिक विचारधाराओं को ग्रहण कर सामूहिक चेतना को व्यापक राष्ट्रीयता के धरातल पर अभिव्यक्ति देने का क्रम चला। व्यापक राष्ट्रीयता से तात्पर्य विश्व-बन्धुत्व से है। समाजवाद और गाँधीवाद दोनों व्यापक राष्ट्रीयता को अपना लक्ष्य मानते हैं और इस स्तर पर उपन्यास सांस्कृतिक चेतना के उत्थान का वाहक बन उसका समर्थक और कभी-कभी उसका मार्गदर्शक भी बनता है।[२] परन्तु हिन्दी उपन्यासों में अन्तर्राष्ट्रीयता की पीठिका पर लिखे उपन्यासों का अभाव-सा है। राष्ट्रीय चेतना को तो फिर भी कुछ सीमा तक अभिव्यक्ति मिली है। यशपाल, अंचल, भगवतीचरण वर्मा नागार्जुन आदि ने राष्ट्रीय आन्दोलन को चित्रित किया है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ध्वनित नहीं होती।

समाजशास्त्रीय आधार पर भावात्मक तथा मानवतावाद का चरम अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर ही सम्भव है। गाँधीवाद तथा समाजवाद के सिद्धान्तों तथा उनके उच्च आदर्शों, जिनमें जन-मानस का कल्याण निहित है, अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के उदात्तीकरण में ही सम्भव है। आशा है युगीन उपन्यासकार राष्ट्रीयता का मोह त्याग कर अन्तर्राष्ट्रीयता को विश्व-बन्धुत्व तथा मानव-कल्याण के लिये अपने लेखन का विषय बनायेंगे। जिससे विश्व सद्भावना तथा मैत्री के सहारे एक परिवारात्मकता की भावना लेकर अग्रसर हो सकें। उषा प्रियम्वदा के उपन्यास 'रुकोगी नहीं राधिका' में राधिका का विदेशी पत्रकार डैन की ओर आकर्षण और उसके साथ विवाहसूत्र में

१. आशीर्वादम् – 'राजनीतिशास्त्र', पृ० ६१८.

२. डा० ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' – 'हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन', पृ० ५५३.

बंधने की इच्छा अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री की भावना की द्योतक है। भारतीय आचार-विचार संस्कृति एक परम्परा से सम्पृक्त होने पर भी यह मोह उसे बांधते नहीं। पिता के आपत्ति करने पर भी उस यह सम्बन्ध स्वीकार है और वह उसके साथ विदेश चली जाती है, परन्तु उसका अपने प्रति निष्ठावान न पाकर लौट आती है। यह उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की विशिष्टता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री तथा विश्व-परिवार की भावना के प्रति लेखिका ने कहीं न्यूनता नहीं दिखाई। भारतीय लेखक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं से प्रभावित होते रहे हैं। मार्क्स तथा फ्रायड सर्वत्र छाये हुए है। आंचलिक उपन्यासों में भी नागार्जुन तथा उदयशंकर भट्ट 'वरुण के बेटे' तथा 'सागर लहरें तथा मनुष्य' में हेमिंग्वे के उपन्यास 'द ओल्ड मैन एण्ड द सी' के मछुओं के जीवन से प्रभावित हैं।"१ बौद्धिक उन्मेष ने मानव को वैज्ञानिक दृष्टि दी है। उपन्यासकार समाज के जीवन में प्राय घटने वाली घटनाओं का उपन्यास के परीक्षण पात्र में रखकर यह दिखाना चाहता है कि किस प्रकार इन घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है या समाज के नये अनुभव कैसी नई विचारधारा को जन्म देते है।"२ तार्किक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने मानव को विशाल दृष्टि दे दिया है। वह व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख हुआ। सभ्यता के आधार पर वह समस्त विश्व में बन्धुत्व की स्थापना का चिन्तन करने लगा। विश्व-बन्धुत्व की भावना भारत के लिए नवीन नहीं है। आदि काल से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अमोघ मंत्र हम सुनते आये है। बुद्ध ने भी विश्व को एक सूत्र में बांधने का अभूतपूर्व प्रयास किया। समय-समय पर भारत में विदेशी यात्रियों का आगमन हमारी विश्व मैत्री का प्रतीक है, परन्तु आज के भौतिकवादी युग की रेल-पेल में विश्व की समाजशास्त्रीय आधार पर परिवार के रूप में परिकल्पना, जिसे समाजशास्त्र में परिवारात्मकता (फैमिलिज्म) कहा है, अपनाना मंगलकारी प्रयास है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने उपन्यास 'उदयास्त' में विश्व सरकार, समानता का समर्थन किया है, जो अन्तर्राष्ट्रीयता की उदात्त भावना का द्योतक है। लेखक ने स्वामी के माध्यम से विश्व-समाज की कामना की है, जिसका आधार प्रेम और कर्त्तव्य है।"३

---

१. डा० बेचन—'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास', पृ० २४५.
२ यशपाल—देखा, सोचा, समझा, पृ० १०१.
३. आचार्य चतुरसेन शास्त्री—'उदयास्त' पृ० ७६.

उपसंहार

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास साहित्य ने अभूतपूर्व प्रगति की है, जिसमें भारतीय जन-जीवन विविध रूपों में मुखरित हुआ है। स्वतन्त्र भारत में समता के आधार पर व्यक्ति स्वयं अपने निर्माण के लिये स्वतन्त्र है इसलिये आपसी सम्बन्धों में परिवर्तन आया; वर्गविहीन, शोषण-मुक्त समाजवादी समाज की स्थापना की घोषणा राष्ट्र का भी लक्ष्य बनी। इस परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अमृतलाल नागर ने जिस प्रकार अपने उपन्यास 'बूँद और समुद्र' में लिखा है—"हर बूँद का महत्त्व है, क्योंकि वही तो अनन्त सागर है।"[1] इसी प्रकार हर व्यक्ति का महत्त्व है। उपन्यास में बूँद व्यक्ति का प्रतीक है, समुद्र समाज का। लेखक ने व्यक्तिवाद और समष्टिवाद के तन्तुओं से उपन्यास का ताना-बाना संगुम्फित किया है।[2] उसने यह दर्शाया है कि व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है और समाज द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण, जैसे "बूँद से बूँद जुड़ी रहती है, लहरों से लहरें, लहरों से समुद्र बनता है—इस तरह बूँद में समुद्र समाया है।"[3] लेखक ने इस प्रकार व्यष्टि के समन्वय की चिरन्तन समस्या का अंकन किया है।

जिस प्रकार बूँद और समुद्र अभिन्न हैं उसी प्रकार व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं। फलतः परिवर्तित सामाजिक परिवेश तथा व्यक्ति की उद्भावनाओं को औपन्यासिक चित्र-फलक पर चित्रित करने का युगीन उपन्यासकारों ने प्रयास किया है।

प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास में, आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी समाज का चित्रण है, जिनमें परम्पराओं का आग्रह अधिक है। उपन्यासों में समाज के समग्र रूप का चित्रण तो है, परन्तु समाजशास्त्रीय धुरी पर सामाजिक अन्तःक्रियाओं की प्रतिक्रिया की ओर लेखकों का ध्यान नहीं गया था।

स्वतन्त्रतापूर्वक उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता था। सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए कई समाज-

---

1. अमृतलाल नागर—'बूँद और समुद्र', पृ० ३८८.
2. डा॰ सुरेश सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास', पृ॰ ५०६.
3. अमृतलाल नागर—'बूँद और समुद्र', पृ० ६०६.

सुधारक प्रयत्नशील थे, पीड़ित तथा शोषित वर्ग के उद्धार के लिए वे सतत् प्रयासरत थे। शिक्षा के द्वारा तथा सुधारवादी आन्दोलन के कारण नारी का भी दृष्टिकोण विस्तृत हुआ, वह भी समाज और राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व को समझने लगी। उन्नीस सौ इक्कीस में पहली बार स्त्रियों ने बहुत बड़ी संख्या में असहयोग आन्दोलन में सहयोग दिया तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भी उन्होंने भाग लिया। वह भी खद्दर पहनने लगी, भाषण देने लगी, ब्रिटिश राज्य के नृशंस अत्याचारों का सामना करती हुई राष्ट्रीय आन्दोलन को सफल बनाने में सहायक सिद्ध हुई।

तत्कालीन उपन्यासों में प्राचीन आदर्शों की ओट में नारी प्रपीड़न का चित्रण किया गया, परन्तु स्वतन्त्रता के निकटवर्ती उपन्यासों में बदलते सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिवेश ने साहित्यकारों की चिन्तनधारा को विशेष रूप से प्रभावित किया जिससे सभ्यता के आधार पर पुरुष के अनुरूप नारी के सन्दर्भ में भी उपन्यासकारों ने सोचना प्रारम्भ किया।

युगीन परिस्थितियों ने परम्परागत जीवन-मूल्यों पर प्रभाव डाला, पुराने मूल्य अनुपयोगी सिद्ध होने लगे और नवीन मूल्यों की स्थापना नहीं हो पाई थी। ऐसी सक्रमणकालीन स्थिति का चित्रण स्वतन्त्रता के निकटवर्ती उपन्यासों में स्वरित है। पुरुष-नारी के सम्बन्धों में विचित्र स्पर्धा चल रही थी। पुरुष, नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अपनाने के लिए तैयार नहीं था, उसकी सन्देहालु प्रवृत्ति और सकुचित मनोभाव नारी को उसके प्रभुत्व से विमुक्त नहीं होने देते थे। वह अपने अहं के कारण कुण्ठित और क्षुब्ध हो गया। दूसरी ओर, सदियों से संस्कार जटित नारी भी नई परिस्थितियों में अपना अनुकूलन करने में कठिनाई अनुभव कर रही थी। वह घर से निकल कर घर के लिए चिंतित थी। इस घरे-बाहरे के द्वन्द्व को सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने चित्रित किया। डा० सुरेश सिन्हा के अनुसार "जैनेन्द्र बाहर के नहीं, व्यक्ति के अन्तर मन के कलाकार हैं।"[1] परन्तु आधुनिक उपन्यासकारों ने पुरुष के अनुरूप नारी को भी कमठ तथा सजग रूप में अवतरित किया है।

मार्क्स तथा फ्रायड से प्रभावित उपन्यासकारों ने मानव मन की गहराइयों को समझने का प्रयास किया। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अश्क, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने पात्रों के व्यक्तित्व को विकसित करने का प्रयास किया। समाजशास्त्रीय दृष्टि से एक और महत्त्वपूर्ण प्रयास यह हुआ कि उपन्यासों में निम्न-मध्यवर्गीय समाज का चित्रण किया जाने लगा, जिसमें जीवन और समाज के साथ व्यक्ति की समस्याओं एवं प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण किया जाने लगा।[2] व्यक्तित्व का भेद कर अन्तर्मन में प्रविष्ट हो, उपन्यासकार समस्त कुण्ठाओं वर्जनाओं का चित्रण करने लगे, जिससे परम्परा का मोह शिथिल हो

---

१. डा० सुरेश सिन्हा – 'हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास', पृ० ३६४.
२. वही पृ० ४०१.

गया। भौतिकवादी यंत्रयुग ने मान-मूल्यों पर गहरा प्रहार किया। जहाँ एक ओर जातिवाद, धर्म धन, संकीर्णता के घेरे से व्यक्ति मुक्त हुआ, वहाँ दूसरी ओर आपसी सम्बन्ध अर्थमूलक हो गये और समस्त प्राचीन मूल्य समाप्त हो गये। सम्बन्धों का उदात्त स्वरूप अदृश्य होने लगा।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक के उपन्यासों में चित्रित मानव-जीवन प्राचीन मान-मूल्यों से भिन्न तो है, परन्तु हमारे सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण इसमें स्थगित है। "उपन्यास साहित्य न नये साँचे में ढले नर-नारी प्रस्तुत कर विधाता के भर्तकर्तृत्व की समकक्षता की है। मध्यमवर्गीय समाज की पीठिका में वह अधोगति, कूपमण्डूकता और अन्धविश्वास के प्रति विद्रोह का साक्षात् प्रतीक और भावी मानव-जाति का भाग्यविधाता बना।"[1] फलतः आधुनिक उपन्यासों में समाज की सामाजिकता का ही चित्रण नहीं है, वरन् समाजशास्त्रीय अनुशीलन से ज्ञात होता है कि "जीवन की अनेकता में एकता तथा अपूर्णता में समग्रता स्थापित करने का उपन्यासकार प्रयास करता है।"[2] इसलिए आधुनिक उपन्यासों में सामाजिक अन्तःक्रियाओं का सफल चित्रण है, जो हिन्दी उपन्यास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

सामाजिक परिवर्तन से उत्पन्न नवीन मान-मूल्यों का व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका निरूपण भी उपन्यासकार करता है। युगीन जीवन की विविधता की स्पन्दन इसके विराट कैन्वास पर अभिव्यक्ति पाता है। जीवन की विविध समस्याओं की स्पष्ट करने का प्रयास प्रेमचन्दजी ने किया—"उन्होंने हिन्दी उपन्यास को कल्पना से यथार्थ की ओर मोड़ कर जीवन के अधिक निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया।"[3] इनके उपन्यासों में यथार्थ जीवन को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। प्रेमचन्दजी की सशक्त परम्परा निरन्तर गतिशील रही, जिसके दर्शन यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, नागार्जुन, रेणु आदि के उपन्यासों में होते हैं। यह परम्परा युगीन परिस्थितियों के भाव-बोध के साथ विकसित होती रहेगी, क्योंकि प्रेमचन्दजी का जीवन के सभी रूपों के प्रति राग था। उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी, इसीलिए उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व भी। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवसाय आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं उतने और किसी में नहीं।"[4] सामाजिकता का चित्रण करने वाले उपन्यासकारों के अतिरिक्त व्यक्तिपरक चिन्तनधारा के उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को अपनी रचनाओं में महत्त्व दिया, जिसमें जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी प्रमुख हैं। जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' में मृणाल का

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ', पृ० ११.
२. वही, पृ० ११.
३. वही, पृ० १८.
४. डा० नगेन्द्र—'आस्था के चरण', पृ० ४५२

मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण किया है जिसमें जीवनगत घात-प्रतिघातों का सूक्ष्म अंकन परिलक्षित होता है। लेखक ने मृणाल के माध्यम से अनमेल विवाह, नारी की आर्थिक परतन्त्रता के कारण दुर्गति आदि सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है।

अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में सामाजिक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए दर्शाया है कि "सांसारिक सम्बन्धों की सीमा-मर्यादाओं में घुटकर मरने की पीडा को सभी सहते हैं, किन्तु इन रूढ़ियों से छूट कर अलग जा पड़ने पर स्वातन्त्र्य की खोज कितने लोग कर पाते हैं।"[1] परन्तु उनके शशि शेखर रूढ़ियों से मुक्त होकर स्वतन्त्रता की खोज में लगे हैं। "जिस नैतिक व्यवस्था से ये दोनों पात्र जूझ रहे हैं, वह परतन्त्रता में से होकर फूटती है। भावना और करना तो समझ में आता है किन्तु न मानना और भय के प्रलोभन से करना परतन्त्रता में ही जीना है। अधिकांश समाज इसी शास्त्रनिष्ठ जडता में जीता है। यह विरोधी प्रवृत्ति शशि-शेखर के आगे चुनौती है, जिसे स्वीकार कर पात्र अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिये संघर्षशील है।"[2] फलतः पाश्चात्य से प्रभावित उपन्यासकारों ने समाज को ही नहीं वरन् व्यक्ति तथा उसकी मूल-प्रवृत्तियों को भी महत्त्व देना प्रारम्भ किया। साथ ही प्राचीन मान्यताओं, रूढ़ियों को नकार कर सम्बन्धों की नवीन अवधारणाएँ प्रकाशित की।

स्वाधीनता के पश्चात् मानव के समक्ष कई समस्याएँ आईं, राष्ट्र के जन-जीवन में सामाजिक विघटन परिलक्षित होने लगा, जिससे न केवल आर्थिक व्यवस्था ही विशृंखलित हुई, वरन् हिन्दू मुस्लिम के मध्य विभाजन-रेखा ने द्वेष, घृणा, वैमनस्य की भावना भर दी। ऐसे समय में उपन्यासकारों ने सामाजिक यथार्थ का चित्रण कर मानव की जिजीविषा को दृढ़ता प्रदान करने का प्रयास किया।

समाज परिवर्तनशील है, स्थिरता जडता का चिह्न है और साहित्य इस परिवर्तनशील समाज का बिम्ब है। प्रत्येक युग की अपनी मान्यताएँ रही हैं, इसी से विभिन्न युगों में भिन्न भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती रही है। नवीन युग के साथ नवीन विचारधारा जन्म लेती है। नवीन मानव-मूल्य स्थापित होते हैं, परन्तु ये सामाजिक मूल्य जीर्ण वस्तुओं की तरह बदले नहीं जा सकते, क्योंकि ये व्यक्ति और समाज के जीवन में इस तरह घुल मिल जाते हैं कि ऊपर से देखकर जानकारी प्राप्त करना कठिन होता है, परन्तु इनका प्रभाव बना रहता है। साहित्य के आदर्श अपेक्षित रूप से परिवर्तित होते रहते हैं। इनमें कोई विभाजक-रेखा खींचना कठिन है कि कब कौन-सा आदर्श विलीन हुआ और कब आरम्भ हुआ? मानव अपने व्यक्तिगत जीवन की धारणाओं और संस्कारों के अनुसार मान-मूल्यों और आदर्शों का आचरण करता है। जिस किसी भाव में जीवन की गरिमा का "अनुभव कर हम उसे अपना लेते हैं उसी की प्राप्ति में कभी-कभी हम अपने व्यक्तिगत सुखों तक का भी बलिदान कर

१. डा० विजयेन्द्र स्नातक—'चिन्तन के क्षण', पृ० १२५.
२ वही, पृ० १२६

प्रमत्र होते हैं।"[1] व्यक्ति के मन में विभिन्न भावों के घात-प्रतिघात की हलचल मची रहती है और वह प्रयत्न करने पर भी उस घेरे से निकल नहीं पाता। मानव मन के भावों में जटिल वैचित्र्य पाया जाता है, वह सभी समय एक समान नहीं बना रह सकता। अन्तर्जगत का परिवर्तन मानव के बाह्य रूप में भी परिवर्तन लाता है। जिन भावों की प्रेरणा से वह कार्य करता है वे अन्य लोगों की दृष्टि में आवश्यक नहीं कि उचित हों, क्योंकि समाज बाहरी जीवन से व्यक्ति का मूल्यांकन करता है, उपन्यासकार बाह्य जीवन के साथ-साथ अन्तर्जगत का भी उद्घाटन करता है। शरत् बाबू के 'देवदास' का जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल का नरेश मेहता के 'वह पथ बन्धु था' के श्रीधर का, अन्तर्जगत ही यथार्थ है, जिसके दर्शन हमारे मन को वहीं छू जाते हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज के सम-विषम दोनों पक्षों का सन्तुलित चित्रण होना चाहिए। मानव के अन्तर्जगत और बाह्य जगत दोनों का प्रकटीकरण आवश्यक है। विषमताओं के अंक में पल्लवित मानव की मुक्ति का संदेश उपन्यासकार तभी दे सकता है, जब जन-जीवन की कहानी सच्ची कहानी हो, जिसका जीवन्त चित्र विभिन्न प्रकार के सामाजिक धरातल पर चित्रित करने की उसमें क्षमता हो।

प्रत्येक उपन्यास में-चाहे वह राजनीतिक हो, ऐतिहासिक हो, मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक हो—समाज निहित रहता है। इस सदर्भ में समाज का अर्थ सामान्य अर्थ से तनिक भिन्न है। समाज का यदि साधारण अर्थ लेते हैं तो व्यक्तियों के समूह को लोग समाज कहते हैं और प्रत्येक उपन्यास किसी न किसी रूप में व्यक्तियों से सम्बन्धित रहता है इसलिए समाज उसमें निहित रहता है परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज का अर्थ व्यक्तियों का समूह नहीं है, बल्कि उनके अन्त: सम्बन्धों की संज्ञा समाज है, जिसे मैकाइवर तथा पेज ने 'अवेयरनेस' कहा है। "सम्बन्धों की पारस्परिक जागरूकता समाज के लिए आवश्यक है।"[2]

उपन्यास के माध्यम से सामाजिक और साहित्यिक युग परम्पराओं को रूपायित किया जाता है। व्यक्ति के कृत्यों का समाज पर प्रभाव पड़ता है, साथ ही व्यक्ति के निर्माण और व्यक्तित्व के विकास में समाज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति को समाज से अलग नहीं रखा जा सकता—दोनों विशिष्ट हैं, दोनों महत्त्वपूर्ण हैं, दोनों का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। अतः युग चेतना से ओत-प्रोत उपन्यासों का समाजशास्त्रीय परिशीलन जीवन की समग्रता को प्रकाशित करने में सहायक है। फलत: साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की समीचीनता स्वयंसिद्ध है।

१. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—'हिन्दी कथा साहित्य', पृ० १००.

२. मैकाइवर तथा पेज-'सोसायटी', पृ० ६.

ग्रंथानुक्रमणिका

शोध-प्रबन्ध मे विवेचित उपन्यासो की सूची

पुस्तक	लेखक	संस्करण	वर्ष
महाकाल	अमृतलाल नागर	प्रथम वि०	२००४
सुहाग के नूपुर	,,	,,	
बूँद और समुद्र	,,	,,	१९५६
अमृत और विष	,,	,,	१९६६
सात घूँघट वाला मुखडा (पाकेट बुक)	,,	,,	१९६९
नदी के द्वीप	अज्ञेय	तृतीय	१९६०
अपने अपने अजनबी	,,		१९६१
शेखर : एक जीवनी	,,		
बीज	अमृतराय	द्वितीय	१९५६
नई इमारत	अंचल		१९४७
चढती धूप	,,		१९४५
अधखिला फूल	अयोध्यासिंह उपाध्याय		
ठेठ हिन्दी का ठाठ	,,		
तुम उद्धार करो हम प्यार करें	ओमीलाल इलाहाबादी	द्वितीय संशोधित संस्करण	
प्रेत और छाया	इलाचन्द्र जोशी	द्वितीय	२००४ वि०
जहाज का पंछी	,,		१९५५
निर्वासित	,,		
सन्यासी	,,		१९४१
जिप्सी	,,		
ऋतु चक्र	,,		१९६९
पर्दे की रानी	,,		
मुक्ति पथ	,,		
त्याग का भोग	,,		१९६७
वचन का मोल	उषा देवी मित्रा		१९३६
नष्ट नीड	,,	द्वितीय	१९७०
पिया	,,		१९३७
सागर लहरें और मनुष्य	उदयशंकर भट्ट	दूसरा	१९६६
डा० शेफाली (नये मोड़)			[illegible]

घेरे के बाहर	द्वारिकाप्रसाद	तीसरा	१९४७
पथ की खोज (भाग १)	देवराज	प्रथम	१९५१
,, (भाग २)	,,		१९५१
रोड़े और पत्थर	,,		
अजय की डायरी	,,		१९६०
बाहर भीतर	,,	प्रथम	१९५४
सूरज का सातवा घोड़ा	धर्मवीर भारती	,,	१९५२
गुनाहो का देवता	,,	,,	१९४६
यह पथ बन्धु था	नरेश मेहता		१९६२
दो एकान्त	,,		१९६०
धूमकेतु एक श्रुति	,,		१९६२
डूबते मस्तूल	,,		१९५४
नदी यशस्वी है	,,		१९६७
बलचनमा	नागार्जुन		१९५२
नईपौध	,,		१९५७
वरुण के बेटे	,,		१९५७
उग्रतारा	,,		१९६३
बाबा बटेसर नाथ	,,		१९५४
दुखमोचन	,,		१९५७
रतिनाथ की चाची	,,		१९४८
वे दिन	निर्मल वर्मा	प्रथम	१९६४
रगभूमि	प्रेमचन्द		
कर्मभूमि	,,		१९६५
सेवासदन	,,	वर्तमान	१९६२
प्रेमाश्रम	,,		१९३२
गबन	,,		१९५०
निर्मला	,,	बारवा	१९६६
गोदान	,,	बारवा सस्करण	
साचा	प्रभाकर माचवे	प्रथम	१९५५
द्वाभा	,,	द्वितीय	१९५७
परन्तु	,,		
एक तारा	,,		१९५२
मैला आंचल	फणीश्वरनाथ रेणु		१९५४
जुलूम	,,		१९६५
परती : परिकथा	,,		१९५७

दीर्घतपा	फणीश्वरनाथ रेणु		१६६३
भरण्यवाला	बृजनन्दन सहाय		१६२१
सूनी राह	भगवतीप्रसाद वाजपेयी		२०१३ वि०
निमत्रण	,,	तृतीय	१६६१
यथार्थ से आगे	,,		
चलते चलते	,,		१६५१
पतिता की साधना	भगवतीप्रसाद वाजपेयी		१९३६
चित्रलेखा	भगवतीचरण वर्मा		१६३४
तीन वर्ष	,,		१६४६
टेढे मेढे रास्ते	,,	तीसरा	वी० २०११
सामर्थ और सीमा	,,	द्वि	१६५५
रेखा	,,		१६६४
सीधी सच्ची बातें	,,	प्रथम	१६६८
भूले बिसरे चित्र	,,		१६५६
सबहि नचावत रामगोसाईं	,,	प्रथम	१६७०
गगा मैया	भैरवप्रसाद गुप्त	द्वि	१६६०
सती मैया का चौरा	,,		१६५६
मशाल	,,		१६५१
झरोखे	भीष्म सहानी		१६६७
सागर सगम	मन्मथनाथ गुप्त		१६६२
रैन अंधेरी	,,		१६५६
अंधेरे बन्द कमरे	मोहन राकेश		१६६१
न आने वाला कल	,,		१९६८
सेतु बध	मनोज बसु		१६६६
	(रूपान्तरकार हसकुमार तिवारी)		
दिव्या	यशपाल	पाकेट बुक	१६६६
द दा कामरेड	,,	सातवां	१६६५
मनुष्य के रूप	,,		१६६४
झूठा सच (वतन और देश)	,,		१६५८
,, (देश का भविष्य)	,,		१६६०
पार्टी कामरेड	,,	प्रथम	१९४६
इन्सान	यज्ञदत्त		
नदी बहती थी	राजकमल चौधरी		१९६१
मछली मरी हुई	,,		१६६६
नये नगर की कहानी	रावीजी	दूसरा	१६६६

चलता हुआ लावा	रमेश बक्षी	प्रथम	१९६८
किस्से ऊपर किस्सा	,,	,,	१९६३
बैसाखियों वाली इमारत	,	,,	१९६६
उखड़े हुए लोग	राजेन्द्र यादव		१९५६
शह और मात	,,	प्रथम	१९५९
प्रेत बोलते है	,,		१९५२
कुलटा	,,		१९५८
एक इन्च मुस्कान	राजेन्द्र यादव एव मन्नू भंडारी		१९६३
पानी बिच मीन प्यासी	राघवेन्द्र मिश्र		१९६१
हुजूर	रांगेय राघव		१९५२
घरौंदे	,,		१९४६
मुर्दों का टीला	,,		१९४८
विषाद मठ	,,		
कब तक पुकारूं			
जल टूटता हुआ	रामदरश मिश्र	प्रथम	१९६९
सिंह सेनापति	राहुल सांकृत्यायन	प्रथम	१९५७
मधुर स्वप्न	,,	,	१९५०
विस्मृत यात्री	,,	,,	१९५५
जय यौधेय	,,	,,	१९५६
एक चादर मैली सी	राजेन्द्रसिंह बेदी	पाकेट बुक	१९६८
जाड़े की धूप	रजनी पनिकर		१९५८
मोम के मोती	,,		१९६०
दस द्वीप	रमेश उपाध्याय		१९७०
रूपा जीवा	लक्ष्मीनारायण लाल	प्रथम	१९५९
मन वृन्दावन	,	,,	१९६६
धरती की आँखें	,,		१९५१
बया का घोंसला और साँप	,,		१९५३
काले फूल का पौधा	,,	प्रथम वि०	२०१२
छोटी चम्पा बड़ी चम्पा	,		१९६१
खाली कुर्सी की आत्मा	लक्ष्मीकान्त वर्मा	प्रथम	१९५८
एक कटी हुई जिन्दगी	,,		१९६४
एक कटा हुआ कागज			
आदर्श हिन्दू	लज्जाराम	,,	१९०४
आदर्श दम्पत्ति	,		१९०४
मृग नयनी	वृन्दावनलाल वर्मा	आठवां	१९७०

झांसी की रानी	वृन्दावनलाल वर्मा		१९४६
अचल मेरा कोई	,,		१९४८
अमर बेल	,,		१९५३
प्रेम की भेंट	,,		१९६१
बेगम मेरी विश्वास	विमल मित्र		
प्यासा पानी	विमला रैना		१९६५
चौदह फेरे	शिवानी	प्रथम	१९६५
कृष्ण कली	,,	,,	१९६९
किस्सा नर्मदा बेन गंगुबाई	शैलेश मटियानी		
एक मुट्ठी मरसों	,,		१९६३
कबूतरखाना	,,		१८६०
चौरंगी	शंकर		१९६४
आदमी और कीड़े	,,		
मेरा मन वनवास दिया सा	शान्ति जोशी		१९६६
परीक्षा गुरु	श्रीनिवास दास	नवीन संस्करण	१९५९
राग दरबारी	श्रीलाल शुक्ल	प्रथम	१९६८
निरुपमा	निराला		१९३६
अप्सरा	,,		१९३१
बिल्लेसुर बकरिहा	,,		१९४१
धर्म के नाम पर	कन्हैयालाल ओझा	प्रथम	१९६३
सिन्धु सीमान्त	,,		
सुबह अंधेरे पथ पर	सुरेश सिन्हा		१९६६
नदी फिर बह चली	हिमांशु श्रीवास्तव		१९६१

हिन्दी के आलोचनात्मक ग्रंथ

अरविन्द गट्टू	हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग.	प्रथम	१९६६
इन्द्रनाथ मदान	प्रेमचन्द : एक विवेचन	,,	१९५५
,	आज का हिन्दी उपन्यास		१९५६
इलाचन्द्र जोशी	विश्लेषण		१९५४
,,	विवेचना		
,,	साहित्य चिन्तन		१९५५
कान्ति वर्मा	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास		१९६६
डा० श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य का विकास		
चण्डीप्रसाद जोशी	हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन		१९६२
जैनेन्द्र	विचार और अनुभूति		१९४४

जैनेद्र	साहित्य का श्रेय और प्रेय		१९५३
देवराज उपाध्याय	कथा के तत्व		१९५७
,,	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान		१९५६
दशरथ ओझा	समीक्षा शास्त्र		१९५५
नन्ददुलारे वाजपेयी	नया साहित्य नये प्रश्न		१९५९
,,	हिन्दी साहित्य की बीसवी शताब्दी		
,,	प्रेमचन्द साहित्य विवेचन		१९५६
डा० नगेन्द्र	विचार और विवेचन		१९४९
डा० ,,	विचार और अनुभूति	चतुर्थ	१९६४
डा० ,,	आस्था के चरण		१९६८
नेमीचन्द्र जैन	अधूरे साक्षात्कार		१९६६
पदुमलाल पन्नालाल बख्शी	हिन्दी कथा साहित्य		१९५४
पद्मा अग्रवाल	मनोविज्ञान और मानसिक क्रियाएं		१९५५
प्रेमचन्द	कुछ विचार		१९६१
प्रेम भटनागर	इलाचन्द्र जोशी साहित्य और समीक्षा		१९५९
प्रतापनारायण टंडन	हिन्दी उपन्यास कला		१९६५
डा० बिन्दू अग्रवाल	हिन्दी उपन्यास मे नारी चित्रण		१९६८
डा० नगेन्द्र	विचार और विश्लेषण		१९५५
ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श'	हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन		१९७०
भगवतशरण उपाध्याय	विश्व साहित्य की रूपरेखा		१९५७
महेन्द्र चतुर्वेदी	हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण	प्रथम	१९६१
डा० महेन्द्र भटनागर	समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द		
यशपाल	बात बात मे बात	दूसरा	१९५४
,,	चक्कर क्लब		
,,	देखा, सोचा, समझा		१९५१
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास		२०२० वि०
डा० रामविलास	भारतेन्दु युग	तृतीय	१९५६
डा० ,,	प्रेमचन्द और उनका युग		
डा० ,,	प्रगति और परम्परा		१९३९
डा० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	हिन्दी गद्य के निर्माता प० बालकृष्ण भट्ट		१९५८ प्रथम.
रामदरश मिश्र	हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा		१९६८
रामरतन भटनागर	जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा		१९५८
रामगोपालसिंह चौहान	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास	प्रथम	१९६५

लक्ष्मीकान्त सिन्हा	हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास		१९६६
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	सातवाँ	१९७६
,,	हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ	प्रथम	१९७०
विजयेन्द्र स्नातक	समीक्षात्मक निबन्ध	द्वितीय	१९६६
,,	चिन्तन के क्षण	प्रथम	१९६६
शिवनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी उपन्यास		
शिवरानी प्रेमचन्द	प्रेमचन्द घर में		१९५६
डा० शैलकुमारी	आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना		१९५१
एम० एन० श्रीनिवास (अनुवाद नेमीचन्द जैन)	आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन		१९६७
शान्ति भारद्वाज	हिन्दी उपन्यास : प्रेम और जीवन		
डा० सुरेश सिन्हा	हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास	प्र०	१९६५
डा० सुषमा धवन	हिन्दी उपन्यास	प्रथम	१९६१
सीताराम शर्मा	स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य		१९६५
डा० सुखदेव शुक्ल	हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता		१९६६
डा० सत्येन्द्र	हिन्दी उपन्यास विवेचन	प्रथम	१९६८
क्षेमचन्द्र सुमन	साहित्य विवेचन		१९५२
सत्यपाल चुघ	ग्राम्या के प्रहरी		१९७०
हंसराज रहबर	प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन		१९६६
डा० त्रिभुवन सिंह	हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद		२०२२ वि०

पत्र पत्रिकाएँ :—

१) साहित्य सन्देश, २) आलोचना,
३) धर्मयुग, ४) साप्ताहिक हिन्दुस्तान,
५) समालोचक, ६) इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया,
७) माध्यम ८) प्रतीक
९) बिन्दु, १०) वातायन।

समाज शास्त्र के तथा आलोचनात्मक ग्रन्थ

Altaker .... The Position of Women in Hindu Civilization, 1956.

A M' Rose ... Sociology The study of Human Relation, New York, 1956.

Ashirvadam ... Rajniti, Reprinted, 1970

Biesanz J. Biesanz M ... Modern Society · An Introduction to Social Science, 1954

H Burgess E W and Lock H. S. ... The Family, 1950.

F N Balsara .... Sociology, 1957

Burges and Lock .... The Family from Institution to Championship 2nd Ed., 1953

Bertrand Russell .... The Impact of Science on Society, 1952.

Charles Winick .... Dictionary of Anthropology

D. N. Majumdar .... Races and Cultures of India, 1958.

Elliott and Merrill .. Social Disorganization, 4th Ed 1961

Encyclopaedia Britannica, ... Vol. XIV 14th Ed, 1938.

G S Ghurye .... Caste Class and occupation, 1961

A. W. Green .... Sociology, 1952

Gillin and Gillin .... Cultural Sociology

G. P. Murdock. .... Social Structure, 1949

I. P Desai .... The Joint Family of India An–Analysis in Sociological Bulletin, Vol V, 1956

K. M. Paniker .. Hindu Society at Cross Road, 1955

K. M. Kapadia .... Marriage and Family in India 3rd Ed, 1966.

Kingsley Davis .. Human Society, 1956

K L Daftari .... The Social Institution in Ancient India, 1947

Lenin Mark Engale .. Marxis Foreign Languages, 1950

Mac iver R. M and Page C. H ... Society, 1962

Max Weber ... The Theory of Economic Organization

Neera Desai ... Women in Modern India, 1957.

Ogburn and Nimkaff .. A Hand Book of Sociology. 1947.

O. Mallay ... Modern India at the West, 1941.

P. H. Prabhu ... Hindu Social Organization, 4th Ed, 1963.

R. K. Mukerji ... Principles of Comparative Economics, 1959.

Robert L. Sutherland and J. L. Woodward ... Introductory Sociology.

Ray E. Baker ... Marriage and Family, 1953.

Ralph De Pomerai ... Marriage Past, Present and Future, 1930.

Ravindra Nath Mukerjee ... Bhartiya Janata Tatha Sansthai, 2nd Ed., 1962.

Rampal Singh Gaur Samaj Shastra ka Parichaya, 3rd Ed, 1966.

Rambihari Singh Tomar ... Parivarik Samaj Shastra, 1st Ed, 1960.

S. C. Dube ... India's Changing Villages, 1958.

P. A. Sorokin ... Society, Culture and Personality, 1947.

Sutherland and Cressey ... Principles of Criminology, 5th Ed, 1955.

Westermark ... The History of Human Marriage, Vol. I.

W. F. Will Cox ... The Urban Community.

W. G. Sumner ... Folkway, 1960.